चंद्रशेखर वेंकट रमन : एक अलौकिक जीवन

©विज्ञान भारती 2022

प्रथम संस्करण अगस्त 2022

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी भाग (हिस्से) को पूरी तरह या आंशिक रूप से पुनः प्रकाशित नहीं किया जा सकता, ना ही किसी पुनर्प्राप्ति प्रणाली में संग्रहित किया जा सकता है या इलेक्ट्रॉनिक, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग माध्यम से किसी को प्रेषित किया जा सकता है। अनुमति के संबंधमें जानकारी के लिए विज्ञान भारती को निम्न पते पर लिखें:

ईमेल आईडी : vijnanabharati@gmail.com

संपर्क: +91-011- 49032436

मूल्य रुपए - 100/-

आईएसबीएन: 9899615277

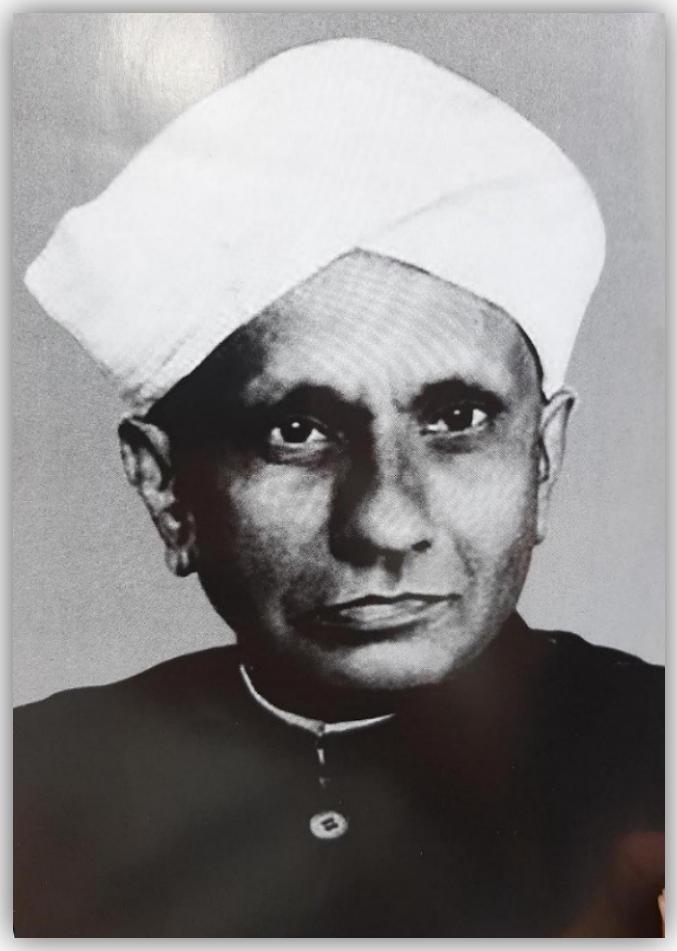

हमें जीत की भावना चाहिए, एक ऐसी भावना जो हमें इस ग्रह पर हमारे सही गंतव्य पर ले जाएगी। अगर एक ऐसी अदम्य भावना हमारे अंदर जागृत होती है तो कोई भी हमें हमारे वास्तविक भाग्य को प्राप्त करने से नहीं रोक सकता।

प्रो. चंद्रशेखर वेंकट रमन

प्रकाशक:

भारती विज्ञान
ए-4, प्रथम तल, गुलमोहर पार्क,
अगस्त क्रांति मार्ग,
नई दिल्ली – 110049
ईमेल आईडी : vijnanabharati@gmail.com
संपर्क: +91-011- 49032436

लेखक

डॉ. चंद्र मोहन नौटियाल

संपादक मंडल

डॉ. अरविंद चंद्रकांत रानडे
राष्ट्रीय प्रधान संयोजक, वीवीएम
डॉ. ब्रजेश पांडेय
परीक्षा नियंत्रक, वीवीएम
डॉ. विष्णु कृष्णाजी वज़े
विषय-वस्तु समन्वयक, वीवीएम

रूपरेखा

श्री राज कुमार

विषय-वस्तु तालिका

क्रम संख्या	विषय-वस्तु/अध्याय	पृष्ठ संख्या
i	आमुख	i – iii
ii	संपादकीय	iv – vi
1	प्राक्कथन	1 – 4
2	सी वी रमन का बचपन एवं परिवार	5 – 8
3	शिक्षा	9 – 15
4	कलकत्ता में शोध एवं रमन प्रभाव	16 – 30
5	बेंगलुरू में नया निवास एवं रमन : संस्थाओं के निर्माता एवं प्रतिभाओं के प्रोत्साहक	31 – 33
6	रमन प्रभाव के प्रभाव : रमन प्रभाव के बृहत्तर उपयोग	34 – 40
7	सारांश एवं शिक्षा	41 – 51
8	परिशिष्ट	52 – 55
9	संदर्भ	56

आमुख

मुझे अच्छी तरह से याद है जब 23 नवंबर 1970 (सोमवार के दिन) सुबह, प्रार्थना के समय हमारे विद्यालय के तत्कालीन प्रधानाचार्य श्री बी. एस. गुप्ता ने घोषणा की कि भारत रत्न सी. वी. रमन का 21 नवंबर को निधन हो गया। उस समय हम रमन के काम के बारे में इतनी जानकारी नहीं थी पर भारत रत्न और नोबेल पुरस्कार प्राप्त किसी वैज्ञानिक की महानता को आसानी से समझ सकते थे। उनके निधन की खबर को समाचार पत्रों और रेडियो के माध्यम से प्रमुखता से प्रसारित किया गया था (उन दिनों टेलिविज़न भारत में नया-नया ही आया था और वस्तुतः दिल्ली तक ही सीमित था)। बाद में मैंने अपनी पत्रिका के लिए उनके जीवन पर आधारित एक लेख भी लिखा था।

मुझे प्रो. सी. वी. रमन से व्यक्तिगत रूप से मिलने का सौभाग्य नहीं मिला। इसलिए मैंने इस पुस्तक को प्रो. पी आर पिशारोती, डॉ. जी वेंकटरमन, डॉ. एस भगवंतम और डॉ. एस रामाशेषन जैसे लोगों द्वारा जो उनके बारे में लिखा है, या उन लोगों के साथ मेरी बातचीत के आधार पर लिखा है जिन्हें वह जानते थे। जो लोग उनके बारे में अधिक जानने की रुचि रखते हैं मैं उनको संदर्भ में सूचीबद्ध सामग्री को पढ़ने की सलाह देता हूँ। मैंने साइंस रिपोर्टर जैसी कई पत्रिकाओं से भी उनसे संबंधित जानकारी इक्कट्ठा की है। इस विषय पर गोरखपुर और इंदौर विश्वविद्यालयों के पूर्व उप कुलपति स्वर्गीय प्रो. देवेंद्र शर्मा से मेरी अच्छी बातचीत हुई थी। प्रो. रमन उनकी पीएचडी लेख के परीक्षक थे (यद्यपि वह मौखिक परीक्षा लेने इलाहाबाद नहीं आए)। प्रो. शर्मा के पास रमन के बारे में बताने के लिए कई बातें थीं।

रमन एक सशक्त व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे जिसमें शायद दयालुता और मजबूती का अनूठा मिश्रण था। कभी-कभी ऐसे तेजस्वी व्यक्तियों से कुछ किस्से जुड़ जाते हैं जिनका सत्यापन करना कठिन होता है। इस पुस्तक को लिखते समय मुझे ऑलड़ेनवर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी से संबंधितडॉ. राजेंद्र सिंह द्वारा लिखे

शोध पत्रों को पढ़ने का अवसर भी मिला, मैंने उसमें से कुछ दिलचस्प टिप्पणियों को भी इस पुस्तक में समाहित करने की कोशिश की है। अतः स्वाभाविक है की यहाँ मौलिकता का दावा नहीं किया जा सकता।

रुड़की विश्वविद्यालय (जिसे अब आईआईटी रुड़की के नाम से जाना जाता है) से एमएससी (भौतिकी) की उपाधि हासिल करने के पश्चात मैंने वर्ष 1977 में भौतिक अनुसंधान प्रयोगशाला (पीआरएल), अहमदाबाद को एक शोध छात्र के रूप में प्रवेश लिया और वहाँ मुझे पद्मभूषण प्रो. के आर रामानाथन और पद्मश्री प्रो. पी आर पिशारोती जी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ जो उस समय पीआरएल में सेवामुक्त प्राध्यापक थे। प्रो. रामानाथन रमन के पहले विद्यार्थी थे और पीआरएल के प्रथम निदेशक भी थे। उनका चयन भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम के जनक एवं पीआरएल के संस्थापक प्रो. विक्रम ए साराभाई ने स्वयं किया था। रंगून (म्यांमार) में कार्यरत होने के बाद भी अक्सर रामानाथन को अपने खर्चे पर रमन की प्रयोगशाला में काम करने के लिए कलकत्ता आने-जाने के लिए जाना जाता था। प्रो. पिशारोती रमन के इन दो विद्यार्थियों से छोटे तथा अधिक बातचीत करने वाले थे। यद्यपि मैं पीआरएल में कुछ महीने बिता चुका फिर भी मैं यह नहीं जानता था कि यह दो बड़े बुजुर्ग आदमी प्रो. रमन के छात्र थे। वास्तव में, पीआरएल में अपना शोध क्षेत्र चुनने से संबंधित सलाह लेने के लिए में प्रो. पिशारोती से ही मिला था। वह दोनों बहुत ही दयालु व्यक्ति थे और पीआरएल के अंदर एवं बाहर लोग उनका बहुत सम्मान करते थे।

समय के साथ-साथ हम रमन के कार्य के बारे में धीरे-धीरे सीखते हुए बड़े हुए और यह भी कि कैसे इसने विज्ञान एवं उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया और कैसे समय के साथ भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, उद्योग एवं अन्य क्षेत्रों में इसका उपयोग बढ़ता गया।

विज्ञान भारती और विद्यार्थी विज्ञान मंथन से संबंधडॉ. अरविंद सी रानडे, डॉ. ब्रजेश पांडेय एवं डॉ. विष्णु के. वज़े के निमंत्रण और लगातार पुस्तक लिखने के अनुरोध को याद दिलाते रहने के कारण ही मैंइस पुस्तक को लिख पाया हूँ। मैं श्री महेश चंद्र शर्मा, भारतीय विज्ञान अकादमी, बेंगलुरू; श्री पी के मिश्रा, भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी और मेरे मित्र प्रो. पी पी पाठक का अंतर्मन की गहराइयों से धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने संबद्ध साहित्य को एकत्र करने या मुझे सुझाव देकर मेरी मदद की।

रमन के समय कई जगहों/स्थानों के नाम अलग तरह से लिखे जाते थे। उदाहरण के लिए उन दिनों त्रिचनोपोली कहे जाने वाले स्थान को आजकल तिरुचिरापल्ली, तिरुची या फिर त्रिची कहा जाता है। उसके बाद कई राज्यों का भी पुनर्गठन किया गया है। कभी-कभी अलग-अलग लोगों के नाम भी भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखे जाते हैं। संशय की स्तिथि में पाठक इंटरनेट पर इससे संबंधित जानकारी खोज सकते हैं

रमन जैसे लोग कम ही दिखाई देते हैं। उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं से सीखने के लिए बहुत कुछ है। हर किसी को सभी सकरात्मक सबक लेकर अपना रचनात्मक पथ अपनाना चाहिए। स्वतंत्रता के 75 वर्ष पूर्ण होने पर यह पुस्तक आधुनिक ऋषियों अर्थात वैज्ञानिकों को समर्पित है जो अपने तरीके से स्वतंत्रता सेनानी थे। वे भारतीय विज्ञान एवं आधुनिक भारत के शिल्पकार थे और उन्होंने वैश्विक स्तर पर भारत के आत्मसम्मान को उस समय और बढ़ाया जब राष्ट्र को इसकी सबसे ज्यादा आवश्यकता थी।

(डॉ.) चंद्र मोहन नौटियाल

संपादकीय

भारत के पास विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की समृद्ध विरासत है। भले ही वो बहुत पहले शून्य (0) की खोज हो या आधुनिक समय में 100 से अधिक उपग्रहों का अंतरिक्ष में प्रक्षेपण हो, हमारे वैज्ञानिकों ने यह सब सफलतापूर्वक किया है। दुर्भाग्य से हमारे गौरवशाली इतिहास को बहुत पहले से ही भुला दिया गया है। प्राचीन काल से ही भारत के पास विज्ञान और प्रौद्योगिकी की एक महान विरासत है जिसके बारे में युवा पीढ़ी को बताना एवं जानकारी देना आवश्यक है। हमें भारत के ऐसे गुमनाम नायकों की कहानियों को उजागर करने की आवश्यकता है। हमें **'चंद्रशेखर वेंकट रमन : एक अलौकिक जीवन'** शीर्षक पुस्तक को प्रस्तुत करते हुए खुशी हो रही है।

चंद्रशेखर वेंकट रमन एक महान वैज्ञानिक थे जिन्होंने भारत को विश्व के वैज्ञानिक मानचित्र पर पहचान दिलाई। उन्होंने भारत में कई शोध संस्थानों और संगठनों के निर्माण एवं आकार देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने 'इंडियन जर्नल ऑफ फिज़िक्स' की भी शुरुआत की। वर्ष 1986 को, भारत सरकार ने रमन प्रभाव की खोज की घोषणा का स्मरण करने के लिए 28 फरवरी को राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के रूप में घोषित किया था। एक कहानी है कि वर्ष 1901 में स्नातक परीक्षा में प्रथम स्थान मिलने के बाद रमन के शिक्षकों ने उन्हें भारतीय लोक सेवा (आईसीएस) परीक्षा में प्रतिस्पर्धा करने के लिए इंग्लैंड जाने की सलाह दी। जब वहाँ वह चिकित्सीय परीक्षा में असफल हो गए तो इंग्लैंड के दरवाजे उनके लिए बंद हो गए। उस समय उन्हें जो राहत मिली उसे उन्होंने यह कह कर व्यक्त किया कि, "मैं इस व्यक्ति (चिकित्सा अधिकारी) का हमेशा आभारी रहूंगा।" यह दर्शाता है कि रमन भारत से बहुत अधिक जुड़े हुए थे और आईसीएस में अंग्रेजोंकी सेवा नहीं करना चाहते थे, या हो सकता है कि पहले से ही उन्हें शैक्षणिक क्षेत्र में रुचि हो।

जहां तक विद्यार्थी विज्ञान मंथन की पहल का संबंध है, हम विज्ञान भारतीके राष्ट्रीय आयोजन सचिव श्री जयंत सहस्रबुद्धे जी को उनके निरंतर समर्थन और मार्गदर्शन के लिए धन्यवाद देते हैं। उनकी भागीदारी और काम करने की कुशलता ने पुस्तक की गुणवत्ता में सुधार किया है। हमें विश्वास है कि विद्यार्थी और अभिभावक इस पुस्तक के लेखक डॉ. सी. एम. नौटियाल जोकि उत्कृष्ट विज्ञान संचारक एवं वैज्ञानिक भी हैं की कड़ी मेहनत की सराहना करेंगे। इस पुस्तक में ऐसे कई तथ्य और कहानियां हैं जो रोचक और उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक के संपादकों के तौर पर हमारे लिए यह एक बहुत ही अच्छा अनुभव था। सामग्री के बारे मेंचर्चा, लेखन का रूप और लिखित अवधारणाओं की व्याख्या आदि करना एक सुखद परिश्रम था।

विज्ञान भारती ऐसे मूल योगदानकर्ताओं और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उनके योगदान को सबसे आगे लाने का प्रयास जारी रखेगी; ताकि हर भारतीय को भारतीय वैज्ञानिक विरासत पर गर्व महसूस हो। वीवीएम के मूलभूत मंडल का सदस्य होने के नाते हम यह चाहते हैं कि यह पुस्तक केवल विद्यार्थिओं के लिए मात्र अध्ययन सामग्री न बने बल्कि भारत के समस्त लोग भी इसका अध्ययन करें।

हमें यह बताते हुए हर्ष हो रहा है कि विज्ञान भारती द्वारा इस पुस्तक का भाषांतर एवं प्रकाशन अंग्रेजी के साथ-साथ भारत की 11 आधिकारिक भाषाओं में किया जा रहा है, ताकि भारत के कोने-कोने में इस पाठ्य-सामग्री की पहुँच सुनिश्चित हो सके।

विद्यार्थी विज्ञान मंथन का उद्देश्य केवल युवा प्रतिभाओं में विज्ञान जिज्ञासु विद्यार्थिओं की खोज करना ही नहीं अपितु युवा पीढ़ी मेंवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास एवं पोषण करना भी है। इस उद्देश्य को पूरा करने के

लिए वीवीएम विद्यार्थिओं को भारतीय मूल के ऐसे वैज्ञानिकों के जीवन और उपलब्धियों के बारे में अवगत करवाता है जो ज्यादातर भारत में ही रहे एवं यहीं रह कर अपना काम किया। हमें आशा है कि इन वैज्ञानिकों के बारे में पढ़कर युवा विद्यार्थिओं को प्रेरणा मिलेगी और उनका ध्यान अपनी मातृभूमि और इसके बेटे-बेटियों की उपलब्धियों पर केंद्रित होगा।

जय हिन्द जय भारत !

डॉ. विष्णु के. वज़े	डॉ. ब्रजेश पांडेय	डॉ. अरविंद सी. रानडे
विषय-वस्तु संपादक	परीक्षा नियंत्रक	राष्ट्रीय महासंयोजक

1. परिचय

वैज्ञानिक प्रवृत्ति के सही अर्थ की उचित समझ एवं उसकी प्रशंसा के लिए, विज्ञान की प्रत्येक शाखा के इतिहास और उस ऐतिहासिक विकास में योगदान देने वाले वैज्ञानिकों की जीवनी का अध्ययन करना आवश्यक है।"

अखिल भारतीय रेडियो पर 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' पर प्रोफेसर चंद्रशेखर वेंकट रमन के व्याख्यान का एक अंश।

भारत में वैज्ञानिक परंपराएं प्राचीन हैं।

हर कोई इस बात से सहमत होगा की भारतीयों को ग्रहों के सूर्य के इर्द-गिर्द घूमने वाली सौर प्रणाली (पृथ्वी सहित सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं), 'पाई' का मान क्या है, दशमलव प्रणाली की अवधारणा, अनंत समीकरणों के समाधान आदि की जानकारी कोपरनिक्स और यूरोप या अन्य जगहों के अन्य लोगों को इसके बारे में पता लगने से कम से कम एक हजार साल पहले से ही थी। इनमें न केवल आर्यभट्ट I या II भास्कर I और II, ब्रह्मगुप्त, लल्ला, वातेश्वर, श्रीधर, श्रीपति, माधव बल्कि और भी कई अन्य विद्वान इसमें शामिल हैं। और यह प्रगति केवल गणित और खगोल विज्ञान तक ही सीमित नहीं थी। वास्तुकला, आयुर्वेद, रसायन विज्ञान और धातु विज्ञान में भी भारत पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत अधिक उन्नत था। समुद्र और थल मार्गों से व्यापार दूर-दूर तक फैला हुआ होने के कारण समृद्धि भी अपने चरम पर थी।

लेकिन गुलामी की लंबी अवधि के दौरान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहुत कम प्रगति हुई। फिर भी बीसवीं सदी की शुरुआत के साथ, भारत में एक नए युग का उदय हुआ - एक तरह का पुनरुद्धार। लेकिन उस समय, जिसे काव्यात्मक रूप से 'ब्रह्मांडीय संयोग कहा जा सकता है, वैज्ञानिकों का उदय हुआ जिन्होंने विज्ञान की दुनिया को प्रबुद्ध किया। जगदीश चंद्र बोस (जन्म 1858), प्रफुल्लचंद्र राय (जन्म 1861), श्रीनिवास रामानुजन (जन्म 1887), चंद्रशेखर वेंकट रमन (जन्म 1888), बीरबल साहनी (जन्म 1891), मेघनाद साहा (जन्म 1893), सत्येंद्रनाथ बोस (जन्म 1894) और कई अन्य वैज्ञानिकों ने भारतीय समझ / बुद्धि के प्रति बहुत सम्मान अर्जित किया।

रमन का जीवन असाधारण था और ऐसा कई कारणों से हुआ। इनमें से कुछ जाने, कुछ अनजाने और कुछ, बहुत काम जाने-पहचाने थे। इनमें कई लोग, संस्थाएं और पुस्तकें भी शामिल थीं। इस पुस्तक के पीछे की अवधारणा रमन की प्रेरक कहानी बताना और उनके कार्यों के बारे में जानकारी देना है। उम्मीद है, कि अपर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध होने के बाद भी उनकी कहानी छात्रों को अपने लक्ष्य निर्धारित करने और उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रेरित करेगी।

प्रख्यात अंतरिक्षविज्ञान शास्त्री एवं रमन के छात्र प्रोफेसर पी. आर. पिशारोती ने एक बार हमें एक कहानी सुनाई थी। यह इस बारे में थी कि 1 किलोवाट की एक्स-रे मशीन पर एक प्रयोगशाला में काम करने वाला एक छात्र कैसे खुद को अलग-थलग महसूस करता था। रमन ने यह देखा और पूछा, ऐसा क्यों? निराश छात्र ने कहा कि ब्रिटेन में कोई व्यक्ति 5 kW की एक्स-रे मशीन पर काम कर रहा है। रमन ने उसे सलाह दी कि, 'तो 10 किलोवाट का दिमाग इस्तेमाल करो!' ऐसे थे रमन।

रमन का सबसे प्रसिद्ध कार्य जाधवपुर, कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में स्थित इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस (आईएसीएस) में किया गया था, जिसकी स्थापना सन् 1876 में एक चिकित्सक डॉ. महेंद्र लाल सरकार ने की थी। सन् 1907 में रमन के कोलकाता पहुंचने से तीन साल पहले ही डॉ. सरकार का निधन हो गया था लेकिन डॉ. सरकार ने पहले ही रमन के कार्य का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

डॉ. सरकार एक दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने कहा था, *"हम एक ऐसा संगठन चाहते हैं जो यह रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ लंदन और ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस के चरित्र, अवसर और उद्देश्यों को एक कर सके। हम एक ऐसा संगठन चाहते हैं जो जनसाधारण को शिक्षित करेगा, जहां वैज्ञानिक विषयों पर व्यवस्थित तरीके से व्याख्यान दिए जाएंगे और व्याख्याताओं द्वारा वैज्ञानिक प्रयोग केवल प्रदर्शित ही नहीं किए जाएंगे, बल्कि दर्शकों को भी आमंत्रित किया जाएगा और स्वयं भी इन्हें करना सिखाया जाएगा। और हमारी ऐसी इच्छा है कि यह संगठन पूरी तरह से स्वदेशी प्रबंधन और नियंत्रण में हो।''*

रमन वर्ष 1907 से वर्ष 1933 तक के लंबे समय तक आईएसीएस से जुड़े रहे (अन्य जगहों पर भी थोड़े समय के लिए)। जब वे पहली बार आईएसीएस से जुड़े तो उन्हें वैज्ञानिक के रूप में नहीं बल्कि 'सहायक महालेखाकार' के रूप में नियुक्त किया गया था। उन्होंने संस्थान में केवल अपनी रुचि के कारण शोध कार्य किया। उनका योगदान शोध तक ही सीमित नहीं था एक पालित प्राध्यापक के तौर पर वह एमएससी के

छात्रों को भी पढ़ाते थे, जबकि उनको ऐसा करने की आवश्यकता नहीं थी। उनका इतना ही योगदान एक ऐसा विद्यालय बनाने में भी था जहां से बहुत से बुद्धिमान वैज्ञानिक निकले जिन्होंने बाद में न केवल नाम और प्रसिद्धि प्राप्त की बल्कि खुद को एक अच्छा मार्गदर्शक भी साबित किया। रमन ने लगभग 150 छात्रों को शोध के लिए प्रेरित किया था।

विश्व का इतिहास इस बात का गवाह है कि केवल वे देश ही शीर्ष पर पहुंचे जिन्होंने विज्ञान और प्रौद्योगिकी में उत्कृष्ट प्रदर्शन किया। इसलिए इसमें कोई विवाद नहीं है कि भारत को अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देना चाहिए। हम अब ज्ञान के युग में हैं, जिसमें ज्ञान शक्ति में बदल जाता है। यह विज्ञान और प्रौद्योगिकी है जो हमें पोषण देगी, हमें सशक्त बनाएगी और हमारे आत्म-सम्मान को भी बढ़ाएगी।

रमन उन लोगों में से एक थे जो देश में ही ज्ञान के उत्पादन की संस्कृति के पक्षधर थे। वह मुंह में चांदी का चम्मच लेकर पैदा नहीं हुए थे। वे मेहनत करके ऊपर आए थे और वह इस बात का एक आदर्श उदाहरण थे कि बुद्धि, एकाग्रता और कड़ी मेहनत से क्या प्राप्त किया जा सकता है। रमन प्रभाव की खोज के लिए रमन के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए भारत में हर साल 28 फरवरी को राष्ट्रीय विज्ञान दिवस मनाया जाता है। कुछ लोग इस प्रभाव को रमन-कृष्णन प्रभाव कहते हैं, क्योंकि इस कार्य में उनके शिष्य के. एस. कृष्णन का भी योगदान था।

विज्ञान की दुनिया में, जब लोग नए शोध प्रकाशित करते हैं, तो वे ऐसे शोध का भी उल्लेख करते हैं जो उनके लिए उपयोगी रहा हो, इसे 'उद्धरण' कहते हैं। अक्सर अग्रणी अनुसंधान और प्रमुख खोजों को 'सिद्ध' करने की प्रक्रिया समय के साथ धीमी हो जाती है। लेकिन रमन प्रभाव के साथ ऐसा नहीं हुआ। लगातार पांच साल या फिर उससे भी अधिक समय तक इसे सिद्ध करने का सिलसिला आगे बढ़ता रहा। और फिर यह धीमा हो गया। और फिर 1960 के आसपास जब एकवर्णी रंग के प्रकाश पैदा करने वाले लेज़र (प्रकाश प्रवर्धन द्वारा विकिरण का प्रेरित उत्सर्जन) स्रोत उपलब्ध हो गए तो इस कार्य ने फिर गति पकड़ ली। परिणामस्वरूप, रमन प्रभाव की 'रिपोर्ट' की संख्या भी फिर से बढ़ने लगी। सांध्वनिक अंतरक तकनीक और गणन सुविधाओं की उपलब्धता से रमन प्रभाव की लोकप्रियता और मापन और मजबूत बन गया। आज मंगल की सतह पर रमन स्पेक्ट्रा प्राप्त करने के उपकरणों से सुसज्जित मानव निर्मित रोवर काम कर रहे हैं।

आज तक रमन का मिलने वाला नोबेल पुरस्कार भारतीय मूल के किसी व्यक्ति को विशेष रूप से जिसने भारत में रह कर काम करने के लिए मिलने वाला एकमात्र पुरस्कार है (हालाँकि भारत उस समय एक ब्रिटिश उपनिवेश था)। यह सिर्फ नोबेल पुरस्कार की बात नहीं है। 1930 में, जब रमन प्रभाव ने नोबेल पुरस्कार जीता, तो भारत में इसके जबरदस्त प्रेरक प्रभाव ने सभी भारतीयों को गर्व और आत्मविश्वास की सुखद भावना से भर दिया।

2. परिवार और बचपन

रमन का जन्म वर्तमान तमिलनाडु राज्य में हुआ था। उनका जन्म 7 नवंबर 1888 को उनके नाना के गांव थिरुवनाइक्कवल (तिरुचिरापल्ली के पास) में हुआ था। उनके पिता का नाम रामनाथन चंद्रशेखरन अय्यर और माता का नाम पार्वती अम्मल था। उनका गांव कावेरी नदी के किनारे बसा था। उस समय उनके पिता की आयु मात्र 22 वर्ष थी। रमन के चार भाई और तीन बहनें थीं।

रमन के नाना का घर। यह कोई बाद महल नहीं था। यहीं पर उनका जन्म हुआ था।

रमन का एक बड़ा भाई था, जिसका पूरा नाम चंद्रशेखरन सुब्रमण्यम अय्यर (सी.एस. अय्यर) था जो बाद में वह 'वित्तीय लोक सेवा' (एफसीएस) में शामिल हो गए। सीएस अय्यर के बेटे सुब्रमण्यम चंद्रशेखर बाद में अमेरिका चले गए और खगोल भौतिकी में नाम कमाया। वर्ष 1983 में, सुब्रमण्यम चंद्रशेखर को भौतिकी में नोबेल पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था।

रमन के पिता रामनाथन चंद्रशेखरन धनी व्यक्ति नहीं थे। उस समय के अधिकांश लोगों की तरह, वह मूल रूप से एक किसान परिवार से थे। उन्होंने मद्रास जिले के सोसाइटी फॉर द प्रमोशन ऑफ द गॉस्पेल कॉलेज (एसपीजीसी) त्रिचनोपल्ली (अब तिरुचिरापल्ली), से 'इंटरमीडिएट' परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद एक शिक्षक के रूप में अपना कार्यकाल शुरू किया। रमन की माता थिरुवनाइक्कवल के सप्तर्षि शास्त्री की पुत्री थीं। शास्त्री जी संस्कृत के विद्वान होने के साथ-साथ आधुनिक तर्कशास्त्र के छात्र भी थे। इसलिए रमन के परिवार में विद्वता की परंपरा थी।

जब रमन करीब तीन साल के थे, तब उसके पिता ने एक बड़ा निर्णय लिया। उन्होंने अपने परिवार के साथ विजागपट्टनम (वर्तमान में आंध्र प्रदेश में विशाखापत्तनम) में जा कर वहां बसने का निर्णय किया। उन्होंने

वहां 85 रुपये प्रति माह के वेतन पर एक शिक्षक के रूप में काम करना शुरू किया। उस समय विशाखापत्तनम भी मद्रास प्रेसीडेंसी का एक हिस्सा था। उस समय के भारत में क्षेत्रों और आज के क्षेत्रों से बहुत भिन्नता है। तत्कालीन मद्रास प्रेसीडेंसी में न केवल वर्तमान तमिलनाडु, बल्कि वर्तमान आंध्र, वर्तमान तेलंगाना और वर्तमान केरल का हिस्सा, साथ ही वर्तमान कर्नाटक का हिस्सा भी शामिल था।

आर. चंद्रशेखरन अय्यर (पिता)

पार्वती अम्मल (माता)

रामनाथन चंद्रशेखरन अय्यर और उनका परिवार।
रमन एकदम बायीं ओर हैं।

रमन शुरू से ही एक जिज्ञासु छात्र थे। उनका मन हमेशा सवालों से भरा रहता था। उन्हें केवल पढ़ाई ही नहीं बल्कि प्रयोगात्मक काम भी पसंद था। कभी-कभी वह अपने पिता को कुछ ऐसा देखने के लिए ले जाने की जिद करते थे उन्हें आकर्षित करता हो और जो उनकी जिज्ञासा को शांत करता हो। और उनके पिता ने भी उनकी जिज्ञासायों को संतुष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी फिर भले ही उस समय आधी रात भी क्यों न हो। अब यह स्वीकार किया जाता है कि जिज्ञासु मन वैज्ञानिक बनने का एक लक्षण होता है। प्रश्न पूछने वाला भी उत्तर खोजने की कोशिश करने की सोच रहा है। आइन्सटाइन ने भी यह राय व्यक्त की थी कि ज्ञान ही नहीं जिज्ञासा भी एक महत्वपूर्ण गुण है। यह महत्वपूर्ण है कि हम जो देखते हैं उसे समझने की आदत डालें, और यदि आप 'क्यों?' यह सवाल पूछते रहेंगे, तो ही ऐसा होगा।

रमन के पिता, रामनाथन चंद्रशेखरन बारहवीं (एफए या इंटरमीडिएट) के बाद भी अपनी शिक्षा जारी रखना चाहते थे लेकिन उन्हें आजीविका कमाने के लिए काम करना शुरू करना पड़ा। फिर भी वह दृढ़ निश्चयी थे। कुछ साल बाद उन्होंने भौतिकी में स्नात की उपाधि अर्जित की और फिर उसी कॉलेज (संक्षिप्त में एस पी जी कॉलेज) में ही पढ़ाना शुरु किया। उनकी विभिन्न विषयों में रुचि थी। उन्हें खेल और संगीत से भी प्यार था। उनके घर में अनेक विषयों की पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। वह कई विषयों में भी उपाधि हासिल करना चाहते थे परंतु परिस्थितियों के कारण यह संभव नहीं था। लेकिन रमन ने उन किताबों का आनंद लिया। वह उनके लिए एक खजाने से काम नहीं थीं। तीन साल की आयु में, वह एक नई भाषा और पूरी तरह से नए वातावरण के साथ एक नई जगह आ गए थे। लेकिन वहां भी उन्होंने इस सबसे सामंजस्य बैठा लिया।

1905 में ए वी एन कॉलेज के कर्मचारियों के समूह का छायाचित्र। रमन के पिता नीचे से दूसरी पंक्ति में एकदम दायें से दूसरे स्थान पर हैं।

विद्यालय में रहते हुए, उन्होंने न केवल विज्ञान में, बल्कि संगीत और अंग्रेजी साहित्य में भी रुचि विकसित की। वास्तव में, स्नातक के दौरान उनके कई शिक्षक उनके उत्कृष्ट भाषा कौशल की प्रशंसा करते थे।

चाहे वह स्कूल की कक्षा हो या कॉलेज में स्नातक या स्नातकोत्तर की उपाधि रमन ने हमेशा उसमें प्रथम स्थान प्राप्त किया। उन्होंने कई पुरस्कार और छात्रवृत्तियां अर्जित की थीं। बौद्धिक रूप से वह असामान्य थे। मात्र 11 साल की उम्र में, उन्होंने प्रथम स्थान के साथ दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण की और ए.वी.एन. कॉलेज से बारहवीं भी की। रमन ने वर्ष 1902 में विशाखापत्तनम के विजाग कॉलेज से कला संकाय (एफए) प्रथम वर्ष पूर्ण किया। उस समय वह वास्तव में विज्ञान शिक्षा के प्रति गंभीर थे और उन्होंने मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया।

3. क्या आप वास्तव में जूनियर बी.ए. की कक्षा में हैं?

कॉलेज, व्यवसाय और शादी

मद्रास (अब तमिलनाडु में चेन्नई) के प्रतिष्ठित प्रेसीडेंसी कॉलेज में यह रमन की बीए कक्षा का पहला वर्ष था जिसमें उन्होंने विजागपत्तनम/विशाखापत्तनम में अपनी प्रारंभिक शिक्षा पूर्ण करने के बाद दाखिला लिया था।

प्रेज़िडन्सी कॉलेज मद्रास

उस समय प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लेना विशेष रूप से मद्रास राज्य के छात्रों के लिए एक सपना था। यह एक सरकारी कॉलेज था और यहां के शिक्षक बहुत शिक्षित थे और ज्यादातर यूरोपीय मूल के थे।

उपरोक्त प्रश्न शिक्षक द्वारा रमन से वहां एक बड़े कक्षागार में पूछा गया था। शिक्षक के पीछे, खिड़कियों से नीले समुद्र का शानदार नज़ारा दिखाई देता था। रमन को यह नज़ारा बहुत पसंद था। इसका तरल पदार्थों में प्रकाश के प्रकीर्णन में रमन की भविष्य में रुचि से कुछ लेना-देना हो सकता है। रमन ने भौतिकी को अपना मुख्य विषय लिया परंतु अन्य विषयों में अंग्रेजी शामिल थी। कॉलेज में बड़ी संख्या में यूरोपीय शिक्षक थे। इनमें प्रोफेसर ई. एच. इलियट जो अंग्रेजी पढ़ाते थे, और दूसरे प्रोफेसर बिलडरबेक जोकि एक अन्य अंग्रेजी शिक्षक थे, सम्मिलित थे।

तब रमन बहुत छोटे केवल 14 वर्ष के थे और उनका कद छोटा, रंग सांवला और शरीर पतला-दुबला था। संक्षेप में, उसकी उपस्थिति में ऐसा कुछ भी नहीं था जिससे यह पता चले कि वह असाधारण थे। उन्होंने साधारण लुंगी पहन रखी थी और सिर पर टोपी थी। संक्षेप में ऐसा समझा जा सकता था की वरिष्ठ कक्षा में

कोई छात्र गलती से आ गया हो। उपरोक्त प्रश्न प्रोफेसर इलियट द्वारा पूछा गया था। उन्हें आश्चर्य हुआ कि यह लड़का स्कूल जाने के बजाय गलती से कॉलेज की कक्षा में कैसे प्रवेश कर गया।

प्रोफेसर इलियट ने पूछा, " क्या आप सच में एक जूनियर बीए कक्षा में हो?"

"हाँ। महोदय, मैं सच में जूनियर बीए कक्षा का छात्र हूं।" रमन ने विनम्रता से बताया।

उनके इस उत्तर ने प्रोफेसर इलियट को और भी भ्रमित कर दिया। तो उन्होंने दोबारा पूछा, "आप कितने साल के हैं?"।

"चौदह वर्ष, सर।" रमन को अब एहसास होने लगा था कि प्रोफेसर उनकी उम्र से मेल खाती छोटी-सी कद7 काठी से भ्रमित हैं क्योंकि इतना छोटा लड़का उन्होंने बीए की कक्षा में पहले कभी नहीं देखा था। लेकिन रमन के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। इस पुष्टि के बाद, हालांकि प्रोफेसर इलियट हैरान थे, फिर भी उन्होंने हमेशा की तरह अपना व्याख्यान शुरू किया।

रमन को साहित्य पर व्याख्यान के साथ-साथ विज्ञान पर व्याख्यान भी पसंद थे। रमन का भाषा ज्ञान भी उतना ही अच्छा था। उन्होंने अपने लेखों में कई बार पसंदीदा अंग्रेजी शिक्षकों का उल्लेख किया है जो साहित्य पढ़ाते थे। यह अलग बात है कि विज्ञान, विशेषकर भौतिकी में उनकी विशेष रुचि थी। बहुत जिज्ञासु, बुद्धिमान, सुसंगत और मेहनती रमन में योग्य होने के सभी लक्षण मौजूद थे। उन्होंने हमेशा शिक्षकों को प्रभावित किया। इसमें उनके भाषा शिक्षक भी थे, जो उनकी बुद्धि के बारे में बहुत सकारात्मक बात करते थे।

रमन के कॉलेज का जीवन बहुत ही व्यस्त था और उन्होंने अपनी ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा को शांत भी किया था। उन्होंने 1904 में बीए की अंतिम परीक्षा प्रथम स्थान प्राप्त किया और अंग्रेजी एवं भौतिकी विषयों में स्वर्ण पदक भी जीते। रमन के लिए पदक और प्रथम स्थान मिलने से भी महत्वपूर्ण था कक्षा में अन्य छात्रों द्वारा उनका सम्मान और शिक्षकों द्वारा उनकी प्रशंसा। इस बात से उनकी बुद्धि की तीक्ष्णता का अंदाजा लगाया जा सकता है।

रमन की एक और विशेषता यह थी कि वह बहुत स्वतंत्र स्वभाव के व्यक्ति थे। उनके रिपोर्ट कार्ड में हमेशा उनकी असाधारण बुद्धिमत्ता का जिक्र और कक्षा में दूसरों से अलग होने की बात कही जाती थी। इन्हीं गुणों ने उनके भविष्य के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रमन को पढ़ने का शौक अपने पिता से विरासत में मिला था परंतु अपने उनके शारीरिक गुण नहीं। कॉलेज के दिनों में रमन के पिता एक अच्छे खिलाड़ी थे। दूसरी ओर, रमन शारीरिक रूप से कमजोर था। अपनी बुद्धि के कारण, रमन को यूरोप में उच्च शिक्षा के लिए मुख्य रूप से प्रेसीडेंसी कॉलेज में यूरोपीय शिक्षकों द्वारा इंग्लैंड में प्रवास करने के लिए प्रोत्साहित किया गया था जो उन दिनों आम बात थी। लेकिन रमन बी.ए. पूरा करने के बाद वह इंग्लैंड नहीं गए, क्योंकि वह शारीरिक रूप से कमजोर थे। लोक शल्य-चिकित्सक ने उन्हें कठोर यूरोप की ठंड और जलवायु में रहने के लिए उपयुक्त प्रमाणित करने से इंकार कर दिया था।

1904 में, स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के लिए उसी कॉलेज में प्रवेश लेने के बाद भी रमन की अकादमिक सफलता का सिलसिला जारी रहा। उन्होंने वर्ष 1907 में कॉलेज में प्रथम स्थान के साथ एम.ए. (भौतिकी) पूरा किया। मुझे याद है उन दिनों विज्ञान के छात्रों को भी बी.ए., एम.ए. की ही उपाधि डी जाती थी न कि बी.एससी., एम.एससी. की।

उस समय देश में सैकड़ों कॉलेज होंगे इसलिए उनकी इस सफलता को असाधारण नहीं माना जा सकता। लेकिन उनकी एक खास बात यह थी कि एम.ए. करते हुए उन्होंने एक शोध पत्र (*अनसीमेट्रिकल डिफ्रैक्शन बैंडस ड्यू टू अ रेकटंगुलर ऐपर्चर*शीर्षक से) लिखा और यह लंदन की एक प्रतिष्ठित पत्रिका जिसका नाम है फिलोसोफिकल पत्रिका के नवंबर 1906 के अंक में प्रकाशित भी हुआ।

प्रयोगशाला में प्रिज़म (त्रिभुजाकार लोलक) पर पड़ते हुए प्रकाश पर प्रयोग करते समय रमन को एक समस्या का सामना करना पड़ा। जब प्रकाश एक संकरी दरार में से होते हुए गुजरा तो उन्होंने विवर्तन धारियों को देखा और इससे उनमें एक कुतूहल पैदा हुआ। तभी जिज्ञासु रमन यह सोचने लगे कि हो सकता है प्रकाश टकराकर तिरछा हो गया / झुक गया है? फिर उन्होंने एक प्रयोग तैयार किया। उन्होंने जस्ते की एक पतली चादर का इस्तेमाल किया और उसमें एक ऊर्ध्वाधर संकरी दरार बनाई। रमन ने इस दरार से प्रकाश को पारित करके और लगातार प्रकाश के कोण को बदलते हुए विवर्तन का अध्ययन किया। यह उसी समय की बात है जब उन्होंने एक रोचक अवलोकन किया कि यदि आपतित प्रकाश 87° से अधिक कोण पर आपतित होता है, तो विवर्तन धारियाँ सममित नहीं रहतीं। ऐसी धारियों की सूचना किसी ने नहीं

दी थी। प्रेसीडेंसी कॉलेज जोकि एक शिक्षण संस्थान था और जहां शोध नहीं होता था ऐसे कॉलेज से यह पहला शोध पत्र था। इस शोध की अभिकल्पना, कार्यान्वयन, विश्लेषण और एकीकरण का कार्य अकेले रमन ने ही किया था। रमन के शिक्षक प्रोफेसर आर. एल. जोन्स को प्रसिद्ध कैवेंडिश प्रयोगशाला में प्रशिक्षित किया गया था। रमन ने अपना शोध पत्र उन्हें जाँच के लिए दिया लेकिन उन्हें इस पर कभी कोई प्रतिक्रिया नहीं मिली। कुछ समय तक प्रतीक्षा करने के बाद उन्होंने उसे एक पत्रिका को भेज दिया। उस समय वह केवल 18 वर्ष के थे!

1906 में रमन एक कॉलेज छात्र के रूप में

रमन ने शायद ही कभी व्याख्यानों में भाग लेकर इसे हासिल किया। उनके शिक्षक, प्रोफेसर जोन्स इस बात से चिंतित नहीं होते थे कि कोई छात्र अनुपस्थित है, उनके लिए इतना ही काफी था कि छात्र अच्छे से पास हुए।

तथ्य यह है कि रमन ने भौतिकी के शिक्षक प्रोफेसर जोन्स के बारे में कहीं भी कोई टिप्पणी नहीं लिखी। लेकिन स्नातक पाठ्यक्रमों में अंग्रेजी शिक्षकों के बारे में, वे लिखते हैं, "वे किनारे पर टकराती लहरों के सुंदर एवं लुभावने दृश्य के बाबजूद भी हमारा ध्यान आकर्षित करते थे। या यह कहा जा सकता है कि, उसी मनमोहक समुद्र तट को देखने के बजाय, हमारा मन अंग्रेजी साहित्य की जटिल खूबसूरती का आनंद लेने के लिए अधिक इच्छुक था। " रमन ने अंग्रेजी के प्रोफेसर बिलडरबेक के बारे में भी विस्तार से लिखा है।

हालांकि, इसका मतलब यह नहीं है कि उनमें अपने अन्य शिक्षकों के प्रति सम्मान की कमी थी। वह हमेशा प्रोफेसर जोन्स के आभारी थे क्योंकि उन्होंने रमन को मन मुताबिक पढ़ने की स्वतंत्रता दी थी। उन्होंने प्रोफेसर ग्रेगोर को 'दयालु सज्जन' कहा। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि, "... चार साल के दौरान जब मैं प्रेसीडेंसी कॉलेज में था, मैंने अकादमिक स्वतंत्रता का खूब आनंद लिया।"

रमन की जानी-मानी उपलब्धियों का सारा श्रेय रमन की स्वतंत्र सोच को दिया जाना चाहिए। वह एक गहन विचारक और एक अति लालसी पाठक थे। उनका पढ़ना केवल पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित नहीं था बल्कि जब या जहां भी उन्हें समय मिलता वे पत्रिकाओं में छपे शोध पत्र पढ़ते थे। वह अन्य स्रोतों से भी

लेख पढ़ते थे। रमन ने एक नई विधि विकसित की जिसे बाद में उसी पत्रिका में 'तरल पदार्थों के सतह तनाव को निर्धारित करने की वक्रता विधि' शीर्षक के तहत प्रकाशित किया गया था। उन्होंने लॉर्ड केल्विन द्वारा लिखी पुस्तक 'लोकप्रिय व्याख्यान और भाषण' में केशिकाओं पर की गई टिप्पणी पढ़ी थी और इसी से उन्हें काम करने की प्रेरणा मिली। दरअसल, आज भी इतिहासकारों को इस बात का आश्चर्य होता है कि रमन ने उन कागजों को कैसे प्राप्त किया, जो उस समय कहीं भी इतनी सरलता से उपलब्ध नहीं थे! यदि आपने विज्ञान या अन्य क्षेत्रों में कई अन्य सफल लोगों की जीवनी पढ़ी है, तो आप महसूस करेंगे कि उन सभी को पढ़ना अच्छा लगता था। पढ़ना आपकी सोचने की क्षमता को बढ़ाता है। और ऐसी संभावनाएं भी प्रकट होने लगती हैं जिनके बारे में आपको पता नहीं होता है। पढ़ना दिमाग के लिए एक अच्छा व्यायाम भी है।

रमन को उनकी रुचि के विषय पर जो कुछ भी उपलब्ध होता उसे पढ़ने की आदत थी। यहां यह भी जानने योग्य है कि एक छात्र के रूप में रमन ने नोबेल पुरस्कार विजेता लॉर्ड रैले (असली नाम जॉन विलियम स्ट्रट, नोबेल पुरस्कार 1904) के साथ पत्र व्यवहार किया था और यह कि प्रख्यात वैज्ञानिक रैले समझते थे की रमन प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रोफेसर थे और वह रमन को प्रोफेसर सी. वेंकट रमन कह कर संबोधित करते थे। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि मूल रूप से रमन का नाम चंद्रशेखरन वेंकटरमन अय्यर था। इसका पहला भाग उनके पिता के नाम 'रामनाथन चंद्रशेखरन' से लिया गया है और दूसरा भाग उनका अपना नाम था। अंतिम नाम 'अय्यर' उनके संप्रदाय का नाम है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, उनका नाम बदलकर 'चंद्रशेखरन वेंकटरमन अय्यर' से 'सी वेंकटरमन' फिर 'वेंकट रमन' से अंत में 'सी.वी. रमन' हो गया। और हमेशा के लिए उनका नाम 'सी.वी. रमन' हो गया। अब ज्यादातर भारतीय इस महान भौतिक विज्ञानी को रमन के नाम से ही जानते हैं।

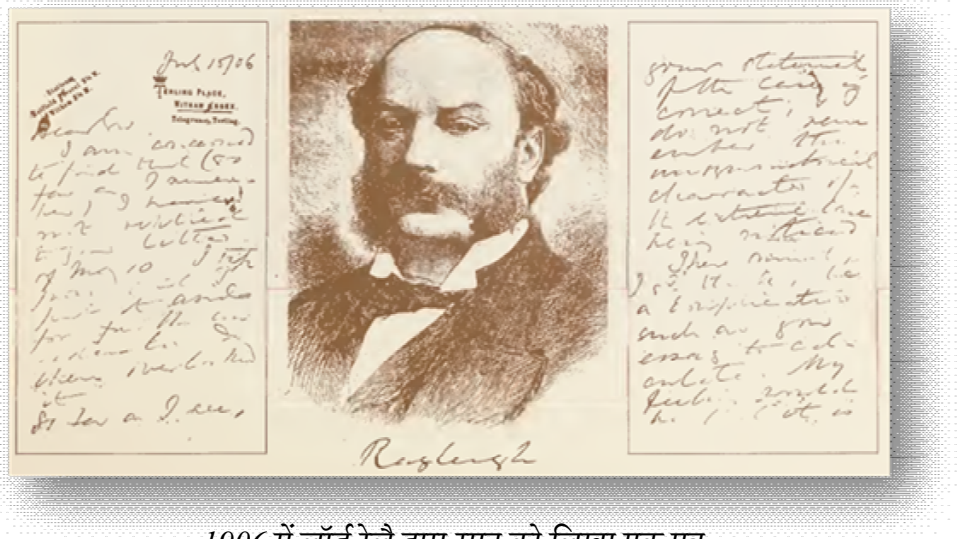

1906 में लॉर्ड रेलै द्वारा रमन को लिखा एक पत्र

आज, इंटरनेट ने बड़ी मात्रा में जानकारी उंगलियों पर उपलब्ध करवा दी है। ध्यान से चुनकर और विश्वसनीय ऑनलाइन सामग्री पढ़कर आपके जीवन में बहुत कुछ बदल सकता है।

रमन के लिए प्रयोग सिद्धांतों की पुष्टिका साधन मात्र थे। स्वाभाविक रूप से जिज्ञासु होने के कारण, अपने सिद्धांतों की जांचने करने के लिए वह शोध की अभिकल्पनाकरते और अन्वेषण करने के लिए वह प्रयोग करते थे। हालांकि, अनुसंधान और प्रबंधन के लिए पैसे की कमी थी और हमेशा मितव्ययिता की आवश्यकता रहती थी। जैसा कि अपेक्षित था, कॉलेज की प्रयोगशाला बहुत समृद्ध नहीं थी फिर भी उसमें प्रकाश संबंधी मूलभूत उपकरण जैसे कि प्रिज़म, जाल और शीशे जैसे उपकरणों की कमी नहीं थी। एक लोकप्रिय कहानी यह भी है कि रमन कबाड़ बाजार में यह देखने जाते थे कि क्या उन्हें अपने उपकरणों के लिए कुछ सस्ते अतिरिक्त हिस्से मिल सकते हैं।

जब जनवरी 1907 में उन्होंने भौतिकी में एम.ए. की डिग्री पूरी की तो उनके सामने अब एक ही सवाल था कि आगे क्या किया जाए? उन्होंने एम.ए. में प्रथम स्थान प्राप्त किया था लेकिन उन दिनों वैज्ञानिक अनुसंधान को आजीविका बनाने का कोई अवसर नहीं था। इस समय रमन की तत्काल आवश्यकता अच्छी आय के साथ सुरक्षित रोजगार की थी। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के लिए इंग्लैंड में पढ़ाई करना और वहां परीक्षा पास करना जरूरी था। रमन को लोक शल्य-चिकित्सक ने पोस्ट ग्रेजुएशन के लिए इंग्लैंड जाने की अनुमति इस आधार पर देने से मना कर दिया था कि वह चिकित्सकीय रूप से अस्वस्थ थे इसलिए इस पर विचार नहीं किया जा सकता था। इसलिए उन्होंने अन्य विकल्पों पर विचार किया। वित्तीय प्रशासनिक सेवा उन्हें आकर्षक लगी और फरवरी में रमन ने वित्तीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा दी। अपनी परंपरा के अनुसार उन्होंने यह परीक्षा पहले स्थान से पास की और फिर उन्हें उसके लिए कोलकाता कार्यालय में भर्ती होने के लिए कहा गया।

इस बीच, अन्य समान रूप से महत्वपूर्ण चीजें हो रही थीं। रमन को संगीत का शौक था, और उसके प्रति संवेदना भी थी। वास्तव में उनके अधिकांश प्रारंभिक शोध कार्य वीणा, मृदंगम, तबला और सारंगी जैसे तार और ताल वाद्यों पर आधारित थे। मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में पढ़ते समय रामास्वामी शिवन नामक रमन का एक मित्र था। डॉ. जी. वेंकटरमन ने अपनी पुस्तक 'जर्नी इंटो लाइट' में एक कहानी सुनाई है। एक दिन रमन शिवन के घर गए जहां उन्होंने किसी को वीणा बजाते हुए सुना। बजाया जा रहा संगीत 'त्यागराज का कीर्तन' था और उसके शब्द थे, 'राम नी समानम एवरो' मतलब, 'राम, क्या आपके तुल्य कोई है?' रमन उस वाद्य यंत्र से मंत्रमुग्ध हो गएऔर वह उस वीणा वादक से मिलना चाहते थे। तब पता चला कि संगीतकार लड़की शिवन की साली है। शिवन एक अच्छे मित्र होने के साथ-साथ आधुनिक विचारों के भी

थे। शिवन ने रिश्ते करवाने वाले का काम किया और बात आगे बढ़ी। रमन और लोकसुंदरी एक-दूसरे से मिले। एक अच्छी तनख्वाह वाला सरकारी कर्मचारी होने के कारण, रमन एक आदर्श दूल्हा थे। फिर भी एक बाधा थी। रमन के पिता को इस बात से जरा भी ऐतराज नहीं था परंतु रमन की माँ ने रिश्ते पर आपत्ति जताई क्योंकि लड़के और लड़की की उपजाति मेल नहीं खाती थी। रमन ऐसे विचारों से परे थे और उन्होंने अपना मन बना लिया था। रमन अपनी मां को मनाने में सफल रहे। रमन और लोकसुंदरी अम्मल ने शादी कर ली। रमन ने यह भी सुनिश्चित किया कि दहेज या ऐसी कोई प्रथा न हो।

रमन एवं लोकसुंदरी

समय के साथ यह साबित हो गया कि रमन ने कुछ भी गलत नहीं किया था। उनकी पत्नी एक आदर्श साथी थीं। वह मृदुभाषी थी। उन्होंने अंत तक रमन का साथ दिया। दोनों को संगीत पसंद था। बाद में उनकी पत्नी को 'लेडी रमन' के नाम से जाना जाने लगा और इससे उन्हें कोई परेशानी नहीं थी। उन्हें भी रमन की परछाई बन कर रहने में सहज महसूस होता था। उनका कहना था कि उनके जीवन का उद्देश्य रमन को उनके सपने को पूरा करने में मदद करना था।

लोकसुंदरी मजाक-मजाक में यह भी कहती थी कि आर्थिक नियमों के अनुसार रमन को शादी के बाद 150/- रुपये अधिक भत्ता मिलना था, इसलिए उन्होंने उनसे शादी कर ली। लेकिन वास्तविक अर्थों में वह एक समर्पित पत्नी थी, उन्होंने खुद को रमन और उनके उद्धेशयों को पूरा करने के प्रति समर्पित कर दिया। उनके चंद्रशेखरन और राधाकृष्णन नाम के दो बच्चे थे। उन दोनों को ही संगीत से प्रेम था और दोनों के विचार भी एक दूसरे से मिलते थे।

जून 1907 में, रमन कोलकाता आ गए।

4. कोलकाता में रमन

अनुसंधान एवं पुरस्कार

रमन पहली बार कोलकाता में सहायक महालेखाकार के रूप में नियुक्त हुए। उन दिनों देश की राजधानी नई दिल्ली नहीं बल्कि कोलकाता थी। 1922 में नई दिल्ली देश की राजधानी बनी।

डॉ. महेंद्रलाल सरकार

कोलकाता में रमन का दैनिक जीवन उस समय तक सुचारू रूप से चल रहा था जब तक कि उन्होंने अपने कार्यालय के रास्ते में बो बाजार लेन पर स्थित इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस के सूचनापट्ट पर ध्यान नहीं दिया था। कार्यालय से आते समय वह वहां पर उतरे और उस संस्था के परिसर में घुस गए। यह देख कर वह हैरान रह गए की एक संस्थान लोगों के आने और शोध करने की प्रतीक्षा कर रहा था। उन्होंने संस्थान के सचिव अमृत लाल सरकार से बात की। तीन साल पहले उनके चाचा महेंद्रलाल सरकार की मृत्यु के बाद, जिनके पास एम.डी. की उपाधि थी और जो एक भी डॉक्टर थे, उन्होंने संस्थान का कार्यभार संभाला। डॉ. सरकार कोलकाता में एक ऐसा केंद्र बनाने के इच्छुक थे जहां सत्य की खोज करने वाले आ सकें और आपस में बात कर सकें। वे इसे केंद्र सरकार के नियंत्रण से बाहर रखना चाहते थे। इसलिए उसने लोगों से चंदा इकट्ठा किया। लेकिन कई सालों में वहां कुछ भी नया नहीं हुआ। वह लोगों के लिए केवल विज्ञान पर व्याख्यान ही नहीं चाहते थे बल्कि वहां शोध भी हो ऐसा चाहते थे। लेकिन कई साल बीत जाने के बाद भी वहां यह सब काम होना बाकी था। जुलाई 1876 में धीरे-धीरे यह सब काम शुरु हुए। डॉ. सरकार हमेशा संस्थान के लिए धन इकट्ठा करने और उसको सक्रिय करने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन उनको इतनी सफलता नहीं मिली। यह सब उनकी आशाओं के विपरीत था। परंतु उसी समय विजयनगरम के महाराजा से एक उदार अनुदान प्राप्त हुआ और अंत में, 1891 में एक प्रयोगशाला की स्थापना की गई।

इसकी स्थापना के तीन दशक बीत जाने और डॉ. महेंद्रलाल सरकार की मृत्यु के तीन साल बाद वहां पहुंचे रमन के लिए यह संस्थान प्यासे को कुआं मिलने के बराबर था। बेशक, रमन को पूर्णकालिक नौकरी मिल गई थी परंतु अपनी असीम ऊर्जा से उन्हें आगे का रास्ता खोजने में कोई परेशानी नहीं हुई। उन्हें थोड़े समय तक ही परेशानी हुई जब उन्हें अपने काम के चलते रंगून और नागपुर जाना पड़ता थाऔर इसी के चलते रमन अगले कई वर्षों तक बहुत व्यस्त रहे। वह जल्दी उठ कर प्रातः 5:30 बजे इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस जाते थे और 09:45 बजे सुबह के नाश्ते के लिए घर लौटते थे और गाड़ी पकड़ कर अपने कार्यालय के लिए चले जाते। इसमें अतिरिक्त खर्च होता था लेकिन उन्हें इसका कोई बुरा नहीं लगता था। शाम को कार्यालय से लौटते समय वह सीधा इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस जाते और रात 21:00 बजे तक काम करते और फिर रात के खाने के लिए घर लौटते थे। करीब एक दशक से तक उनकी दिनचर्या ऐसी ही थी।

1907 और 1917 के बीच रमन ने मुख्य रूप से ध्वनिविज्ञान और प्रकाशविज्ञान की समस्याओं पर काम किया। इसी बीच उन्होंने 'नेचर', 'फिजिक्स रिव्यू' और 'फिलोसोफिकल मैगजीन' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में शोधपत्र प्रकाशित किए। जिन विषयों पर उन्होंने शोधपत्र प्रकाशित किए उनमें से, न्यूटन्स रिंग्स इन पोलराइज्ड लाइट (1907), सेकेंडरी वेव्स ऑफ लाइट (1908), द डिस्कवरी ऑफ द अल्ट्रामाइक्रोस्कोपिक मेथड (1909), द स्मॉल मोशन एट द नोड्स ऑफ ए वाइब्रेटिंग स्ट्रिंग (1909), द एक्सपेरिमेंटल स्टडी ऑफ ह्यूजेंस सेकेंडरी वेव्स (1909), द मेंटेनेंस ऑफ फोर्स्ड ऑसिलेशन ऑफ ए न्यू टाइप (1909, 1912), द मेंटेनेंस ऑफ द फोर्स्ड ऑसिलेशन (1910), फोटोग्राफस ऑफ वाइब्रेशन कर्व्स (1911), द स्मॉल मोशन एट द नोड्स ऑफ ए वाइब्रेटिंग स्ट्रिंग(1911), द फोटोमेट्रिक मेजरमेंट ऑफ द ओब्लिकिटी फैक्टर ऑफ डिफ्रेक्शन (1911), ऑन इन्टर्मिटन्ट विज़न (1915), रेजोनेंस (1912), मैन्ट्नन्स ऑफ वाइब्रैशनस (1912, 1914, 1917), अकौसटिक आब्ज़र्वैशनस (1913), ऑन मोशन इन ए पेरिऑडिक फील्ड ऑफ फोर्स (1914, 1915) आदि कुछेक हैं।

रमन के जीवन में एक और मोड़ आया जब सन् 1906 में प्रोफेसर आशुतोष मुखर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय पर इसका परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा और उन्होंने विज्ञान विभाग के पुनर्गठन का फैसला किया। लेकिन इसके लिए उन्हें एक बुद्धिमान शिक्षक की जरूरत थी। उन्होंने जल्द ही अच्छे लोगों को काम पर रखने के लिए धन का प्रबंधन कर लिया। इस अवधि के दौरान प्रफुल्लचंद्र राय, मेघनाद साहा और शिशिर कुमार मित्रा को नियुक्त किया गया था। अब सन 1907 में वह सर तारानाथ पालित की स्मृति में सृजित पालित प्राध्यापक पद पर रमन की ख्याति को देखते हुए

उन्हें नियुक्त करना चाहते थे। समस्या यह थी कि रमन पूरी तरह से भारतीय वैज्ञानिक थे। पलित अभ्यास के संबंध में नियम यह था कि विदेशी शिक्षा या विदेशी अनुभव को एक आवश्यक योग्यता माना जाता था। इसलिए उनकी प्रतिनियुक्ति की अनुमति भी नहीं दी गई। लेकिन मुखर्जी प्रभावशाली और साहसी थे। उन्होंने उन लोगों को राजी किया जो शर्तों में ढील देने में सक्षम थे और रमन भी 1100/- रुपये प्रति माह वेतन मिलने वाली अपनी सुरक्षित सरकारी नौकरी छोड़ने और 600/- रुपये प्रति माह के वेतन पर 'पालित प्राध्यापक' के रूप में विश्वविद्यालय में नियुक्ति के लिए भी सहमत हो गए। ऐसा नहीं था कि रमन एक सरकारी अधिकारी के रूप में कुशल नहीं थे। वास्तव में, उन्हें सर्वश्रेष्ठ में से एक माना जाता था। लेकिन विज्ञान के प्रति उनके जुनून ने आर्थिक तंगी को उसमें बाधा नहीं बनने दिया। इसके लिए आशुतोष मुखर्जी ने रमन की खूब तारीफ की। उन्होंने यह भी व्यवस्था की कि रमन के कभी विदेश यात्रा नहीं करने पर कभी भी सवाल ना उठाया जाए और उनकी नियुक्ति के रास्ते में इससे कोई बाधा नहीं आनी चाहिए। पी. ब्रुहल, रजिस्ट्रार कलकत्ता विश्वविद्यालय ने रमन को उनके नियुक्ति पत्र में स्पष्ट रूप से कहा था कि 'इस पद पर रहते हुए आपको भारत के अलावा किसी अन्य देश की यात्रा करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी'।

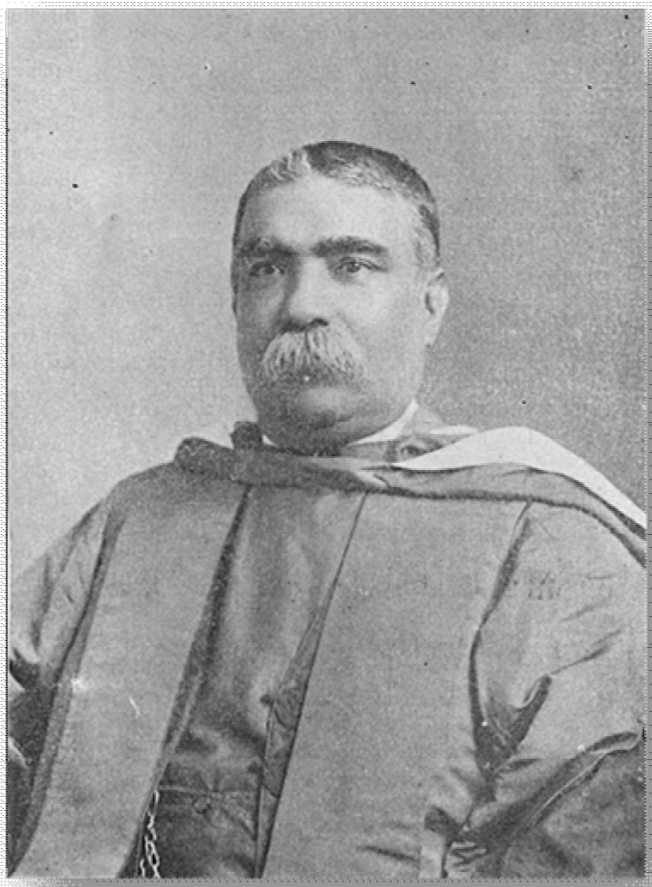

प्रो. आशुतोष मुखर्जी

साल 1914 की बात है। लगभग एक दशक तक दोनों संस्थानों में काम करने के बाद, रमन को पालित प्राध्यापक पद को चुनने में कोई संदेह नहीं था। 'इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस' के लिए ही नहीं अपितु रमन के लिए भी यह एक अलग दौर था क्योंकि अब रमन शांत मन की शांत के साथ खुद को पूर्णरूप से शोध कार्य में समर्पित कर सकते थे। हालांकि, पालित प्राध्यापक पद पर नियुक्ति की शर्तों में शिक्षण शामिल नहीं था फिर भी, रमन विश्वविद्यालय में पढ़ाते भी थे। ऐसा कहा जाता है कि

बिजली और चुंबकत्व के साथ-साथ प्रकाश विज्ञान पर उनके व्याख्यान छात्रों के बीच इतने लोकप्रिय थे कि वे घंटों रमन को सुनते रहते थे।

रमन को कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्त करके लाने वाले कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर आशुतोष मुखर्जी का कहना था कि, "अगर मैं रमन की प्रशंसा नहीं करता तो मैं अपने कर्तव्य में असफल हो जाता। विश्वविद्यालय के प्राध्यापक बनने के लिए एक अच्छी सरकारी नौकरी को छोड़कर रमन ने जो साहस दिखाया है, मैं उनके उस आत्म-बलिदान से अभिभूत हूं। मुझे इस बात का दुख है कि उन्हें यहां उतनी उदार रियायतें नहीं दी जा रही हैं। इस एक घटना से मैं आशा करता हूँ कि हम जिस ज्ञान मंदिर का निर्माण करना चाहते हैं उसमें सत्य-साधकों की कमी नहीं होगी।"

रमन को आखिरकार अपनी पसंद का काम मिल गया। अब वे शोध छात्रों को दाखिल कर सकते थे और अपना सारा समय शोध के लिए समर्पित कर सकते थे। दरअसल, उन्होंने अपना घर बदल लिया और संगठन के पास के एक घर में रहने चले गए। उनके घर में एक दरवाजा भी था जिससे वह किसी भी समय प्रयोगशाला में प्रवेश कर सकते थे। एक दशक तक वे पूरे जोश के साथ शोध कार्य में लगे रहे और बहुमूल्य शोध पत्र प्रकाशित किए। उन्होंने मुख्य रूप से भारतीय संगीत में तार वाले वाद्ययंत्रों जैसे वीणा, तानपुरा और वायलिन (मृदंगम, तबला आदि) या उनके जैसे वाद्यों का अध्ययन किया। रमन ने संगीत और वाद्ययंत्रों पर कुछ अच्छी टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। उदाहरण के लिए, वे लिखते हैं, "यूरोपीय विज्ञान में ज्ञात सभी तालवाद्य ज्यादातर गैर-संगीतमय हैं और केवल खुली जगहों या बड़े ऑर्केस्ट्रा में सहन करने योग्य हैं, जहां इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि शोर कम है या ज्यादा।"

वह भारतीय संगीत वाद्ययंत्रों की प्राचीनता को जानते थे। वह लिखते हैं की, "... यदि इस तरह के उपकरणों का सबसे पहला उल्लेख कहीं पाया जा सकता है तो वह हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में ही है। इतना तो तय है कि देश के इतिहास के शुरुआती दौर में भी हिंदू जानते थे कि कैसे ता र वाले वाद्ययंत्रों को अंगुलियों या वाद्य बजाने वाली पट्टी से उनमें कंपन उत्पन्न करके, या गोलाकार बांसुरी या उसके अन्य प्रकारों में हवा भरकर या अन्य ताल वाद्यों को बजाया जा सकता है।"

एक दशक से भी अधिक समय तक इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस से जुड़े रहने के कारण, रमन का नाम देश भर में और अन्य देशों में भी कई जगहों पर जाना जाता था। उसकी पत्नी अब पहले से भी ज्यादा व्यस्त रहती थी। उनके छात्रों को यह भी याद है कि कैसे कई बार रमन देर से काम करते हुए प्रयोगशाला में सो जाते थे और अगली सुबह एक सहकर्मी सदस्य द्वारा उन्हें जगाया जाता था। सन

1919 में जब अमृत लाल सरकार की मृत्यु हुई, तो स्वाभाविक रूप से रमन को संगठन के स्वैच्छिक सचिव के रूप में कार्य करने की अतिरिक्त जिम्मेदारी सौंपी गई।

1921 में, प्रोफेसर मुखर्जी ने रमन को ऑक्सफोर्ड में आयोजित होने वाली 'विश्वविद्यालय कांग्रेस' में भाग लेने के लिए राजी किया। पहले तो रमन तैयार नहीं हुए लेकिन अंत में वह तैयार हो गए। इससे उन्हें उन लोगों से भी मिलने का मौका मिला जिन्हें वे शोध पत्रों और पत्राचार के माध्यम से पहले से जानते थे। वह इतने लोकप्रिय थे कि रदरफोर्ड ने उन्हें एक बैठक में आगे आने और आगे की पंक्ति में बैठने के लिए भी कहा। रमन उलझन में थे कि रदरफोर्ड उन्हें कैसे जानते हैं। तब रमन को पता चला कि रदरफोर्ड ने उन्हें उनकी पगड़ी से पहचान लिया था! इस बैठक उन्हें जाने माने वैज्ञानिकों जैसे की सर जे. जे. थॉमसन (इलेक्ट्रान के खोजकर्ता), विलियम हेनरी ब्रैग (एक्स-रे के विवर्तन संबंधित ब्रैग सिद्धांत के प्रतिपादक) और निश्चित रूप से लॉर्ड अर्नेस्ट रदरफोर्ड (रेडियोधर्मिता की खोज के लिए प्रसिद्ध) इन सब नोबेल पुरस्कार विजेताओं से मिलने का अवसर मिला।

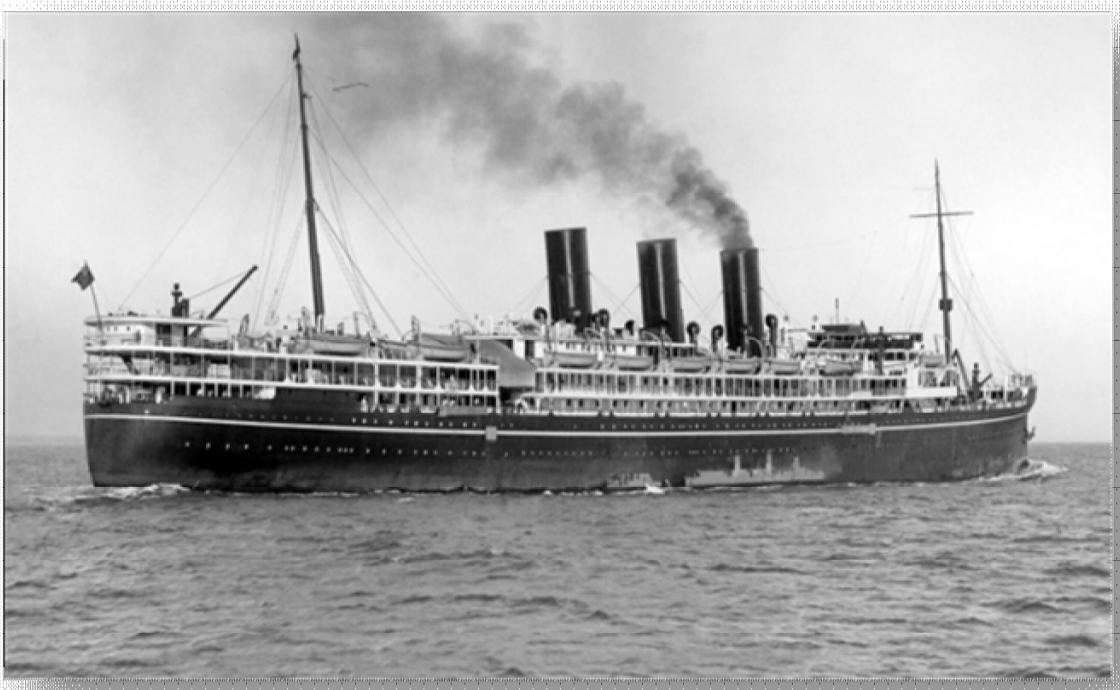

एस. एस. नारकुंडा

उन दिनों यात्रा की गति धीमी थी। जैसा कि आप कल्पना कर सकते हैं कि राइट बंधुओं ने सन 1903 में पहली बार हवाई जहाज उड़ाने का परीक्षण किया था। लेकिन उसके बाद व्यवसायिक उड़ाने शुरु होने में काफी समय लग गया। उस समय विदेश जाने का एक ही रास्ता था और वह था पानी के जहाज से जाना जिसमें कई दिन लग जाते थे। हालांकि रमन ने इसे भी एक अवसर में बदल दिया। एसएस नरकुंडा नाम के

जहाज में उनकी वापसी की यात्रा यादगार रही। यात्रा के दौरान उन्होंने देखा कि समुद्र का रंग गहरा नीला है। ब्रिटिश भौतिक विज्ञानी लॉर्ड रैले ने इसे समुद्र में आकाश के प्रतिबिंब के साथ जोड़ा था परंतु रमन इससे सहमत नहीं थे। रमन हमेशा अपनी जेब में एक छोटा निकोल प्रिज़म, विवर्तन फिल्टर, प्रकाश विश्लेषक और प्रकाश ध्रुवीकरण यंत्र रखते थे और उनकी मदद से माप लेना शुरु कर दिया।

उन्होंने जल और वायु में प्रकाश के प्रकीर्णन की गणना की और पाया कि शुद्ध जल में प्रकीर्णन की मात्रा शुद्ध वायु के प्रकीर्णन से लगभग 175 गुना अधिक थी। इसलिए समुद्र के पानी में काफी मात्रा में प्रकीर्णन हो सकता था। अब सवाल यह था कि समुद्र से नीला रंग परावर्तित हो रहा था या या उसका प्रकीर्णन हो रहा था। उसने स्वयं को समझाया कि प्रकाश परावर्तित नहीं होता और वह समुद्र के भीतर से ही आ रहा था इसे उन्होंने एक साधारण से प्रयोग से ही सिद्ध कर दिया। उन्होंने दावा किया कि समुद्र से परावर्तित विकिरण एक निश्चित कोण पर, समतल में ध्रुवीकृत होगा। उनका मानना था कि यदि इसे एक निकोल प्रिज़म पर एक निश्चित कोण पर पारित किया जाता है, तो यह पूरी तरह से गायब हो जाएगा। पर ऐसा नहीं हुआ। समुद्र के पानी का रंग गहरा नीला ही रहा। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि समुद्र का नीला रंग परावर्तक नहीं था! जब रमन भारत पहुंचे, तब उन्होंने इस विषय पर दो शोध पत्र 'नेचर पत्रिका' को भेजे। रैले ने रमन के दृष्टिकोण का विरोध किया। लेकिन अंत में, रमन का यह विचार स्वीकार कर लिया गया कि 'समुद्र के पानी का नीलापन आकाशीय प्रकाश का प्रतिबिंब नहीं है, बल्कि पानी में प्रकाश का प्रकीर्णन है'। इससे एक बड़ा सबक सीखने को मिलता है कि, जो कहा गया उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है यह है कि उसे किसने कहा। इसलिए बाद के वर्षों में, रमन को प्रकाश के प्रकीर्णन में और अधिक दिलचस्पी हो गई।

उसी वर्ष (सन 1921 में) के. आर. रामनाथन, रमन से एक छात्रवृत्ति प्राप्त विद्यार्थी के रूप में जुड़े। रमन ने उन्हें जल में प्रकाश के प्रकीर्णन का अध्ययन करने को कहा। रामनाथन ने प्रयोगों की एक श्रृंखला शुरू कर दी। उन्होंने देखा कि जब प्रकाश पानी में से लंबवत रूप से गुजरता है, तो खोल में एक अतिरिक्त बैंड दिखाई देता है, जो हरा था और यह आपतित प्रकाश की तुलना में अधिक तरंगदैर्घ्य का था। पानी में उसका पथ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। शुरुआत में इसके लिए पानी में अशुद्धियों को जिम्मेदार ठहराया गया था। लेकिन बाद के प्रयोगों से पता चला कि प्रकीर्णन वाले माध्यम (पानी) को शुद्ध करने के बाद भी पानी में इसका पथ स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

सन 1924 में, रमन को 'फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी' के सम्मान से नवाजा गया और इसके बाद वे वहां ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द अड्वान्समेंट ऑफ साइंस की बैठक में भाग लेने गए। वहां उन्होंने कॉम्पटन का एक व्याख्यान सुना। इसमें उन्होंने बताया कि कैसे स्थिर एलेक्ट्रॉनों द्वारा आपतित एक्स-रे (एक्स-

किरणों) के तरंग दैर्ध्य को बढ़ाया जाता है यानी उनकी आवृत्ति कम की जाती है। आपको याद होगा की तरंग दैर्ध्य और आवृत्ति से ही वेग का जन्म होता है। गणितीय रूप से हम लिखते हैं: c = v x जहां v और क्रमशः आवृत्ति और तरंग दैर्ध्य हैं। इस आविष्कार का मतलब था कि एक्स-रे (एक्स-किरणों) की कुछ ऊर्जा का ह्रास हो रहा था। रमन खुलकर बात करते थे और जैसा कि स्टीयूर ने सन 1975 में लिखा है, उन्होंने कॉम्पटन को सबसे पहले बताया था कि, 'आप एक अच्छा वाद-विवाद करने वाले व्यक्ति हैं, लेकिन आपकी बातों में सच्चाई नहीं है।' परंतु जैसा की हम देखते हैं की रमन ने एक्स-रे (एक्स-किरणों) के इस गुण के बारे में सोचना कभी बंद नहीं किया।

इस यात्रा के बाद उन्होंने 1924 में कनाडा और अमेरिका की यात्रा की। ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस ने रमन की टोरंटो (कनाडा) की उनकी यात्रा का समर्थन किया और उन्होंने अपने पसंदीदा विषय प्रकाश-प्रकीर्णन पर चर्चा करने के लिए एक सम्मेलन का उद्घाटन किया। फिर वे अमेरिका चले गए। वहां उन्होंने फ्रैंकलिन संस्थान के शताब्दी समारोह में भाग लिया। फिर वे 'कैलिफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी' गए। नॉर्मन ब्रिज लेबोरेटरी में अगले चार महीनों के लिए प्रोफेसर मिलिकन उनके मेजबान थे। उन्होंने प्रसिद्ध माउंट विल्सन वेधशाला का दौरा भी किया। इस यात्रा ने उन्हें बड़ी संख्या में प्रख्यात वैज्ञानिकों के साथ विस्तृत चर्चा करने का अवसर प्रदान किया। वहां के लोगों के साथ रमन ने अच्छे संबंधबना लिए थे।

1927 में, कॉम्पटन को उनके काम के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। लेकिन उससे बहुत पहले, रमन ने आश्चर्य करना शुरू कर दिया था कि क्या 'कॉम्पटन प्रभाव' का कोई प्रकाशीय समकक्ष हो सकता है। इसका मतलब यह है कि, जिस तरह एक्स-रे और इलेक्ट्रॉनों के बीच ऊर्जा हस्तांतरण और कक्षीय आवृत्ति में परिवर्तन होते हैं, वे प्रकाश कणों (फोटॉन) और अणुओं के बीच भी हो सकते हैं। दरअसल एक दिन रमन और उनके भाई सी. एस. अय्यर उस समय आई.ए.सी.एस. में ही थे जब के. एस. कृष्णन उनके कमरे के अंदर आए। वो देखने से ही उत्साहित लग रहे थे और तभी उन्होंने रमन को बताया कि कॉम्पटन ने एक्स-रे (एक्स-किरणों) और इलेक्ट्रॉनों के बीच आदान-प्रदान पर अपने काम के लिए नोबेल पुरस्कार जीता था। रमन ने बड़ी मुस्कान और प्रशंसा के साथ कहा कि यह बहुत ही अच्छी खबर है। यदि यह एक्स-रे (एक्स-किरणों) के लिए सच है, तो यह प्रकाश के लिए भी सही होना चाहिए, उन्होंने कहा।

जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं, रमन प्रभाव रातों रात नहीं खोजा गया था। रमन ने लगातार पांच साल से भी अधिक तक प्रकीर्णन पर कार्य किया और एक के बाद एक छात्र को प्रकीर्णन या उससे जुड़े हुए दूसरे विषयों पर काम करवाते रहे। कई अन्य छात्र और कर्मचारी भी लगातार पांच साल से प्रयोग कर रहे थे।

उन्होंने कभी तरल पदार्थ बदले, कभी वाष्प का उपयोग किया, कभी ठोस पदार्थ का भी उपयोग किया लेकिन किसी ने कभी ये नहीं सोचा था कि 'क्षीण प्रतिदीप्ति' सच में प्रतिदीप्ति नहीं है। एक समस्या यह थी कि हरी धारी बहुत शिथिल थी, जिसका गहराई से अध्ययन करना मुश्किल था। आने वाले वर्षों में वेंकटेश्वरन, कृष्णन, रामदास, एस. भगवंतम और अन्य ने भी प्रकीर्णन पर काम करना जारी रखा। लेकिन स्पष्टीकरण भ्रांतिजनक ही रहा। स्वयं रमन भी भ्रमित थे।

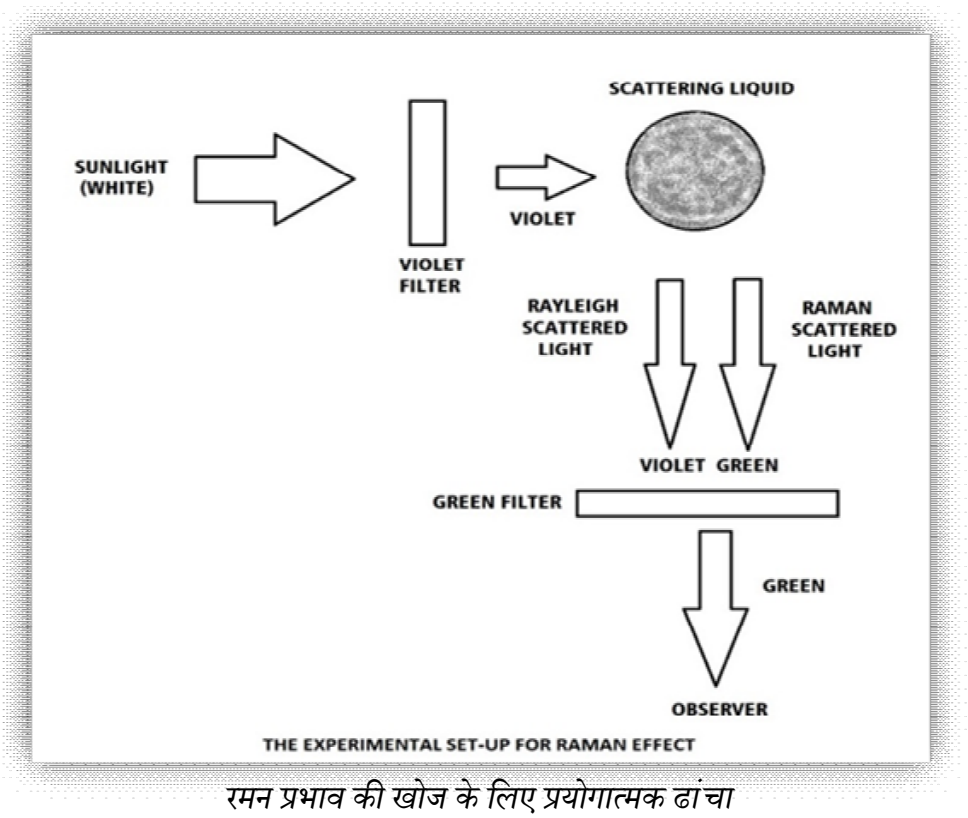

रमन प्रभाव की खोज के लिए प्रयोगात्मक ढांचा

के. एस. कृष्णन ने कहा कि जब 'क्षीण प्रतिदीप्ति' बनी रहती थी तो अक्सर रमन भी भ्रमित हो जाते थे। वह यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि यह प्रतिदीप्ति थी। हालांकि बाद में काम रोक दिया गया लेकिन के. एस. कृष्णन ने जनवरी 1928 में काम फिर से शुरू किया। वर्ष 1928 का फरवरी महीना बहुत ही रोमांचकारी रहा जिसमें रमन प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा और समझा गया था।

प्रयोग का ढांचा बहुत ही साधारण था। सूर्य का प्रकाश एक बैंगनी रंगके निस्पादक एवं यूरेनियम के शीशे से गुजरते हुए द्रव्य (पानी या बेन्ज़ीन या अन्य) पर जा के पड़ेगा और अनुप्रस्थ बिंदु पर इसका पर्यवेक्षण कर लिया जाएगा।

के. एस. कृष्णन का नाम उनके गुरु रमन जितना प्रसिद्ध नहीं था, लेकिन उनका नाम उस खोज से अलग नहीं किया जा सकता, जिसकी वजह से रमन को नोबेल पुरस्कार मिला था। वास्तव में इस प्रभाव को रमन-कृष्णन प्रभाव भी कहा जाता है।

यहां 5 से 28 फरवरी 1928 के बीच के समीक्षात्मक दिनों के दौरान जब रमन प्रभाव की खोज हुई थी, कृष्णन की डायरी के कुछ अंश यहां दिए गए हैं।

5 फरवरी, 1928

पिछले तीन या चार दिनों से मैं अपना सारा समय प्रतिदीप्ति के लिए समर्पित कर रहा हूं। यह विषय अनुसंधान के एक विस्तृत क्षेत्र को खोलने का वादा करता है, क्योंकि वर्तमान में प्रतिदीप्ति का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जो ज्ञात तथ्यों की व्याख्या कर सके।

मैंने एन्थ्रेसीन के वाष्प का अध्ययन किया। यह सशक्त विवर्तन प्रदर्शित करता है लेकिन इसे जब भी डबल इमेज प्रिज्म के द्वारा देख जाता है तो इसमें किसी भी तरह का ध्रुवीकरण दिखाई नहीं देता। प्रोफेसर रमन भी मेरे साथ हर समय काम कर रहे हैं।

हाल ही में, प्रोफेसर रमन, वेंकटेश्वरन के साथ मिलकर कुछ सुगंधित तरल पदार्थोंजिनमें सूर्य के प्रकाश में विद्यमान पराबैंगनी क्षेत्र के पास प्रतिदीप्ति दिखाई देती है और उनमें से कुछ तरल पदार्थों में प्रतिदीप्ति का सशक्त ध्रुवीकरण प्रतीत होता है पर कार्य कर रहे थे। लेकिन चूंकि एन्थ्रेसीन वाष्प में कोई ध्रुवीकरण नहीं देखा गया था, प्रोफेसर ने मुझसे पूछा कि तरल पदार्थों में ध्रुवीकरण के बारे में उनके पर्यवेक्षणों की दोबारा जांच क्यों न करें।

7 फरवरी, मंगलवार

कुछ सुगंधित तरल पदार्थों द्वारा पराबैंगनी क्षेत्र के पास दिखाई गई प्रतिदीप्ति के ध्रुवीकरण को सत्यापित करने का प्रयास किया। संयोग से, यह पाया गया कि सभी शुद्ध तरल पदार्थ दृश्य प्रकाश में भी काफी तीव्र प्रतिदीप्ति प्रदर्शित करते हैं सबसे ज्यादा रोमांचित करने वाली बात तो यह है कि सभी में सशक्त ध्रुवीकरण पाया गया और यह भी की सुगंधित तरल पदार्थ स्निग्ध तरल पदार्थों की तुलना में अधिक सशक्तता से ध्रुवीकृत होते हैं। वास्तव में, आपतित प्रकाश का ध्रुवीकरण आमतौर पर प्रकीर्ण प्रकाश के ध्रुवीकरण के

साथ-साथ चलता हुआ दिखाई देता है। अर्थात्, यदि अणुओं का प्रकाशिक घनत्व कम है, तो ध्रुवीकृत प्रकाश अधिक ध्रुवीकृत होता है।

जब मैंने प्रोफेसर को निष्कर्षों के बारे में बताया, तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि सभी तरल पदार्थ प्रदीप्ति के ध्रुवीकरण को प्रदर्शित कर सकते हैं, यहां तक कि दृश्य क्षेत्र में भी। जब वे कमरे में आए, तो मेरे पास टैंक में एक पेंटेन का बल्ब, आपतित प्रकाश के पथ में नीले-बैंगनी रंग के निस्पादक थे। जब उन्होंने हरे और पीले रंग के निस्पादकों के मेल से आपतित प्रकाश के पथ को देखा तो उन्होंने टिप्पणी की, 'कृष्णन, कहीं आप यह सुझाव तो नहीं दे रहे हैं कि यह सब प्रदीप्ति है'। लेकिन जब उन्होंने हरे और पीले रंग के संयुक्त प्रकाश को आपतित प्रकाश के पथ में रखा, तो उन्हें इसके पथ का कोई निशान नहीं मिला। वह बहुत रोमांचित हो उठे और उन्होंने बार-बार कहा कि यह निष्कर्ष बहुत ही आश्चर्यजनक था। तरल पदार्थों की एक पूरी श्रृंखला का एक के बाद एक परीक्षण किया गया, और बिना किसी अपवाद के प्रत्येक ने इस अद्भुत घटना को दर्शाया॥ उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया, फिर पांच साल तक हमें यह सब कैसे नहीं मिला।

दोपहर में प्रदीप्त प्रकाश के ध्रुवीकरण के कुछ माप लिए। रात के खाने के बाद वेंकटेश्वरन और मैं कमरे में बातें कर रहे थे कि अचानक रात करीब 9 बजे प्रोफेसर आए और उन्होंने मुझे बुलाया। जब हम नीचे गए, तो हमने देखा कि वह बहुत उत्साहित थे और उन्होंने मुझे कहा कि सुबह हमने जो देखा वह क्रेमर-हाइजेनबर्ग प्रभाव था जिसे हम इतने दिनों से ढूंढ रहे हैं। इसलिए हम सहमत हुए कि इस प्रभाव को 'परिवर्तित प्रकीर्णन' कहा जाना चाहिए। जब हम अपने घर के सामने खड़े होकर पंद्रह मिनट से ज्यादा तक बातें करते रहे तो उस समय उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यह खोज बहुत ही रोमांचक है।

8 फरवरी, बुधवार

कुछ तरल पदार्थों में, रूपांतरित प्रकीर्णन के ध्रुवीकरण के कुछप्राथमिक माप लिए गए।

9 फरवरी, गुरुवार

सुबह एक लंबी दूरबीन स्थापित वाष्पों के साथ इसके प्रभाव के प्रेक्षण की व्यवस्था की गई। व्यवस्था पूरी होने से कुछ समय पूर्व ही, प्रोफेसर कॉलेज में अपने व्याख्यान के लिए वहां से रवाना हो गए।

दोपहर में ईथर वाष्प के साथ प्रेक्षण की कोशिश की और आश्चर्यजनक रूप से, परिवर्तित विकिरण काफी स्पष्ट था। कई अन्य वाष्पों के साथ भी क्रमिक रूप से प्रयास किया गया, लेकिन इतनी सफलता नहीं मिली।

करीब तीन बजे जब प्रोफेसर कॉलेज से लौटे तो मैंने उन्हें निष्कर्ष बताया। यदि वे स्वयं भी वही प्रयोग करना चाहते तो अभी भी पर्याप्त धूप बाकी थी। वह खुशी से झूमते हुएहर समय यही कह रहे थे कि यह अविष्कार प्रथम श्रेणी का है। व्याख्यान के दौरान उन्हें खेद था कि वे प्रयोग के लिए उपस्थित नहीं हो सके। लेकिन उन्हें पूरा भरोसा था कि मैं उस समय तक आराम से नहीं बैठूँगा जब तक कि त्वरित्रों में इस घटना की खोज ना कर लूं। खोजने में गलती नहीं करने दूंगा। उन्होंने मुझे सभी को प्रभाव देखने के लिए आमंत्रित करने को कहा। नाटकीय रूप से उच्च तापमान वाली वाष्प में इसकी जांच के लिए तुरंत व्यवस्थाकी गई।

शाम इसी व्यस्तता में गुज़र गई। जब प्रोफेसर शाम को टहलने के बाद वापस लौटे तो उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे इसी तरह इस से भी बड़ी समस्याओं को हल करना चाहिए। उन्होंने मुझसे इस काम के पूरा होने के बाद, एक दूसरे के इर्दगिर्द घूमते ऋणावेशित अणुओं के प्रायोगिक साक्ष्य एकत्र करने की समस्या का हल ढूंढने के लिए कहा।

10 से 15 फरवरी

यद्यपि कई वाष्पों का अध्ययन किया गया है और उनमें से बहुतों में यह प्रभाव देखा गया है, फिर भी परिवर्तित प्रकीर्णन के ध्रुवीकरण के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

16 फरवरी, गुरुवार

आज हमने उच्च तापमान में पेंटेन वाष्प का अध्ययन किया और यह स्पष्ट रूप से परिवर्तित प्रकीर्णन वाले ध्रुवीकरण को दर्शाता है। हमने इस विषय पर आज नेचर पत्रिका को एक लेख भेजा है जिसका शीर्षक था: "एक नई तरह का माध्यमिक विकिरण"।

17 फरवरी, शुक्रवार

प्रोफेसर ने पेंटेन वाष्प में प्रदीप्ति के ध्रुवीकरण की पुष्टि की। मुझे अपनी बायीं आंख में कुछ दर्द महसूस हो रहा है। प्रोफेसर ने कुछ समय के लिए स्वयं अवलोकन करने का वादा किया है।

19 से 26 फरवरी

कई अन्य वाष्पों का अध्ययन किया गया।

27 फरवरी, सोमवार

आज घर में धार्मिक कार्यक्रम था। मैं संस्थान में नहीं गया।

28 फरवरी, मंगलवार

मैं दोपहर में संस्थान गया था। प्रोफेसर और मैंने आविष्कार पर आपतित प्रकाश की तरंग दैर्ध्य के प्रभाव की जांच करना शुरु किया। सामान्य नीले-बैंगनी निस्पादक के साथ यूरेनियम के शीशे का उपयोग किया गया था। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि इस संयोजन से गुजरने वाली तरंग दैर्ध्य की सीमा केवल नीले-बैंगनी निस्पादक का उपयोग करके प्राप्त की जाने वाली तरंग दैर्ध्य की सीमा की तुलना में बहुत संकीर्ण है। प्रत्यक्षदर्शी स्पेक्ट्रोस्कोप के माध्यम से देखने पर हमें एक चौंकाने वाली वास्तविकता का पता चला कि परिवर्तित प्रकीर्णन को आपतित प्रकाश जनित मूल प्रकीर्णन ने एक अंधेरे क्षेत्र द्वारा अलग कर दिया था।

तालिका-1

रमन प्रभाव को रैले प्रकीर्णन और प्रदीप्ति से अलग बनाते तथ्य

घटना	क्या इससे निकलने वाला विकिरण ध्रुवीकृत्त है?	क्या इससे निकलने वाले विकिरण का तरंग दैर्ध्य बदल गया है?
प्रदीप्ति	नहीं	हां
रमन प्रभाव*	हां	हां
रैले प्रकीर्णन	हां	नहीं

* शुरुआत में क्षीण प्रदीप्ति कहा गया था।

प्रकीर्णनित विकिरण को सटीक रूप से मापने के लिए, यह आवश्यक है कि यह पर्याप्त रूप से सशक्त हो। इसके लिए आपतित विकिरण भी तेज होना चाहिए। 28 फरवरी, 1928 तक रमन प्रभाव का पहला अवलोकन हाथों से प्रयोग करके ही किया गया था जिसमें प्रयवेक्षक सीधा आंखों से ही इस प्रभाव के परिणामस्वरूप बनने वाली विस्तृत श्रेणी की धारियों की जांच करता था। रमन और उनका दल ऐसा करने में कुशल था, और यहां तक कि अतिरिक्त आवृत्तियों (क्षीण विकिरण) को भी खोज लिया गया था। तब तक, यह स्पष्ट नहीं था कि यह प्रदीप्ति है या प्रकीर्णनित विकिरण, क्योंकि तब तक ध्रुवीकरण माप नहीं लिया गया था। लेकिन प्रकाशन के लिए वस्तुनिष्ठ अवलोकनों का होना आवश्यक था।

असल में, यह प्रयोग 1923 में ही शुरू कर दिया गया था, इसके उपरांत भी उनके दल के सभी लोग संशय में थे। जब भी छात्र अतिरिक्त धारी को 'क्षीण प्रदीप्ति' ही बताते थे तो रमन भी भ्रमित हो जाते थे। शुरू में यह सोचा गया था कि यह माध्यम में मौजूद अशुद्धियों के कारण हो सकता है। हालांकि, प्रकीर्णन माध्यम के बार-बार शुद्धिकरण के बावजूद भी प्रतिदीप्ति बनी रही। कई अन्य द्रव्यों का भी प्रयोग किया गया। प्रतिदीप्ति दृश्यमान थी भले ही उसका माध्यम ठोस, तरल या गैसीय हो, और यह बहुत ही क्षीण होती थी। वास्तव में, जब सूर्य के प्रकाश को स्रोत के रूप में उपयोग किया जाता था, तब आपतित प्रकाश सशक्त नहीं हो सकती थी। एक पारा चाप दीपक सूर्य के प्रकाश से बेहतर स्रोत था। लेकिन तब खोज करना और भी अधिक कठिन हो जाता था।

इस तरह इसकी खोज की गई। अतिरिक्त प्रकाश अशुद्धियों के कारण नहीं था। 'नए विकिरण' का सशक्त ध्रुवीकरण और इसकी 'क्षीण प्रदीप्ति' से ही ये पता लगा कि यह प्रकीर्णन का परिणाम था।

रमन ने यह समाचार 28 फरवरी, 1928 को संचार माध्यमों को दी और अगले दिन 29 फरवरी को यह प्रकाशित हुआ। चूंकि हरे रंग की धारी क्षीण थी, इसका विस्तार से अध्ययन नहीं किया गया था, इसलिए रमन की पहली रिपोर्ट गलत थी। उन्होंने बताया कि आपतित प्रकाश के प्रकीर्णन का माध्यम चाहे जो भी हो हर व्यक्ति को यह हरे रंग की धारी दिखेगी। घटना प्रकाश प्रकीर्णन माध्यम की परवाह किए बिना एक ही पट्टी देखी जा सकती है। वास्तव में, उन्होंने कृष्णन के साथ मिलकर यह पाया कि प्रकीर्णन की आवृत्ति प्रकीर्णन माध्यम पर निर्भर करती है। यही कारण है कि रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी प्रकीर्णन माध्यम और उसकी संरचना का अध्ययन करने के लिए एक महान उपकरण है। संशोधित निष्कर्ष बाद में 16 मार्च को बेंगलुरु में प्रस्तुत किए गए। भ्रांति का कारण यह था कि सीधे आंखों से देखकर क्षीण रेखाओं का गहन अध्ययन करना कठिन था। रमन ने एक के बाद एक ऐसे शोध पत्र भेजे। वास्तव में, यह रमन या कृष्णन के साथ मिलकर 5 जून 1928 तक 5 लेखों को प्रकाशित किया गया।

अधिक विस्तृत अध्ययनों के लिए बेहतर माप की आवश्यकता थी (जो यह साबित करेगा कि 'नया विकिरण' ध्रुवीकृत था और प्रदीप्ति नहीं) जो कभी-कभी अच्छे उपकरणों पर निर्भर करता है।

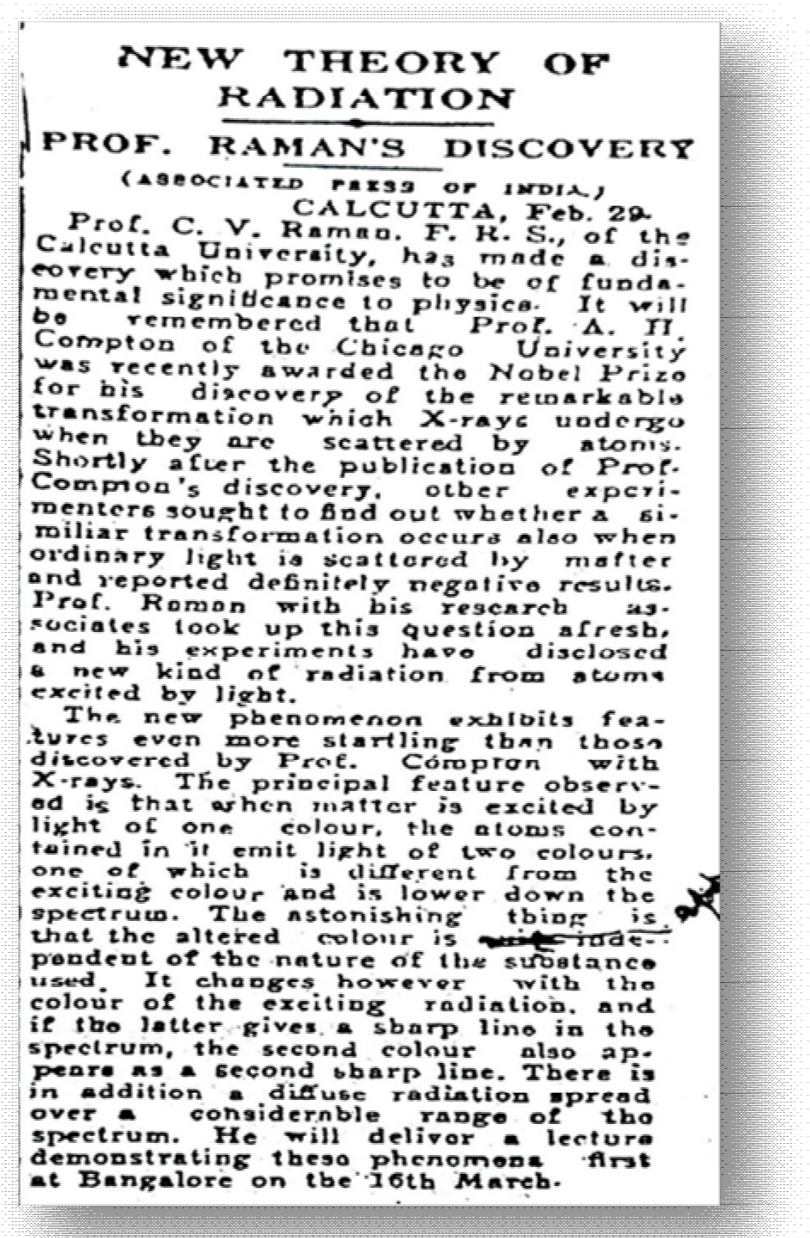

NEW THEORY OF RADIATION

PROF. RAMAN'S DISCOVERY

(ASSOCIATED PRESS OF INDIA.)

CALCUTTA, Feb. 29.

Prof. C. V. Raman, F. R. S., of the Calcutta University, has made a discovery which promises to be of fundamental significance to physics. It will be remembered that Prof. A. H. Compton of the Chicago University was recently awarded the Nobel Prize for his discovery of the remarkable transformation which X-rays undergo when they are scattered by atoms. Shortly after the publication of Prof. Compton's discovery, other experimenters sought to find out whether a similiar transformation occurs also when ordinary light is scattered by matter and reported definitely negative results. Prof. Raman with his research associates took up this question afresh, and his experiments have disclosed a new kind of radiation from atoms excited by light.

The new phenomenon exhibits features even more startling than those discovered by Prof. Compton with X-rays. The principal feature observed is that when matter is excited by light of one colour, the atoms contained in it emit light of two colours, one of which is different from the exciting colour and is lower down the spectrum. The astonishing thing is that the altered colour is [redacted] independent of the nature of the substance used. It changes however with the colour of the exciting radiation, and if the latter gives a sharp line in the spectrum, the second colour also appears as a second sharp line. There is in addition a diffuse radiation spread over a considerable range of the spectrum. He will deliver a lecture demonstrating these phenomena first at Bangalore on the 16th March.

रमन प्रभाव की खोज की सफलता संबंधित 29 फरवरी 1928 को समाचार पत्रों में छपी खबर।

रमन प्रभाव का छायाचित्र एक उपकरण से लिया जाना था। 28 फरवरी 1928 को मिली सफलता के बाद इस उपकरण द्वारा यह संभव हो सका॥

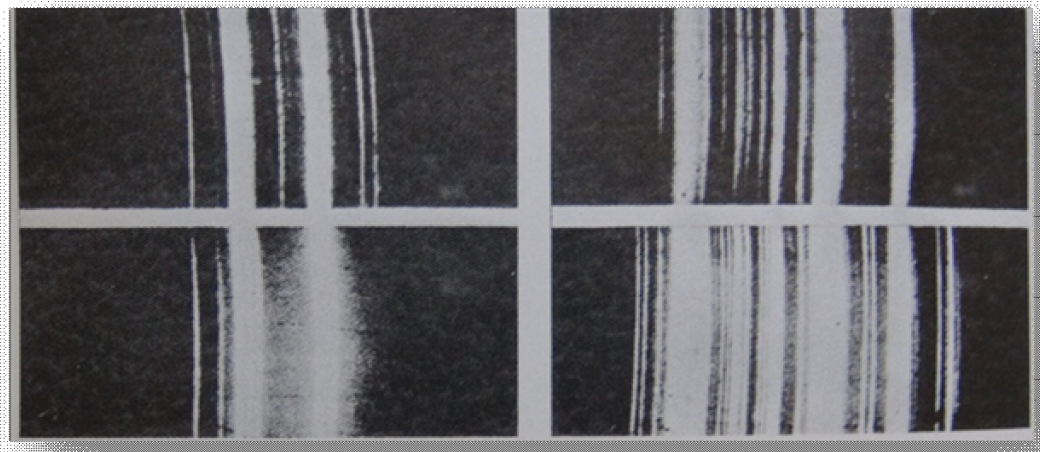

16 मार्च 1928 को रमन ने बैंगलोर में अपने एक व्याख्यान में इस तरह का वर्णपट्ट (स्पेक्ट्रा) दिखाया था। यह लगभग खोज के दो हफ्ते बाद की बात है।

5. बैंगलोर में नया घर

संस्थानों के संस्थापक और प्रतिभा के समर्थक के तौर पर रमन

अब रमन का नाम और प्रसिद्धि अपने चरम पर था और खासकर तब जब वर्ष 1930 में उन्होंने नोबेल पुरस्कार जीता। वर्ष 1933 में, उन्हें बताया गया कि भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर को एक निदेशक की आवश्यकता है। रमन को कभी भी प्रशासनिक कार्य पसंद नहीं था। हालाँकि उन्हें वित्तीय प्रशासनिक सेवा में एक बहुत ही कुशल अधिकारी माना जाता था। उस समय भारतीय विज्ञान संस्थान में कोई भौतिकी विभाग नहीं था और भौतिकी विषय को बढ़ावा देने का यह एक अच्छा अवसर था। इसलिए प्रारंभिक अनिच्छा के बाद भी रमन ने वर्ष 1933 में भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर में निदेशक का पद ग्रहण कर लिया। वह न केवल संस्थान के पहले भारतीय निदेशक थे, बल्कि अब तक के सब अंग्रेज निदेशकों में से भी सबसे अलंकृत भी थे।

अगले वर्ष उन्होंने भारतीय विज्ञान अकादमी की भी स्थापना की और शोध प्रकाशित करने के लिए एक पत्रिका शुरू की। वह पत्रिका के कार्य के प्रति बहुत सचेत थे और इस बात को भली-भांति जानते थे कि परिणामों के प्रकाशन में देरी के कारण किसी को उसका उचित श्रेय भी नहीं मिल सकता है। इसीलिए, उसी वर्ष उन्होंने अकादमी की कार्यवाही शुरू कर दी। वह यह सुनिश्चित करते थे कि पत्रिका समय पर प्रकाशित हो और उसमें अच्छे शोध पत्र प्रकाशित हों इसके लिए संपादन से लेकर समीक्षाओं के निरीक्षण तक हर संभव प्रयास करते थे।

लेकिन उनकी प्रवृत्ति व्यवस्था की अपेक्षा के अनुकूल नहीं थी। वह वर्ष 1937 तक ही निदेशक रहे। उसके बाद उन्होंने भौतिकी विभाग के प्रमुख और प्रोफेसर के रूप में वहां काम करना जारी रखा। अनुभव ने उन्हें बहुत चीजें सिखाईं। उन्होंने एक ऐसे संगठन का स्वप्न देखा जो सरकारी व्यवस्था की बाधाओं से मुक्त हो। अब वह एक निदेशक नहीं थे, लेकिन उनकी उपलब्धियों के कारण उनका बहुत सम्मान किया जाता था।

बैंगलोर में रहते हुए, रमन ने प्रकाश विज्ञान में शोध किया। नागेंद्रनाथ के साथ काम करते हुए, उन्होंने प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज में पांच शोधपत्रों की एक श्रृंखला प्रकाशित की। उन्होंने पता लगाया कि विभिन्न गैर-सजातीय माध्यम से तरंगें कैसे यात्रा करती हैं। रमन ने कई अन्य क्षेत्रों जैसे की मणिभ की गतिकी और वृद्धि, चुंबकत्व, चुंबक-प्रकाशिकी और उच्च आवृत्तियों पर तरल पदार्थों की

चिपचिपाहट पर भी शोध किया। उनके छात्रों ने हीरों की एक विस्तृत विविधता का अध्ययन किया। इसमें 140 कैरेट का एक विशाल हीरा भी शामिल था। उन्हें दरभंगा के महाराजा से दो दिनों के लिए उधार लिया गया था। बाद में, रमन के पास हीरे और अन्य मणिभों का एक बड़ा संग्रह था, जो अब 'रमन अनुसंधान संस्थान' के संग्रहालय का एक हिस्सा हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध ने उनको एक और संभावना दिखाई। भाभा कैंब्रिज नहीं जा सके। रमन ने सुनिश्चित किया की वह भारतीय विज्ञान संस्थान में किसी पद का कार्यभार संभाल लें। उस समय यूरोप में और भी बहुत बुद्धिमान भौतिक विज्ञानी थे, जिन्हें बैंगलोर लाया जा सकता था और रमन ने यह जल्द ही समझ लिया था। उन्होंने उच्च श्रेणी के विदेशी वैज्ञानिकों को भारत लाने के लिए हर संभव प्रयास किया। मैक्सबॉर्न, श्रोडिंगर, सोमरफील्ड और कई अन्य वैज्ञानिकों के नाम भी उनकी सूची में सम्मिलित थे। इनमें मैक्सबॉर्न भारत आए और छह महीने तक यहां रहे। लेकिन कुछ लोगों को यह पसंद नहीं आया और स्थानीय कारणों से यह कार्यक्रम ज्यादा दिन तक नहीं चल सका।

रमन नौकरशाही की बाधाओं से परेशान हो गए थे। वह समझ गए थे कि बिना सांठगांठके सरकार से धन प्राप्त करना असंभव है। इसलिए उन्होंने एक नया संगठन स्थापित करने का फैसला किया। उन्होंने सेवानिवृत्त होने के दो साल पहले से ही अपनी तैयारी शुरू कर दी थी। उन्होंने अपने स्रोतों के उपयोग से और सार्वजनिक निधिकरण जिसमें वर्ष 1934 में मैसूर के महाराजा द्वारा संस्थान की स्थापना के लिए दी गई 10 एकड़ जमीन भी सम्मिलित है आदि स्रोत इकट्ठे करना शुरु कर दिया था। इस सब में समय लगा परंतु वर्ष 1948 में सेवानिवृत्त होते ही उसी वर्ष से उन्होंने स्वयं को 'रमन रिसर्च इंस्टीट्यूट' और 'इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज' के काम के लिए खुद को समर्पित कर दिया। इस से पहले की 'रमन रिसर्च इंस्टीट्यूट' बन के पूरी तरह तैयार होती और बिजली का कनेक्शन लिया जाता रमन ने वहां काम करना शुरू कर दिया था। आखिरकार उनकी जरूरतें प्रिज़म, शीशे, निस्पादक, जाली, स्पेक्टरोग्राफ और सूरज की रोशनी जैसी छोटी चीजों तक सीमित थीं।

रमन को बौद्धिक प्रतिभाओं की देखभाल करने के साथ ही उनको प्रोत्साहित भी करते थे। बहुत कम लोग जानते हैं कि भाभा और विक्रम साराभाई कुछ समय के लिए भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर में थे और वहां से वे परमाणु ऊर्जा और अंतरिक्ष विज्ञान के नए क्षितिज पर गए। यह रमन थे जिन्होंने भाभा को'रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप' पाने के लिए समर्थन दिया था। वास्तव में रमन ने भाभा के चयन का समर्थन करने के लिए लखनऊ में बीरबल साहनी को भी पत्र लिखा था ताकि उनका चयन सुनिश्चित हो सके। भाभा ही

अकेले नहीं थे जिनके लिए रमन ने प्रयास किया। के. एस. कृष्णन और एस. चंद्रशेखर का चयन भी उनकी कोशिशों का ही परिणाम था।

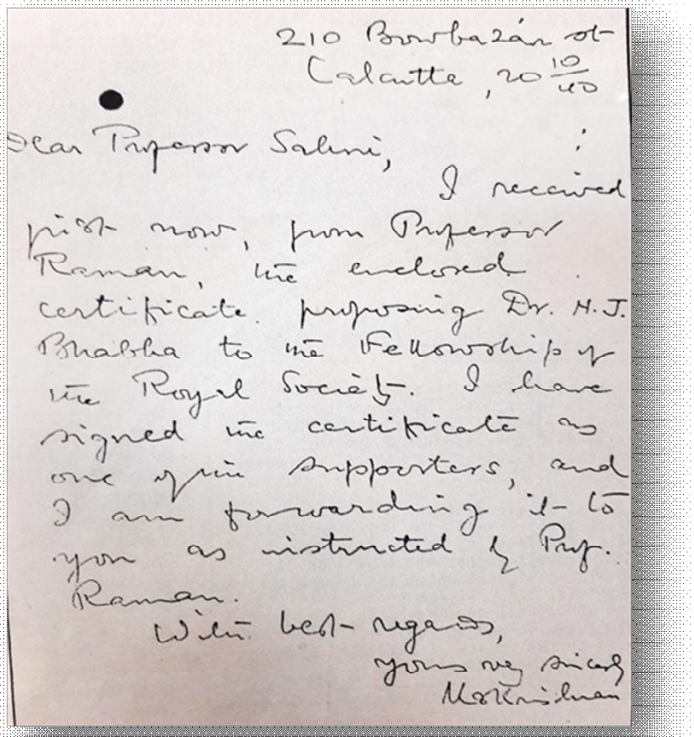

210 Bowbazar St
Calcutta, 20/10/40

Dear Professor Saha,

I received just now, from Professor Raman, the enclosed certificate proposing Dr. H.J. Bhabha to the Fellowship of the Royal Society. I have signed the certificate as one of his supporters, and I am forwarding it to you as instructed by Prof. Raman.

With best regards,
Yours very sincerely
Meghnad Saha

प्रो. रमन ने भाभा को 'रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप' पाने के लिए नामांकित किया और उनके चयन के लिए समर्थन जुटाने की कोशिश भी की।

एक बार बैंगलोर आने के बाद रमन फिर वहीं रहे। उन्होंने अपनी सारी ऊर्जा अकादमी और इसकी शोध पत्रिका में लगा दी और बाद में 'रमन रिसर्च इंस्टीट्यूट' में।

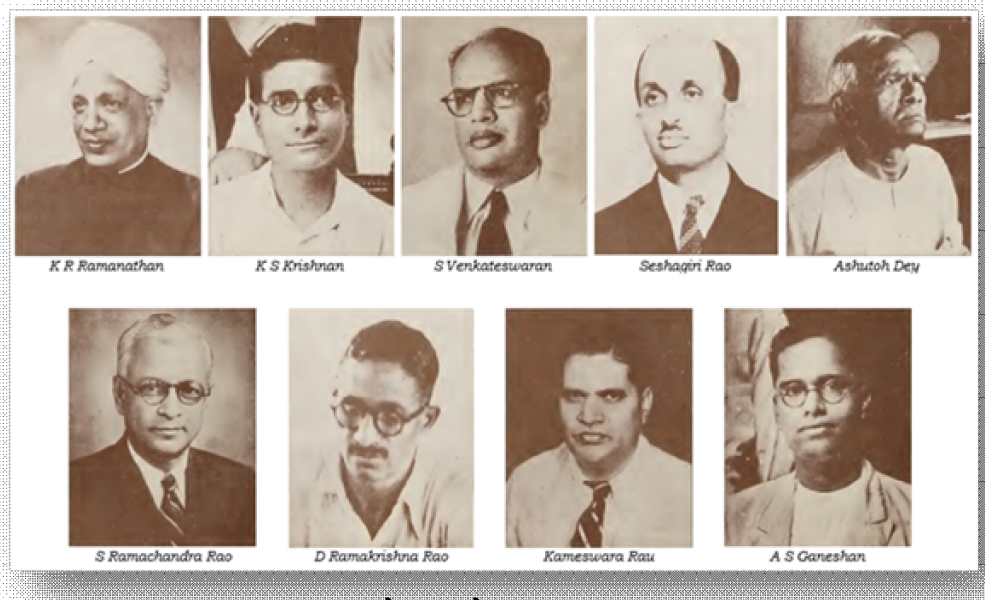

प्रो. रमन के कुछ छात्र

6. रमन प्रभाव के प्रभाव

रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी (आरएस) के कुछ उपयोग

भौतिकी में कुछ आविष्कारों ने अन्य क्षेत्रों और उद्योगों को उतना ही प्रभावित किया है जितना कि रमन स्पेक्ट्रोमीटर ने किया है। रदरफोर्ड ने कहा, 'रमन प्रभाव पिछले दशक की प्रायोगिक भौतिकी की पहली तीन या चार श्रेष्ठ खोजों में से एक होना चाहिए।' इसका प्रभाव समय के साथ बढ़ता ही रहा है। शुरू में इसमें केवल भौतिकीविदों की दिलचस्पी थी लेकिन बाद में रसायनशास्त्रियों ने भी इस प्रभाव का फायदा उठाना शुरू कर दिया।

आमतौर पर देखा गया है कि किसी खोज या आविष्कार के बाद लोग उसका जिक्र करते रहते हैं या बहुत से लोग उसके निष्कर्षों का उपयोग करते रहते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता है, 'शोधपत्र का उद्धरण देने' की प्रायिकता धीमी हो जाती है। कम से कम लोग उस ज्ञान के आधार पर नए समाधान खोजने की प्रवृत्ति कम होती जा रही है। लेकिन जिन लोगों ने रमन के शोध की पहुंच, प्रभाव और उद्धरणों का अध्ययन किया है, उन्हें पता चला कि कुछ अलग हो रहा है। वैज्ञानिक साहित्य (साइंटोमेट्रिक स्टडीज) के विश्लेषणात्मक अध्ययन की रिपोर्ट बनाने वाले लोगों ने देखा कि रमन के पत्रों के उद्धरण समय के साथ बढ़ते रहे हैं और अब 7,000 तक पहुंच गए हैं। दरअसल, कई सालों तक ये आंकड़े हर साल दोगुने हो रहे थे। इनमें से अधिकांश भौतिकी पर आधारित शोधपत्र थे। केवल यही नहीं, जब 1960 के दशक में लेजर का उपयोग शुरु हुआ और फूरियर ट्रांसफॉर्म तकनीक विकसित हो गई और बड़े पैमाने पर डाटा का प्रबंधन सक्षम करने वाले कंप्यूटरों का आगमन हुआ, रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग फिर से बढ़ गया। आज, इसका उपयोग विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है। वास्तव में रसायन विज्ञान, औषध विज्ञान, अन्य उद्योगों और भू-विज्ञानों में और उससे भी अधिक भौतिकी में इसका उपयोग किया जाता है।

रमन के कार्यों पर उद्धरणों की कुल संख्या अविश्वसनीय रूप से बहुत ज्यादा है। अगर उपयोग के आधार पर देखा जाए तो स्पेक्टरोस्कोपी इनमें से प्रमुख है। समय के साथ इन तकनीकों में काफी सुधार हुआ है। इन सुधारों से अब अधिक सटीक, बेहतर और तेज माप लिए जा सकते हैं। यह विश्लेषण अब मीटर के दस लाखवें हिस्से या उससे भी छोटी वस्तु तक संभव है। अगर देखा जाए तो पारंपरिक रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी में लगभग 1 वर्ग मिलीमीटर क्षेत्र को ही मापा जा सकता था लेकिन अब उपयुक्त लेजर का चयन करके नैनोमीटर के विभेदन स्तर पर या भूतल के नीचे काफी गहराई तक भी काम करना संभव है। इस क्षेत्र में

लोगों की रुचि इतनी बढ़ गई कि अब इसी विषय पर 'जर्नल ऑफ रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी' नाम की एक अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका भी प्रकाशित होती है।

30 दिसंबर 1930 को नोबेल पुरस्कार ग्रहण करते समय उन्होंने अपने व्याख्यान में ऐसे निष्कर्ष निकाले जिन्हें लगभग भविष्यसूचक कहा जा सकता है:

सब जानते हैं कि अब हम प्रायौगिक अनुसंधान के एक नए क्षेत्र की एक मनोरंजक सीमा पर पहुंच गए हैं जो विकिरण और तरंग सिद्धांत, एक्स-किरण प्रकाशिकी, परमाणुओं और अणुओं का वर्णपट्ट, प्रदीप्ति और प्रकीर्णन, ऊष्मा गतिकी और रसायन विज्ञान जैसे विभिन्न क्षेत्रों से जुड़ी समस्याओं का समाधान निकालने का वादा करता है। यह सब हमें अभी हासिल करना है।

निम्नलिखित कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।

औषध एवं सौंदर्य प्रसाधन उद्योग

- दवा बनाने वाले विभिन्न औषधीय पदार्थों की क्रिस्टलीय संरचनाओं का विश्लेषण।
- दवा की गोली में सक्रिय संघटकों की एकरूपता आवश्यक है और रमन स्पेक्ट्रम संघटकों का एक समान वितरण हुआ है की नहीं यह अध्ययन करने के लिए उपयोगी है। इसी तरह, जब दो दवाओं का मिश्रण बनाया जाता है, तो उनकी समरूपता सुनिश्चित करने के लिए रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी उपयोगी होती है। यदि कोई समरूपता नहीं है, तो रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी से इसका भी पता चलता है।
- चूंकि रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी एक दूरस्थ, गैर-संपर्क एवं गैर-विनाशकारी विधि है, यह हमें स्वास्थय (इन विवो) विश्लेषण करने में भी सक्षम बनाता है।
- रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी त्वचा की गहराई के अध्ययन के लिए उपयोगी है क्योंकि यह विश्लेषण की एक गैर-विनाशकारी विधि है और प्रकाश ऊर्जा को नियंत्रित करती है।
- इन दिनों विदेशों से अक्सर कच्चे माल का आयात किया जाता है और विभिन्न देशों में नशीली दवाओं का निर्माण भी किया जाता है। रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग तब प्राप्त कच्चे माल के पाउडर के घटकों और शुद्धता को सत्यापित करने के लिए किया जाता है।

निषिद्ध दवाओं, खतरनाक पदार्थों जैसे की रेडियोधर्मी पदार्थों का दूर से पता लगाने के लिए

- कभी-कभी अनाधिकृत नशीली दवाओं को हवाई अड्डों पर जब्त कर लिया जाता है लेकिन कानूनी कारणों से उनके सीलबंद बैग नहीं खोले जा सकते। ऐसे में इसके घटकों का दूर से विश्लेषण करने के लिए रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग किया जाता है।
- रेडिओधर्मी पदार्थों से सुरक्षित दूरी बनाए रखनी होती है। रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके उनका दूर से ही विश्लेषण किया जा सकता है।

उत्पादन के मध्यम स्तर के चरणों का अध्ययन करने में

- उत्पादन के समय जब मध्यम स्तर के अस्थाई चरणों की निगरानी की जानी होती है (जैसे कि जब रंग सूख रहे हों या दवाएं विकसित हो रही हों), तो इससे संबंधित अध्ययन के लिए आवश्यक जानकारी रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके दूरस्थ रूप से ही प्राप्त की जा सकती है।

खनिज विज्ञान, रत्न विज्ञान, भू-विज्ञान में

- रत्नों का मूल्य निर्धारित करने के लिए एक मापदंड यह है कि इसमें कोई तरल पदार्थ नहीं होना चाहिए। यह जानकारी रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार उच्च या निम्न मूल्य के मणिभों, रत्नों का सत्यापन किया जा सकता है।
- प्रयोगशाला में भूवैज्ञानिक सामग्रियों जैसे की खनिजों और चट्टानों जैसे को प्रयोगशाला अध्ययनों के दौरान कृत्रिम रूप से अत्यधिक कठोर परिस्थितियों में उजागर किया जा सकता है और फिर रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके उनमें होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया जा सकता है।
- छोटी चट्टानें आमतौर पर सजातीय नहीं होती हैं। रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके चट्टान के एक टुकड़े में लवणों के वितरण (घुले हुए लवणों) और चरणों का विश्लेषण करने के लिए किया जा सकता है।

ग्रह विज्ञान और मौसम विज्ञान में

- बहुत से लोग नहीं जानते हैं कि नासा ने फरवरी 2021 में फिर से मंगल ग्रह पर रोवर्स (इससे पहले वर्ष 2004 में 'स्पिरिट' और 'ऑपर्च्युनिटी' को भी उतारा गया था) को उतारा था। रोवर 'परसेवेरेन्स' मंगल ग्रह की सतह पर इधर-उधर घूमते हुए विभिन्न चट्टानों पर रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का भी उपयोग कर रहा है, ताकि उनमें पाए जाने वाले विभिन्न लवणों की पहचान कर सके। रोवर 'परसेवेरेन्स' पर लेजर रमन स्पेक्ट्रोमीटर को मंगल ग्रह पर इसलिए भेज गया था ताकि वह पराबैंगनी लेजर का इस्तेमाल करके उच्च-गुणवत्ता के सादृश्य बिंब प्रदान करे और इसकी मदद से खनिजों और कार्बनिक यौगिकों का सटीक निर्धारण किया जा सके। यह पहली बार है जब 'स्कैनिंग हैबिटेबल एनवायरनमेंट विद रमन एंड ल्यूमिनेसेंस फॉर ऑर्गेनिक एंड केमिकल्स (SHERLOC) मंगल की सतह पर जाने वाला पहला पराबैंगनी रमन स्पेक्ट्रोमीटर है और यह पेलोड में अन्य उपकरणों के साथ, मंगल ग्रह के अतिरिक्त मापन प्रदान करेगा।

नासा का मंगल ग्रह अन्वेषण कार्यक्रम

- उल्कापिंड ऐसी चट्टानों के टुकड़े होते हैं जो अंतरिक्ष पिंडों, चंद्रमा या मंगल जैसे ग्रहों की चट्टानों से टूट कर पृथ्वी पर गिरते हैं। कोंड्राइट इन उल्कापिंडों का एक प्रकार है जो गोलाकार पर छोटे-छोटे (आमतौर पर आकार में 1 मिलीमीटर) अवयवों से बने होते हैं जिन्हें कोंड्रयूलस कहा जाता है। अकोंड्राइट उल्कापिंडों में कोंड्रयूलस नहीं होते हैं। कोंड्राइट और अकोंड्राइट उल्कापिंडों को बिना तोड़े उनकी पहचान करने के लिए रमन स्पेक्ट्रोमीटर का उपयोग किया जा सकता है।

प्राकृतिक और कृत्रिम पदार्थों जैसे कि कार्बन नैनोट्यूब और ग्राफीन के अध्ययन में

- कार्बन नैनोट्यूब और ग्राफीन जैसी कार्बन सामग्री पर शोध एक तेजी से उभरता हुआ विज्ञान है। ये सामग्रियां इलेक्ट्रॉनिक्स और स्टील से भी मजबूत सामग्री बनाने के लिए उपयोगी हैं। नैनोट्यूब आकार में बेहद सूक्ष्म होते हैं (मीटर का अरबवां हिस्सा), जबकि ग्राफीन दो आयामों में फैली एक परमाणु जितनी मोटी कार्बन परमाणुओं की परत होती है। ग्राफीन पारदर्शी होती है और इसमें उच्च विद्युत और तापीय चालकता के गुण होते हैं। ये बहुत मजबूत होने के साथ-साथ लचीली भी होती है। कार्बन सामग्रियों जैसे की एक परत वाली कार्बन नैनोट्यूब का शुद्धता, विकृति या विकार आदि की दृष्टि से विश्लेषण केवल रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके ही संभव है।
- रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी कंप्युटर हार्ड डिस्क के परीक्षण के लिए उपयोगी है।
- हीरे के परीक्षण सत्यापन और हीरे पर चढ़ाई गई परत के विश्लेषण और हीरे के गुणों जैसे कि कार्बन का पता लगाने में उपयोगी है।

अर्धचालक/ठोस अवस्था भौतिकी/इलेक्ट्रॉनिक्स में

अर्धचालक उद्योग आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक्स की नींव है। यह वही उद्योग है जिसने हमारे घरों में उपयोग किए जाने वाले उपकरणों का आकार काफी छोटा करना संभव बना दिया है। इस उद्योग में रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी के बहुत से उपयोग हैं जिनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं -

- अर्धचालक पदार्थों की शुद्धता का निर्धारण करने के लिए उपयोगी है।
- मिश्र धातुओं का उपयोग रक्षा और अंतरिक्ष विज्ञान उद्योगों में किया जाता है। मिश्र धातुओं का संयोजन या उसमें मिलाई गई धातुओंकी मात्रा जानने के लिए उपयोगी है।
- अत्यधिक सावधानी के साथ भी, किसी निर्मित वस्तु में अप्रत्याशित घटक की उपस्थिति का संदेह होता है। रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी इसके निर्धारण के लिए उपयोगी है।
- एक संरचना में विकृतियों का विश्लेषण करने के लिए उपयोगी है।
- एक संरचना में सदृशता के परीक्षण में उपयोगी है।
- n-प्रकार और p-प्रकार के अर्धचालकों (ट्रांजिस्टर बनाने में उपयोगी) को बनाते समय मिश्रण की मात्रा सुनिश्चित करने (उदाहरण के लिए p-प्रकार के बोरोन और फास्फोरस जो सिलिकॉन में n-प्रकार का हो को मिश्रित करते समय) के लिए उपयोगी है।

- प्रकाश के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए उपयोगी है।

जीव एवं चिकित्सा विज्ञान

- कोशिकाओं में नयूक्लेयिक अम्ल विद्यमान होते हैं जिनका अध्ययन इस विधी से किया जा सकता है।
- दवाएं मानव शरीर को प्रभावित करती हैं। रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके दवा लेने के बाद कोशिकाओं में परिवर्तन का पता लगाया जा सकता है।
- जब किसी को दवा दी जाती है तो इससे इसका पता लगाया जा सकता है कि दवा शरीर में कहां संग्रहित है और उसे देने के बाद उसमें क्या परिवर्तन हो रहे हैं।
- किसी रोग का पता लगाने के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है।
- इसका उपयोग करके जैव-अणुओं के लक्षणों या गुणों का अध्ययन किया जा सकता है।
- इसका उपयोग करके अस्थि-संरचना का अध्ययन और किसी पदार्थ की जैव-अनुकूलता का विश्लेषण किया जा सकता है।

कई प्रकार के विभिन्न उपयोग

- कॉनफोकल रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी का उपयोग करके मुद्रित कागज पर चढ़ाई गई परत का विश्लेषण भी किया जा सकता है। चढ़ाई गई परत की मोटाई (जैसे कैल्शियम कार्बोनेट और गोंद के मिश्रण से बने रंगद्रव्य) का पता लगाया जा सकता है और स्याही इस परत में कितनी गहराई तक प्रवेश करती है यह भी निर्धारित किया जा सकता है।
- रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी पानी के मात्रात्मक और गुणात्मक विश्लेषण को सक्षम बनाता है। रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी द्वारा प्रदूषकों का अनुमान लगाया जा सकता है जिसमें कार्बनिक अणुओं और लवणों दोनों का पता लगाना सम्मिलित है।
- फौरीयर ट्रांसफॉर्म इंफ्रारेड (एफटीआईआर) रमन विधि यह मापने की अनुमति देती है कि किसी सामग्री से गुजरने के बाद मूल प्रकाश स्रोत से निकले प्रकाश की कितनी प्रकाश ऊर्जा बची है। देखा जाए तो रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी, एक लेजर द्वारा संदीप्त होने पर कितनी ऊर्जा प्रकीर्णनित होती है, इसका एक माप प्रदान करती है। दोनों ही क्षीण-रंग प्रतिरूप की पहचान करते हैं। कभी-कभी महंगे खाद्य तेल जैसे कि जैतून के तेल में अखरोट के तेल जैसे सस्ते तेलों की मिलावट की जाती है। जब

एफटीआईआर रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी द्वारा इनका विश्लेषण किया जाता है तो मिलावट का पता लगाया जा सकता है।

7. सारांश और सबक

रमन पूरी तरह से घर पर ही पले-बढ़े वैज्ञानिक थे और पहली बार वर्ष 1921 में वे विदेश गए और फिर उसी वर्ष के अमेरिका भी गए। फिर वर्ष 1924 में वे यूरोप गए। इन सभी यात्राओं में, उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक समुदाय और खासकर भौतिकीविदों पर अपना प्रभाव जमाया।

एक और भ्रांति है। बहुत से लोग मानते हैं कि रमन प्रभाव के रूप में जाना जाने वाला प्रभाव एक पल में खोज लिया गया था। सच तो यह है कि रमन लगातार इस पर काम कर रहे थे। वर्ष 1928 में इसकी घोषणा से बहुत पहले, रमन और उनके तकनीकी सहयोगी एस. वेंकटेश्वरन, छात्र के. आर. रामनाथन और के. एस. कृष्णन एक ही समस्या पर काम कर रहे थे। लेकिन रमन प्रभाव जो हरे रंग की पट्टी के रूप में दिखाई देता था, उसे शुरू में प्रदीप्ति माना जाता था। तो इस प्रभाव को 28 फरवरी, 1928 को देखा गया, लेकिन उस समय इसे अच्छी तरह समझा नहीं गया था।

रमन एक बहुत बड़ा नाम है। वह अपने विचार स्वतंत्रता या आसानी से व्यक्त करते थे और इससे उनकी लोकप्रियता में भी कमी आ सकती थी। वह राजनेताओं की आलोचना करते थे क्योंकि उन्हें लगा की वह विज्ञान को नियंत्रित करने की कोशिश कर रहे थे। उन्हें यह पसंद नहीं था कि कोई राजनेता विज्ञान कांग्रेस का उदघाटन करे और वह अपने इस विचार को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते थे। उन्हें गर्व था भारतीय विज्ञान तरक्की कर रहा था। रमन और उनके समकालीन प्रफुल्लचंद्र राय, जगदीशचंद्र बोस, रामानुजन, सत्येंद्रनाथ बोस, मेघनाद साहा के कार्य जिसे भी याद होंगे वह इस बात से सहमत होगा। रमन को विज्ञान के बारे में बात करना पसंद था, खासकर बच्चों के साथ। कई वर्षों तक उन्होंने उत्साहपूर्वक आम लोगों को सुबोध व्याख्यान दिए और ये व्याख्यान बहुत लोकप्रिय थे।

उनका मानना था कि विज्ञान के क्षेत्र में किया गया अच्छा काम किसी देश की प्रतिष्ठा को और बढ़ाता है। उन्हें अंदाजा था कि उनको मिलने वाले नोबेल पुरस्कार का देश के लिए क्या महत्व था। 17 नवंबर 1931 को एक अखबार को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने कहा:

“राजनीति के अलावा राष्ट्रीय जागरूकता के अन्य क्षेत्र भी हैं। ... मुझे लगता है कि वैज्ञानिक पहल की निश्चित रूप से एक राष्ट्रीय महत्ता है। हाल की राजनीतिक घटनाओं की तुलना में, भारतीय वैज्ञानिकों, विशेष रूप से भौतिकीविदों की उपलब्धियों ने दुनिया में भारत का नाम ऊंचा किया है।"

अपने जीवन के अंतिम चरण में, रमन गैर-मिलनसार स्वभाव के हो गए थे और ज्यादातर अकेले ही रहते थे। वह बड़ों से ज्यादा बच्चों से खुलकर बात करते थे। वह बच्चों को अपनी 'असली ताकत' मानते थे और उनको विश्वास था कि 'यदि आप बच्चों को उत्साहित करेंगे और उनमें खोज की भावना विकसित करेंगे, तो यह सुप्त शेर (भारतवर्ष) जाग जाएगा और दुनिया को जीत लेगा।'

वह भारी निवेश से किए जाने वाले विज्ञान में के पक्ष में नहीं थे। हालांकि, दुनिया बड़े विज्ञान के पीछे भाग रही थी जहां अत्यधिक निवेशित महा-विज्ञान परियोजनाओं पर बड़े-बड़े समूह काम कर रहे थे। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान शीघ्र परिणाम मिलने और बड़े पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता ने इस प्रवृत्ति को और बढ़ा दिया। लेकिन रमन को यह पसंद नहीं आया। उनका मानना था कि बुनियादी विज्ञान महत्वपूर्ण है और इस संभावना के बारे में बहुत अधिक चिंता करने की आवश्यकता नहीं है कि इसका आर्थिक लाभ के लिए उपयोग किया जा सकता है।

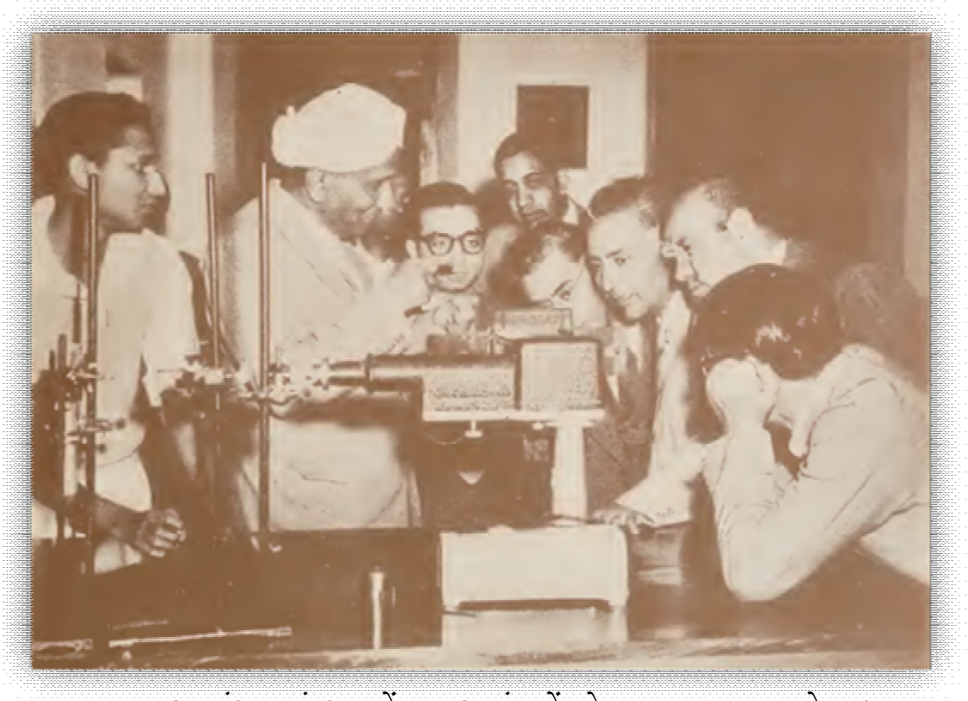

रमन अनुसंधान संस्थान में रमन आगंतुकों को रमन प्रभाव समझाते हुए।

उन्हें अपने शोध कार्य पर गर्व था जिसने उन्हें नोबेल पुरस्कार दिलाया जबकि इसमें बहुत कम पैसा खर्च हुआ। लेकिन तब से विज्ञान की प्रकृति बदल गई है। अब अत्यधिक संवेदनशील माप के लिए परिष्कृत और महंगे उपकरण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, रमन प्रभाव पर आधारित कई प्रणालियों में लेजर स्रोत की आवश्यकता होती है। उनके द्वारा उपयोग किए जाने वाले उपकरण कम महंगे थे। खोज के लिए, हालांकि अच्छे प्रकाश स्रोत के लिए सूरज की रोशनी के बजाय उन्होंने पारे के वृत्ताकार बल्ब

और 18 सेमी की एक अपवर्तक दूबीन का उपयोग किया था, तो भी लागत 200/- रुपये से अधिक होनी चाहिए जैसा कि हमेशा उल्लेख किया जाता है। फिर भी, उस समय के अनुमान से भी, यह बहुत काम था। उनकी पद्धति थी पैसे की बजाय बुद्धि का उपयोग करना।

अधिकांश लोग रमन को उनके प्रकाश के प्रकीर्णन पर अनुसंधान जिसमें रमन प्रभाव भी सम्मिलित है के कारण परिचित हैं। लेकिन उनके शोधों और प्रकाशनों का दायरा उससे कहीं अधिक था। लगभग छह दशकों के अपने उत्पादक कार्यकाल में, उन्होंने विभिन्न पत्रिकाओं में 350 से अधिक शोध पत्र लिखे या सह-लेखन किया। रमन मूल रूप से जिज्ञासु स्वभाव के थे उसका मन समझाना चाहता था कि उसने क्या देखा और क्या महसूस किया चाहे वह रंग हो, फूल हो या आवाज। ये वे विषय थे जिनका उन्होंने अपने जीवन के शुरुआती दौर में गहनता से शोध किया था। अपने शोध के शुरुआती दिनों में, उनकी भौतिकी की प्राचीनकालीन समस्याओं में रुचि थी। वह संगीतमय ध्वनियों और उन्हें उत्पन्न करने वाले वाद्ययंत्रों से भी मोहित हो गए थे। वे विभिन्न समस्याओं पर काम करते थे और शताब्दी के पहले दो दशकों तक उन्होंने संगीतमय वाद्ययंत्रों और तार वाले वाद्ययंत्रों जैसे विषयों पर अनुसंधान करके उन पर शोधपत्र प्रकाशित किए। जबकि तरंग प्रकाशिकी उनका आजीवन जुनून रहा।

अन्य विषयों पर उनके द्वारा प्रकाशित शोध पत्रों में – कोलोइड (9), क्रिस्टल ऑप्टिक्स, इलेक्ट्रॉन डिफ्रैक्शन एंड एक्स-रे (121), डाईइलेक्ट्रिक बिहेवीयर एंड इलेक्ट्रो-ऑप्टिक्स (6),इलास्टिक प्रॉपर्टीज ऑफ सॉलिडस एंड ऑप्टिक्स (25), लाइन एंड बैंड स्पेक्ट्रा (4), मैग्निटिज़म एंड मगनेटो ऑपटिक्स (11), मोलिक्यूलर स्कैटरिंग ऑफ लाइट (30), फिजियोलॉजी ऑफ विजन (85), रमन इफेक्ट (17), थ्योरी ऑफ म्यूज़िकल इंस्ट्रूमेंट्स (18), अल्ट्रासोनिक एंड हाइपरसोनिक (9), वाइब्रैशनस एंड साउंड (23), वेव ऑपटिक्स (46)। उन्होंने अन्य विविध विषयों पर 15 शोध पत्र भी प्रकाशित किए।

रमन ने निम्नलिखित चार पुस्तकें भी लिखी हैं।

1. मोलिक्यूलर डिफ्रैक्शन ऑफ लाइट (1922)। कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. द न्यू फिजिक्स, टॉक्स ऑन एस्पेक्ट्स ऑफ साइंस (1951)। फिलॉसॉफिकल लाइब्रेरी इंक. न्यूयॉर्क।
3. लेक्चरस ऑन फिज़िकल ऑपटिक्स (1968)। द इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज, बैंगलोर।
4. फिजियोलॉजी ऑफ विजन (1968)। द इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज, बैंगलोर।

सेवानिवृत्ति के बाद, अपने अंतिम वर्षों में, रमन ने कुछ मूलभूत समस्याओं जैसे की रंगों में समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करने का फैसला किया। रमन को प्रकृति से प्यार था और इंद्रियों के मजबूत होने के

कारण जब भी वह कोई पहेली देखते तो उनमें एक नई ऊर्जा आ जाती थी। उन्होंने 'फिजियोलॉजी ऑफ विजन' नाम की किताब भी लिखी है, जिसके बारे में ज्यादा लोग नहीं जानते हैं। उन्होंने उस प्रभाव के बारे में भी विस्तार से लिखा है कि अन्य रंगों को देखने में पीले रंग की मौजूदगी की क्या भूमिका है। उन्होंने कहा है कि पीला रंग अन्य रंगों की दृश्यता को कम करता है। उन्होंने यह भी बताया कि चमक इस बात पर निर्भर करती है कि हम रंगों को कितनी अच्छी तरह देख सकते हैं। जब प्रकाश मंद होता है, तो रंगों को देखना मुश्किल होता है।

यह निश्चित है कि रमन ने कभी डॉक्टरेट की उपाधि के लिए काम नहीं किया और न ही यह कभी उन्हें मिली। लेकिन उनके असाधारण योगदान को देखते हुए उन्हें कई विश्वविद्यालयों जैसे इलाहाबाद, बनारस, बॉम्बे, कलकत्ता, ढाका, दिल्ली, फ्रेबर्ग, ग्लासगो, कानपुर, लखनऊ, मद्रास, मैसूर, उस्मानिया, पेरिस, पटना और श्री. वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से नवाजा है।

उन्हें कई पुरस्कार और सम्मान भी मिले।

तालिका-2

विभिन्न वैज्ञानिक समाजों और संस्थानों द्वारा रमन को दिए गए पुरस्कार और सम्मान

क्रम संख्या	पुरस्कार/सम्मान का नाम	वर्ष
1	कर्जन मेडल	1913
2	वुडबर्न मेडल रिसर्च मेडल	1913
3	मेटेयूक्की मेडल – सोसाइटी इंस्टालियाना डेला साइंजा, रोम (इटली)	1928
4	रॉयल सोसाइटी, लंदन द्वारा ह्यूज़ मेडल	1930
5	नोबेल फाउंडेशन, स्टॉकहोम (स्वीडन) द्वारा नोबेल पुरस्कार	1930
6	फ्रेंकलिन इंस्टिट्यूट, यू एस ए द्वारा फ्रेंकलिन मेडल	1941
7	राष्ट्रीय प्राध्यापक पद	1948

ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से नवाजा और भारत सरकार ने उन्हें वर्ष 1954 में देश सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'भारत रत्न' से सम्मानित किया।

वह भारत, यूरोप और अमेरिका में कई प्रतिष्ठित विज्ञान अकादमियों और समाजों के मानद सदस्य भी थे जिसमें लंदन की रॉयल सोसाइटी भी शामिल थी। लेकिन उन्हें इसके लिए प्रयास करना पसंद नहीं था। वास्तव में, उन्होंने आगे चलकर रॉयल सोसाइटी की सदस्यता छोड़ दी।

रमन दिल से एक भारतीय थे जबकि प्रख्यात जर्मन नोबेल पुरस्कार विजेता मैक्स बॉर्न का कहना था कि रमन 'प्रबल यूरोपीयन' लगते थे। वे हमेशा भारतीय पहनावा पहनते थे। जब उन्हें उनकी पगड़ी के बारे में पूछे जाने पर उन्होंने एक बार कहा था कि वह अपने सिर को सूजन से बचाने के लिए इसे पहनते हैं। वह शाकाहारी थे। वह शराब नहीं पीते थे, और जब वह यूरोप में थे तो लोग मजाक में कहते थे कि, 'हमने शराब पर आपका प्रभाव देखा है, अब हम देखना चाहते हैं कि शराब आपको कैसे प्रभावित करती है!', तो उन्होंने विनम्रता से शराब पीने से इंकार कर दिया।

रमन एक राष्ट्रवादी थे उन्हें अपनी संस्कृति से प्यार था। मेघनाद साहा लिखते हैं:
रमन, जब प्रेसीडेंसी कॉलेज, मद्रास में एम.ए. के छात्र थे, तब उन्होंने तारों के कंपन पर मेल्डे के प्रयोगों में कई सुधार किए। उनकी मौलिकता ने उनके भौतिकी के प्रोफेसर मिस्टर जोन्स का ध्यान भी उनकी ओर आकर्षित किया। प्रोफेसर जोन्स सर सी. वी. रमन बहुत सम्मान करते थे। उन्होंने रमन को शिक्षा विभाग में नौकरी की पेशकश भी की थी। लेकिन उस समय शैक्षिक सेवाओं में सभी उच्च पद यूरोपीय लोगों के लिए आरक्षित थे। तो युवा रमन को वह काम बहुत आकर्षक नहीं लगा। इसे स्वीकार करने की बजाय उन्होंने 'वित्त प्रतियोगी परीक्षा' दी।

उन्हें विद्यार्थियों को विदेशी नौकरी करते और विदेशों में विज्ञान को समृद्ध करते देखना पसंद नहीं था। यह समस्या जटिल है और इसके कई कारण हैं। लेकिन यह भी सच है कि रमन ने स्वयं भी कभी ऐसा नहीं किया। वह स्वनिर्मित, संपूर्ण भारतीय और बहुमुखीप्रतिभा के धनी वैज्ञानिक थे। बाद में उन्होंने विदेशी पत्रिकाओं पर निर्भर रहने के बजाय अपनी खुद की पत्रिका शुरू करने का फैसला किया और लंदन की रॉयल सोसाइटी की मानद सदस्यता भी लौटा दी। उनकी पहली विदेश यात्रा वर्ष 1921 में हुई थी जब वे 33 वर्ष के थे। वे बुद्धिमान, आत्मविश्वासी, परिश्रमी और सदा सक्रिय रहने वाले सृजनात्मक दिमाग वाले व्यक्ति थे। वह जिज्ञासु व्यक्ति थे और यह मुख्य रूप से ध्वनिकी, रंग, प्रकाश और पदार्थ के गुणों में उनके व्यापक शोध से स्पष्ट होता है। जैसा कि आइंस्टाइन ने एक बार कहा था, जिज्ञासा वैज्ञानिक होने के सबसे महत्वपूर्ण लक्षणों में से एक है। रमन में बड़ी उत्सुकता थी और यही कारण है कि वे इतना कुछ हासिल करने में सफल रहे। उन्होंने लगभग 150 छात्रों को खुद पढ़ाया। उनमें से कई बहुत प्रतिभाशाली वैज्ञानिक और शिक्षक भी बने।

रमन के बहुत करीबी रहे वैज्ञानिक डॉ. एस. रामशेषन और जिन्होंने रॉयल सोसाइटी के लिए रमन की जीवनी लिखी थी वह रमन को 'राष्ट्रवादी' बताते हैं। वे कहते हैं, 'रमन एक सच्चे राष्ट्रवादी थे, भारतीय परंपरा और इसकी प्राचीन उपलब्धियों पर गर्व करते थे। वैज्ञानिक शोध के बारे में उनका कहना था कि भारतीय वैज्ञानिक जो कुछ भी पश्चिम में हो रहा था उसकी नकल न करें। उनका यह ही कहना था कि कोई जो भी शोध करे वह न केवल मौलिक होना बल्कि जब भी उस शोध के उपयोगों की बात आए तो उसे उस समय के भारत की जरूरतों के अनुरूप भी होना चाहिए।'

उन्हें ऐसा विज्ञान पसंद नहीं था जिसमें बहुत पैसा खर्च होता हो। डॉ. रामशेषन के अनुसार, "यह कहना मुश्किल है कि वह सही थे या नहीं। लेकिन यह सच है कि भले ही आज विज्ञान पर खर्च किया गया धन रमन के दिनों में खर्च किए गए धन से कहीं अधिक है, फिर भी स्वतंत्र भारत को उनके जितने सामर्थ्यवान वैज्ञानिक बनाने शेष है।"

रमन आत्मनिर्भरता के प्रतीक थे। वह चाहते थे कि भारतीय वैज्ञानिक भारत में रह कर ही काम करें। रमन के बचपन के दिनों ने उन्हें पैसे और मितव्ययिता का मूल्य अच्छी तरह सिखाया था। उन्हें मामूली रकम खर्च करके दक्षता हासिल करने पर गर्व था। हालांकि इस बात को लेकर मतभेद हैं कि उनके प्रयोगों की कीमत केवल 200 रुपये ही थी या नहीं। एक पॉकेट स्पेक्ट्रोमीटर की कीमत लगभग 200 रुपये होनी चाहिए लेकिन दूरबीन इतना सस्ता नहीं था। इस दूरबीन को इंडियन एसोसिएशन फॉर कल्टीवेशन ऑफ साइंस द्वारा दो व्यक्तियों से दान में मिले 3,000/- रुपये में खरीदा गया था। 18 सेमी दूरबीन के बिना, क्षीण प्रदीप्ति (जिसे बाद में रमन विकिरण या रमन प्रभाव कहा गया) को इतनी गहनता से नहीं देखा जा सकता था। इसके अलावा, अकेले सूर्य के प्रकाश की तीव्रता के प्रकीर्णनित कणों (रमन प्रभाव) का पता लगाने के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसलिए बाद में एक पारा क्वार्ट्ज लैंप भी खरीदा गया था। स्रोत को सशक्त प्रकाश किरणें भेजनी थीं और अनुसंधान को पर्याप्त संवेदनशील भी होना चाहिए था। ऐसा इसलिए क्योंकि दस लाख कणों केवल किसी एक को प्रकीर्णनित होकर कम आवृत्ति वाले कण (हरे विकिरण) में बदलना था।

रमन कई वैज्ञानिकों के काम से प्रभावित और प्रेरित थे। उन्होंने लिखा था कि कैसे वह यूक्लिड (एलिमेंट्स ऑफ यूक्लिड) और हरमन वॉन हेल्महोल्ट्ज़ ('द सेंसेशन ऑफ टोन' एंड 'द फिजियोलॉजी ऑफ विजन') के लेखन से काफी प्रभावित थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं भी 'द फिजियोलॉजी ऑफ विजन' पुस्तक लिखी थी, फिर भी हेल्महोल्ट्ज़ की पुस्तक पर उनकी राय बहुत रुचिकर है:

"मैंने इस पुस्तक को अपने लिए खोजा है और इसे बड़े ध्यान और शौक से पढ़ा है। अतिशयोक्ति के बिना, यह कहा जा सकता है कि इसने मेरे बौद्धिक दृष्टिकोण को मौलिक रूप से बदल दिया। इसे पहली बार पढ़ने से मुझे समझ में आया कि वैज्ञानिक शोध वास्तव में क्या है और इसे कैसे करना है।"

इससे पता चलता है कि पढ़ने की आदत डालना अच्छी बात है। हम उन लोगों की किताबें पढ़कर बहुत कुछ सीख सकते हैं जिन्होंने बहुत कुछ हासिल किया है, जो अच्छा लिखते हैं और जो विचारक हैं। केवल व्हाट्सएप या ई-मेल के माध्यम से पर जो भी आता है उसे पढ़ने का बढ़त चलन हमारी सोच के क्षितिज को सीमित कर देगा। हमें अच्छी किताबें पढ़ने की आदत डालनी चाहिए।

रमन बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वह बहुत तेज, श्रमसाध्य और जो भी करते थे पूरी लग्न से करते थे। उन्हें संगीत से प्यार था, रंगों की परख के साथ-साथ भाषाओं पर भी उनकी अच्छी पकड़ थी। वह एक प्रेरक वक्ता भी थे।

एक और चीज जो उन्हें अलग बनाती है वो यह है कि वह हमेशा आत्मविश्वास से भरे रहते थे, जिसके चलते कई बार कुछ लोग उनसे दूर भी हो जाते थे। जब कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति द्वारा 'सर' की उपाधि देकर उनका अभिनंदन किया गया, तो उन्होंने रमन से पूछा, 'आगे क्या करोगे?' उन्होंने तुरंत उत्तर दिया, 'अब नोबेल पुरस्कार लेना है!' नोबेल पुरस्कार आमतौर पर वर्ष के अंत में घोषित किए जाते थे, और दिसंबर में ही प्रदान किए जाते थे लेकिन रमन ने जुलाई में ही स्वीडन के लिए अपनी और अपनी पत्नी की टिकट बुक करा ली थी।

रमन के मन में पैसों का मोह बहुत कम था नहीं तो, उन्होंने प्रोफेसर आशुतोष मुखर्जी द्वारा आधे वेतन पर पेश किए गए पालित प्राध्यापक पद को स्वीकार करने के लिए एफसीएस में अच्छी-खासी सरकारी नौकरी नहीं छोड़ी होती। उनका मन विज्ञान में लगा हुआ था। उन्होंने विज्ञान को जीया और उसी की सांसे ली। उन्हें विज्ञान से ज्यादा खुशी किसी ने नहीं दी। उन्होंने अपना जीवन विज्ञान को समर्पित कर दिया। वह एक अद्वितीय किस्म के समर्पित देशभक्त थे।

उन्हें आमतौर पर छात्रों और आम जनता को व्याख्यान देते देखा जाता था। वह अपने रोचक अंदाज में विज्ञान को समझाते थे। उनका मजाकिया अंदाज भी बहुत अच्छा था।

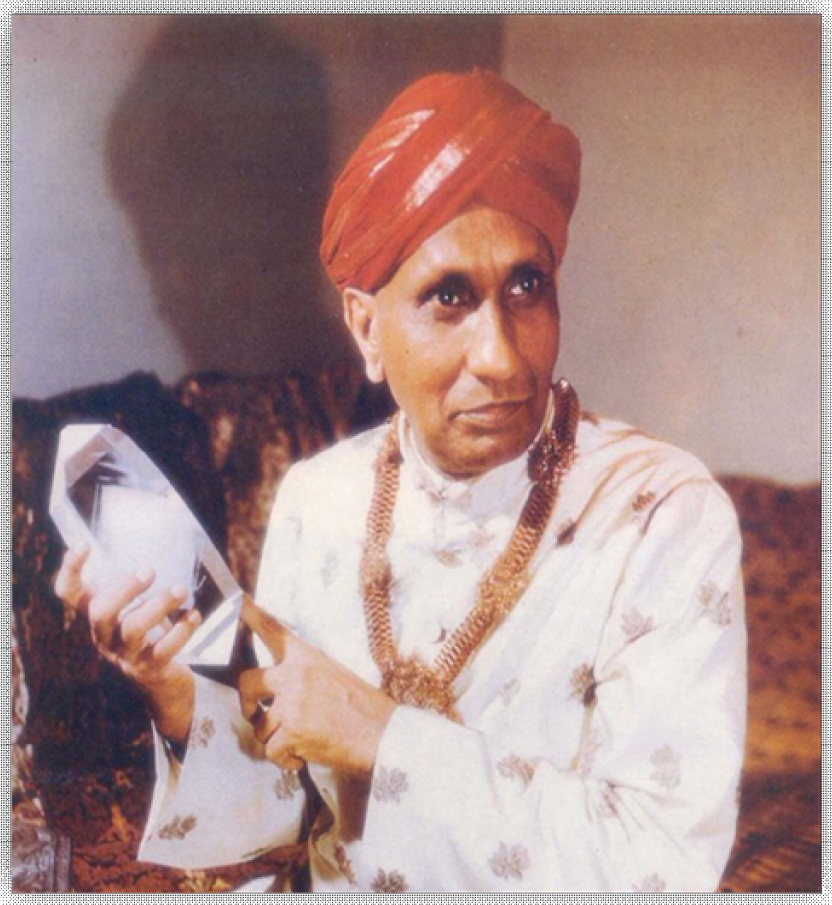

रमन को लोगों, विशेषकर बच्चों के साथ घुलना-मिलना पसंद था। कभी-कभी वे जादूगर के रूप में तैयार होते और ऑप्टिकल प्रभाव के जादू दिखाते।

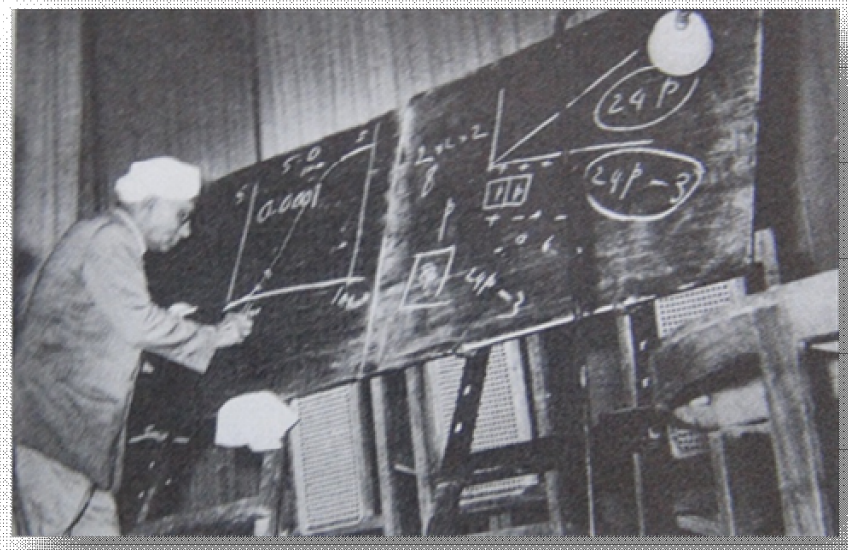

रमन क्रिस्टल डाइनैमिक्स की व्याख्या करते हुए। उन्हें व्याख्यान देना पसंद था।

कुछ अख़बारों ने यह भी बताया कि जब स्वीडन के राजा ने रमन को नोबेल पुरस्कार प्रदान किया उस समय भारत के किसी भी झंडे के बजाय गुलाम भारत का झंडा लहराते हुए देखकर रमन की आंखों में आंसू आ गए थे। तब से कई बार इसका बात का जिक्र किया गया है। चूंकि इस बात का ज़िक्र ना तो उन्होंने, ना उनकी पत्नी ने या ना ही किसी और ने किया है, इसलिए इसे अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भी कहा जा सकता है। वह कोमल हृदय के थे। वह बहुत संवेदनशील थे, और जब कुपोषित बच्चों की तस्वीरें उन्हें दिखाई जाती तो वह रो पढ़ते थे। उन दिनों मानद सदस्यता नहीं दी जाती थी। उनके पास पढ़ने के लिए जो छात्र कोलकाता आते थे, उनके पास भी बहुत कम स्रोत होते थे। उन्हें रहने के लिए जगह भी नहीं ले पाते थे तो वे रात में प्रयोगशाला के फर्श पर ही सो जाते थे। कई बार रमन उन्हें खाना खाने के लिए पैसे देते थे।

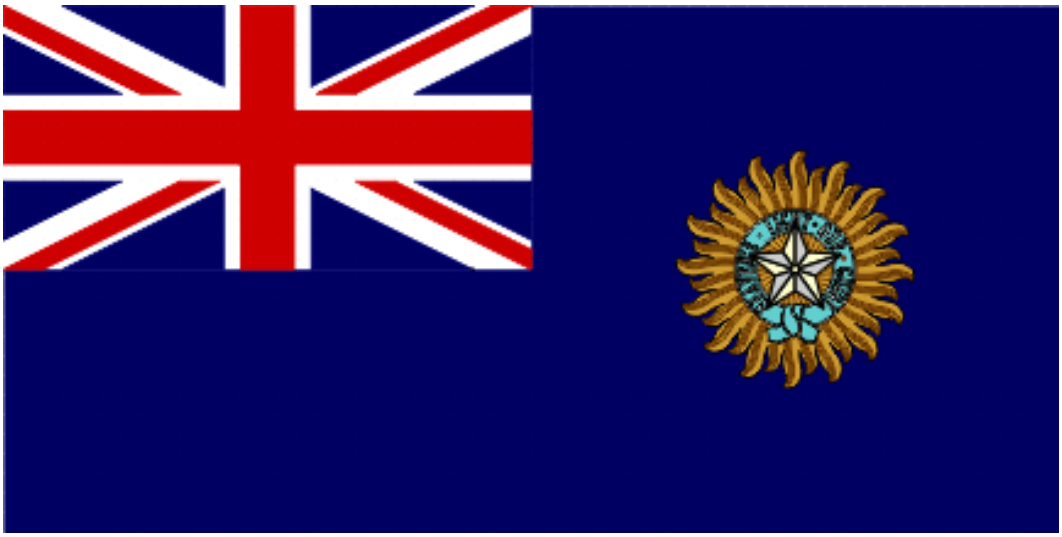

गुलाम भारत का झंडा

रमन को मिला नोबेल पुरस्कार आईएसीएस के लिए भी गौरव की बात थी। जहां उन्होंने दो दशकों तक अंशकालिक शोध कार्य किया था। संस्थान ने उनकी वैज्ञानिक जीवन यात्रा में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने भारतीय विज्ञान संस्थान के स्तर में सुधार के लिए हर संभव प्रयास किया वे नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक मैक्स बॉर्न को लाने में सफल रहे। लेकिन श्रोडिंगर जैसे अन्य वैज्ञानिकों को वहां लाने की उनकी योजना सफल नहीं हुई। एक सरकारी अधिकारी के रूप में, उन्हें हमेशा उनके प्रशासनिक कार्यों के लिए सराहा गया। जहां तक भारतीय विज्ञान संस्थान में उनके प्रवास की बात है तो यह इतना सफल और सुखद नहीं रहा।

जीवन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। जहाज से लौटते समय उन्होंने माप लिया। यदि वे पॉकेट स्पेक्ट्रोमीटर, पोलराइज़र आदि नहीं ले गए होते, तो समुद्र के पानी के रंग पर लिखे उनके दो शोधपत्र

सितंबर 1921 में नेचर पत्रिका को नहीं भेजे जा सकते थे। आपका अपने व्यवसाय के प्रति पूर्ण समर्पण होना चाहिए। यह शोध के बारे में अद्वितीय है। किसी को अपने व्यवसाय के रूप में वही करना चाहिए जिसे वह अपना शौक बना सके। केवल यही मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों रूप से आदर्श परिणाम की ओर ले जा सकता है।

जैसा कि हम जानते हैं कि इसी तरह की खोज (रमन प्रभाव) उस समय के आसपास रूसी वैज्ञानिकों के एक समूह द्वारा की गई थी। लेकिन रमन ने अपना शोधपत्र पहले ही प्रकाशित कर दिया था, इसलिए उन्हें नोबेल पुरस्कार देने के लिए चुना गया। इसलिए काम करने के साथ उसके दस्तावेज तैयार करना और उसे समय पर प्रकाशित करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। साथ ही, एक नई अवधारणा के विवरण को उत्साहपूर्वक प्रचारित करने से पहले, स्वामित्व अधिकारों को पंजीकृत करना महत्वपूर्ण है। इस संबंध में रमन का उदाहरण विशिष्ट है।

रमन का जीवन असाधारण था। जैसा की कहा जाता है कि चमकने के लिए जलना जरूरी है। सफलता का कोई आसान रास्ता नहीं है।

रमन ने एक ऐसे राष्ट्र को गौरवान्वित किया जो उस समय बौद्धिक नेतृत्व के लिए तरस रहा था। वह इस बात की जीवंत मिसाल थे कि संसाधनों की कमी बौद्धिक रूप से सक्षम और दृढ़निश्चयी व्यक्ति के लिए बाधा नहीं बन सकती। अपने अंतिम कुछ वर्षों को छोड़कर, जब वह एकांत में रह रहे थे तब भी उन्होंने हमेशा भारतीय विज्ञान के आकाश को रोशन किया। उनके एक छात्र प्रोफेसर पी. आर. पिशारोती के अनुसार, 'वह आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक भारतीय विज्ञान के मंच पर एक महानायक की तरह छाए रहे।'

उन्हें युवाओं से बातचीत करना अच्छा लगता था। वह भारतीय छात्रों से जो कहते थे वह आज भी प्रेरणादायक है:

"मैं अपने सामने के युवक-युवतियों से कहना चाहता हूं, कि आशा और धैर्य कभी मत छोड़ो। जो भी कार्य आपके पास हो उसके प्रति साहसिक एवं संपूर्ण समर्पण से ही आप सफलता प्राप्त कर सकते हैं। बिना मेहनत के आपको इस दुनिया में कुछ भी नहीं मिलेगा।"

लेकिन सीखने की लालसा और जिज्ञासा का कोई विकल्प नहीं है। यदि बच्चों को रमन से एक सलाह की आवश्यकता हो तो वह यह हो सकती है कि:

रमन का अंतिम छायाचित्र

“अपनी आंखें और कान खोलकर विज्ञान सीखें। .. लेकिन मुझे लगता है कि वैज्ञानिक स्वभाव का सार यह देखना है कि हम जिस ब्रह्मांड में रहते हैं, वह कितना अद्भुत है।”

8. परिशिष्ट

सी. वी. रमन पर उद्धरण

रमन प्रभाव पिछले दशक में प्रयोगात्मक भौतिकी में सर्वश्रेष्ठ 3 या 4 खोजों में से एक होना चाहिए। यह सिद्धांत उपयोगी सिद्ध हुआ है और ठोस पदार्थों के सिद्धांत के अध्ययन में भी यह उपयोगी सिद्ध होगा। ज्ञान-विज्ञान के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान देने के अलावा रमन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान में अनुसंधान काएक सक्रिय विद्यालय भी विकसित किया है।

- लॉर्ड रदरफोर्ड

उन दिनों यह देखना की बाह्य दुनिया की अपेक्षा भारतीय क्या हासिल कर सकते थे देशभक्ति का ही एक हिस्सा था। विज्ञान ही एक मात्र माध्यम था जिसके जरिए यह बताया जा सकता था की भारतीय क्या कर सकते हैं। और मैं कहूंगा की यह मकसद भी हमारे पास पहले से ही था। इन दिनों देशभक्ति एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग उन दिनों के मुकाबले ज्यादा प्रचलित नहीं है, जितना इसे बीसबीं शताब्दी में समझ जाता था। उस समय यह दिखाना हर किसी की इच्छा का एक हिस्सा था की भारतीय किसी भी ऐसे काम को पूरा कर सकते हैं जिससे उनको बाहर के देशों में भी पहचान मिल सके। विज्ञान के क्षेत्र में यह हासिल करना, यह दिखाना की कोई विज्ञान के क्षेत्र में क्या कर सकता है मेरी भावनाओं का एक हिस्सा था .... और निश्चित रूप से यह मेरे शुरुआती उद्देश्यों में से एक था। लेकिन जैसे-जैसे आप बड़े होते जाते हैं विज्ञान के क्षेत्र में आपके उद्देश्य भी बदलते जाते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय मुझमें वह मनोभाव नहीं है जो उस समय था, पर उन दिनों में यह भाव मेरे अंदर था।"

- एस. चंद्रशेखर (नोबेल पुरस्कार विजेता)

भारत रत्न चंद्रशेखर वेंकट रमन आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक भारतीय विज्ञान के मंच पर एक महानायक की तरह छाए रहे। वह अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों की समृद्ध सूची के साथ-साथ बहुत से भारतीय वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित करने की उनकी अद्वितीय क्षमता के कारण भी महान थे। उन्होंने ने उनमें आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और साहस पैदा किया और उनके माध्यम से दिखाया की भारत में एक महान राष्ट्र बनने की अपार संभवनाएं हैं। इसस तरह से विज्ञान के क्षेत्र में उनका बड़ा योगदान था। उन्होंने जो कुछ भी दिया उसके लिए भारत और विश्व वैज्ञानिक समुदाय उनके आभारी हैं।

- पद्मश्री प्रोफेसर पी. आर. पिशारोती (प्रोफेसर रमन के छात्र और जाने-माने मौसम विज्ञानी जो निदेशक, आईआईटीएम, पुणे के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद भी सेवानिवृत्त प्राध्यापक के तौर पर पीआरएल, अहमदाबाद में विज्ञान की सेवा करते रहे)

यह भारत में विज्ञान के विकास का यह पहलू भी दर्शाता है की प्रोफेसर रमन अन्य देशों के भौतिकीविदों से सीधा संपर्क होने के बाबजूद भी रमन की प्रतिष्ठा में उनका बहुत कम या जरा भी योगदान नहीं हैं। उनका औपचारिक प्रशिक्षण पूरी तरह से भारत में ही हुआ था और केवल 1 वर्ष छोड़ कर उन्होंने अपना सारा कार्य अपनी जन्मभूमि भारत में ही किया है। भारत को विज्ञान के क्षेत्र में अपने पहले नोबेल पुरस्कार विजेता सर सी. वी. रमन पर गर्व होना चाहिए।

- नोबेल पुरस्कार विजेता सी. जे. डेवीसन (वर्ष 1930 में जब सर सी. वी. रमन भौतिकी के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले पहले एशिया निवासी बने)

सी. वी. रमन के उद्धरण

हमारे अंदर एक ऐसी हीन भावना पैदा हो गई है जिसे ठीक नहीं किया जा सकता है यह हम में रच-बस गई है और हमें यह सोचने पर विवश कर देती है की जो कुछ भी हमारे पास विदेशों से आता है वह सही ही है और फिर हम उसके बारे में प्रश्न करने की हिम्मत नहीं करते.... एक चीज़ जो हम भारतीयों को सीखनी चाहिए वह यह है कि आपकी सोच स्वतंत्र और निडर होनी चाहिए। यह एक बहुत ही आवश्यक गुण है और यदि मैं सच कहूं तो यही है जिसका अभाव आज भारतीय प्रगति के पथ पर बाधा बन कर खड़ा है।

- सी. वी. रमन

पैसा ऋण पर लेना बुरी बात है। पर ज्ञान ऋण पर लेने के बारे में क्या कहना है? विदेशों से विशेषज्ञों को ऋण पर लेने के बारे में क्या कहना है? क्या हो अगर हम अपने बारे में ना सोचें या अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने के बारे में ना सोचें। असहाय होने की इस भावना को दूर करना चाहिए, जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए।

- सी. वी. रमन

यह समझना चाहिए की हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। उधार लिए पंखों से उड़ने से बेहतर है की हम अपने अक्षम उपकरणों से ही काम करें। हमें अपने पास उपलब्ध स्रोतों से ही समस्याओं का समाधान निकालने की कोशिश करनी चाहिए। हमें इसका अहसास होना चाहिए और जब तक हम इसे महसूस नहीं करते तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते।

- सी. वी. रमन

बच्चों के बारे में: बच्चे हमारे देश की 'असली ताकत' हैं। यदि आप बच्चों को उत्साहित करेंगे और उनमें खोज की भावना विकसित करेंगे, तो यह सुप्त शेर (भारतवर्ष) जाग जाएगा और दुनिया को जीत लेगा।'

- सी. वी. रमन

नोबेल पुरस्कार

नोबेल डिप्लोमा

9. उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. Subbarayappa, BV (2010) in Science in India: Achievements and Aspirations (75 Years of the Academy). Eds. HY Mohan Ram and PN Tandon. Indian National Science Academy. P.2.
2. G Venkataraman (1988). Journey into Light: Life and Science of CV Raman. Indian Academy of Sciences and Indian national Science Academy. Pp. 570.
3. PR Pisharoty (1981). Chandrasekhara Venkat Raman. Publications Division (85 pages)
4. Bhagavantam S (1971). Biographical Memoirs of the Fellows of the Royal Society.
5. Singh, R. (2018). How Costly was Raman's Equipment for the Discovery of Raman Effect? Indian J. History of Science 53, 4. P. T-68.
6. Stuewer, Robert H (1975). The Compton Effect: Turning Point in Physics. Pp 268-269.
7. Some reference material on Fourier Transform Raman Spectroscopy: https://www.researchgate.net/publication/263163482_A_Fourier_transform_Raman_spectrometer_with_visible_laser_excitation
8. Picture Sources – C. V. Raman : A Pictorial Biography published by Indian Academy of Sciences

विज्ञान में भारत का योगदान

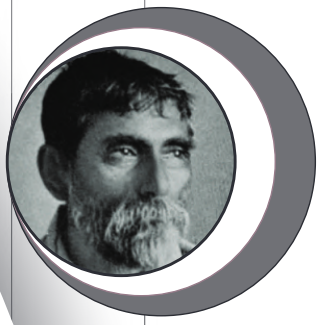

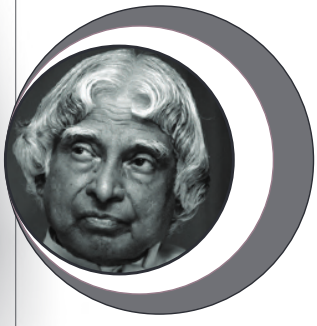

संकलन
विज्ञान भारती

———————————————————————————

वीवीएम के वेबसाइट (VVM.ORG.IN) पर उपलब्ध इस पुस्तक का उपयोग किसी व्यक्ति के द्वारा देखने, डाउनलोड करने, अस्थायी तौर पर सहेजने और मुद्रण करने के लिए केवल अव्यावसायिक तथा शैक्षिक उद्देश्यों हेतु ही सीमित है।

———————————————————————————

çkDdFku

भारत के पास विज्ञान और प्रौद्योगिकी की समृद्धशाली विरासत है। चाहे वो प्राचीन काल में शून्य का आविष्कार हो या आधुनिक युग में अंतरिक्ष में 100 से अधिक उपग्रहों का प्रक्षेपण हो, हमारे वैज्ञानिकों ने इसे सफलतापूर्वक अंजाम दिया है। दुर्भाग्यवश हमारे गौरवपूर्ण अतीत को भुला दिया गया है। विद्यार्थी विज्ञान मंथन (वीवीएम) के माध्यम से विज्ञान भारती हमारे विज्ञान और तकनीक संबंधी अतीत को लेकर भारत के भावी नागरिकों में राष्ट्रीय गौरव की भावना विकसित करने का प्रयास कर रहा है।

विद्यार्थी विज्ञान मंथन का उद्देश्य न केवल युवाओं के बीच से वैज्ञानिक प्रतिभा को ढूंढकर बाहर निकालना है बल्कि उनके भीतर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास कर इसकी भावना भी भरनी है। वीवीएम अपने इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए युवा विद्यार्थियों को भारतीय मूल के उन वैज्ञानिकों के जीवन और उपलब्धियों के बारे में जागरूक बनता है जिन्होंने अधिकांश जीवन भारत में गुजारा तथा यही अपने शोध कार्य किए। हमें आशा है कि इन वैज्ञानिकों के बारे में पढ़ने से युवा विद्यार्थी प्रेरित होंगे और अपनी मातृभूमि की तरफ तथा देश इन वैज्ञानिक बेटे और नीतियों की ओर उनका ध्यान केंद्रित होगा।

इस वर्ष हमने ऐसे डॉ भारतीय वैज्ञानिकों पर ध्यान केंद्रित किया है, जो गरीब परिवारों में स्वतंत्रता पूर्व भारत में जन्मे थे और उन्होंने अपना अधिकांश विज्ञान संबंधी अध्ययन व शोध कार्य भारत में ही सम्पन्न किया। इस लेख के माध्यम से, हम पाठकों को उन उतार चढावों और तमाम अवरोधों के बारे में चर्चा करेंगे जिनका सामना करके इन वैज्ञानिकों ने अपने कैरियर में उल्लेखनीय ऊँचाइयां हासिल की। उनके जीवन के बारे में पढ़ते समय हम यह महसूस करते हैं कि जब सफलता के लिए आपमें दृढ़ इच्छा शक्ति हो और आपके चुने हुए लक्ष्य को लेकर एक जुनून होगा तो कोई कठिनाई आपको लक्ष्य हासिल करने से कभी नहीं रोक सकती।

ohoh,e Vhe

विषय वस्तु

1. विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत का योगदान
   (प्राचीन काल से वर्तमान तक) 1–4
2. भारत में खगोलिकी.....5–15
3. भारत में रसायन विज्ञान – एक सर्वेक्षण.....16–24
4. प्राचीन भारत में औषधीय परंपरा का ऐतिहासिक विकास.....25–33
5. प्राचीन भारत में पादप और जंतु विज्ञान.....34–39
6. भारत में गणित.....40–50
7. भारत में धातु विज्ञान 51–60
8. पर्यावरण संरक्षण पर भारतीय परंपरागत ज्ञान 61–71
9. जीवन, स्वास्थ्य और कल्याण के लिए आयुर्वेदः एक सर्वेक्षण 72–87
10. भारत के नोबेल पुरस्कार विजेता.....78–110
11. भारत के परंपरागत, गैर परंपरागत और स्वच्छ ऊर्जा स्रोत.....111–114
12. विज्ञान और इसकी विभिन्न शाखाएं 115–117
13. आयुर्वेद और औषधीय वनस्पतियां..... 118–123
14. भारत में कृषि, जैवप्रौद्योगिकी और नैनोप्रौद्योगिकी.....124–127
15. भारत में खगोल विज्ञान 128–136

16. अंतरिक्ष में भारतः एक उल्लेखनीय उपलब्धि.....137–147

17. गुरुत्वीय तरंगों की खोज – भारतीय योगदान.....148–149

18. संगमग्राम माधवन की खोज.....150–152

19. जुलाई 2016 के बाद की नई उपलब्धियां.....153–163

निम्नलिखित पाठ्यक्रम को ध्यान में रखें:

- जूनियर वर्ग (कक्षा छठी से आठवीं): अध्याय 1 से 7, 9 से 12
- सीनियर वर्ग (कक्षा नौवीं से ग्यारहवीं): सभी अध्याय (अध्याय 1–19)

1 विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत का योगदान (प्राचीन काल से वर्तमान तक)

विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास मानव सभ्यता के उत्थान को महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है। प्राचीन काल से ही भारत ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी की विकास यात्रा में अपना योगदान दिया है। वर्तमान में, जिसे हम 'परंपरागत ज्ञान' कहते हैं असल में उसका आधार पूर्णतः वैज्ञानिक है।

स्वतंत्रता पूर्व

भारत में वैज्ञानिक खोजों और विकास का इतिहास वैदिक काल से आरंभ होता है। वैदिक काल के प्रसिद्ध गणितज्ञ आर्यभट्ट ने 'शून्य' की खोज की थी। ऐसा माना जाता है कि भारतीय विद्वानों ने ज्यामितिय,प्रमेयों को विकसित कर लिया था जिन्हें बाद में पायथागोरस ने प्रसिद्धि दिलाई। वैदिक साहित्य की मदद से वर्गों, आयतों, वृत्तों, त्रिभुजों, भिन्नों और उन्हें दस से लेकर बारह की घात के रूप में प्रदर्शित करने संबंधी संकल्पना और योग्यता के विकास के साथ बीजगणितीय सूत्रों का विकास किया गया। वैदिक साहित्य से खगोलविज्ञान की भी जानकारी मिलती है। इनमें से कुछ संकल्पनाओं की जानकारी ईसा पूर्व लगभग 1500 वर्षों पहले से आरंभ हो गयी थी। हड़प्पा सभ्यता के दौरान दशमलव प्रणाली का उपयोग किया जा रहा था। इसके प्रमाण हमें उनके द्वारा उपयोग किए गए भार एवं मापन संबंधी प्रेक्षणों से मिलता है। इसके अलावा, वैदिक काल के प्राचीन हिंदू ग्रंथ ऋगवेद में खगोलविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान (मेटाफिजिक्स) की संकल्पना की व्याख्या की गयी है।

जटिल हड़प्पा कस्बों से लेकर दिल्ली के लौह स्तंभ तक भारत की स्वदेशी प्रौद्योगिकी काफी विकसित थी। इन प्रौद्योगिकियों में जल आपूर्ति, यातायात, प्राकृतिक वातानुकूल, पत्थरों के विशाल भवन और संरचनात्मक अभियांत्रिकी संबंधी कार्यों के लिए परिकल्पना और योजनाएं शामिल थीं। विश्व में पहली बार, सिंधु घाटी की सभ्यता के अंतर्गत भूमिगत जल निकासी, नागरिक स्वच्छता, जलविद्युत अभियांत्रिकी और वातानुकूल वास्तुकला के साथ योजनाबद्ध तरीकों से कस्बों का निर्माण किया गया था। विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में एक केन्द्रीय समूह के अंतर्गत कई छोटे कस्बे होते थे। यह सभ्यता इस बात से अलग थी कि यह अनेक कस्बों में फैलकर यूरोप के आधे आकार के बराबर के क्षेत्र तक विस्तारित थी। लगभग 3000 ईसा पूर्व से लेकर 1500 ईसा पूर्व तक यानी करीबन एक हजार वर्ष की अवधि के दौरान इस बहुविस्तारित क्षेत्र में तौल एवं भाषाई प्रतीकों का मानकीकरण भी किया गया था।

जल प्रबंधन

किसी भी सभ्यता के विकास के लिए जल एक महत्वपूर्ण घटक है। भारत में हड़प्पा काल से भी पहले जल प्रबंधन की तकनीकें विकसित थीं। लंबे समय से यहां पर उन्नत तकनीकों के द्वारा कुओं, तालाबों,

झीलों, बांधों और नहरों का निर्माण किया जा रहा था। जल का उपयोग भंडारण, पेयजल और सिंचाई संबंधी उद्देश्यों के लिए किया जाता था। एक अनुमान के अनुसार आज भी भारत में लगभग दस लाख से अधिक मानवनिर्मित तालाब और झीलें हैं।

लौह एवं इस्पात

आधुनिक सभ्यता के आधार स्तंभों में लौह और इस्पात की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में जंग रहित लौह निर्माण की प्रौद्योगिकी में भारत अग्रणी था। तत्कालीन यूरोप में तलवार निर्माण के क्षेत्र में भारत की ऐसी धातुऐं काफी प्रसिद्ध थी। उस समय की प्रौद्योगिकी की झलक हमें दिल्ली स्थित प्रसिद्ध लौह स्तंभ में मिलती है जो आज भी लगभग जंग रहित है।

खेती की तकनीक और उर्वरक

देशज तौर पर विकसित, भारतीय कृषि प्रौद्योगिकियों समय के साथ–साथ विकसित होती गयी है। इन प्रौद्योगिकियों के अंतर्गत मृदा परीक्षण तकनीकें, फसल चक्रण विधियां, सिंचाई योजना, प्रकृतिमित्र कीटनाशकों एवं उर्वरकों का उपयोग एवं फसलों की भंडारण विधियां आदि शामिल हैं।

भौतिक विज्ञान

वैदिक काल में ही परमाणु की संकल्पना अस्तित्व में आ गयी थी। पदार्थ को पांच तत्वों पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और ईथर यानी आकाश में विभाजित किया गया था। परमाणु को सबसे छोटा कण माना गया था जिसे आगे और विभाजित नहीं किया जा सकता है। आज इसी को तोड़कर नाभिकीय ऊर्जा का उत्पादन किया जाता है।

आयुर्विज्ञान एवं शल्यचिकित्सा

विश्व में आयुर्वेद (आर्यु यानी जीवन और वेदा मतलब ज्ञान) चिकित्सा की सबसे पुरानी एवं व्यवस्थित पद्धति है। आयुर्वेद के आधार पर प्राचीन विद्वानों को अनेक प्रकार के तत्वों, बीमारियों, उनके लक्षणों, निदान एवं उपचार का पर्याप्त ज्ञान था। चरक एवं सुश्रुत आदि अनेक विद्वानों ने आयुर्वेद को अपने ज्ञान से समृद्ध किया।

नौपरिवहन एवं पोतनिर्माण

पोतनिर्माण भारत के मुख्य निर्यात उद्योगों में से एक था लेकिन अंग्रेजों ने इसे विघटित करके औपचारिक रूप से इस पर प्रतिबंध लगा दिया था। मध्य अरब के नाविक भारत से नावों की खरीदी करते थे। पुर्तगाली भी यूरोप से नावें नहीं खरीद कर, भारत से ही नावों की खरीदी करते थे। विश्व के सबसे विशाल और परिष्कृत जहाजों को भारत एवं चीन द्वारा निर्मित किया गया था।

यूरोप से काफी पहले हिंद महासागर में दिशासूचक यंत्र एवं अन्य नौपरिवहन के उपकरणों का उपयोग किया जाता था। आरंभिक समुद्र आधारित व्यापार व्यवस्था में भी समुद्रीयात्रा विज्ञान में भारतवासियों की विशेषज्ञता का उपयोग किया जाता था।

स्वतंत्रता पश्चात

स्वतंत्रता के बाद विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत ने सराहनीय प्रगति की। देश ने नाभिकीय एवं अंतरिक्ष विज्ञान, इलेक्ट्रानिक्स और रक्षा क्षेत्र में अहम उपलब्धियां हासिल की हैं। विश्व में वैज्ञानिक एवं तकनीकी मानवशक्ति में भारत का तीसरा स्थान है। मिसाईल प्रक्षेपण प्रौद्योगिकी में, भारत विश्व के प्रमुख पांच देशों में शामिल है। आर्थिक योजना के अंतर्गत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को मुख्यधारा में शामिल करते हुए मई 1971 में, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग (डीएसटी) की स्थापना की गयी थी। आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के नए क्षेत्रों को प्रोत्साहित करते हुए देश में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी गतिविधियों का समन्वय करने वाले केंद्रीय विभाग की भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

हमारे देश के संसाधनों का उपयोग कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों के माध्यम से अधिकतम उत्पादन के लिए किया जाता है। भारतीय वैज्ञानिकों ने कृषि, चिकित्सा, जैवप्रौद्योगिकी, शीत क्षेत्र अनुसंधान, संचार, पर्यावरण, उद्योग, खनन, नाभिकीय ऊर्जा, अंतरिक्ष एवं परिवहन क्षेत्रों में अग्रगामी अनुसंधान किए हैं। खगोलविज्ञान और खगोलभौतिकी, द्रवित क्रिस्टल, संघनित पदार्थ भौतिकी, आण्विक जीवविज्ञान, विषविज्ञान एवं क्रिस्टल विज्ञान, सॉफ्टवेयर प्रौद्योगिकी, नाभिकीय ऊर्जा एवं रक्षा अनुसंधान एवं विकास आदि विभिन्न क्षेत्रों में भारत निपुणता हासिल कर चुका है।

परमाणु ऊर्जा

भारत के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य इसका उपयोग ऊर्जा उत्पादन में करने के अलावा कृषि चिकित्सा, उद्योग, अनुसंधान एवं अन्य क्षेत्रों में अनुप्रयोग से संबंधित है। आज भारत की पहचान नाभिकीय प्रौद्योगिकी में अतिउन्नत देश के रूप में है। अब देश में ही त्वरित्रों और नाभिकीय ऊर्जा रिएक्टरों की परिकल्पना एवं निर्माण किया जा रहा है।

अंतरिक्ष

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) विश्व का छठा प्रमुख अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन है। सन् 1969 में इसकी स्थापना के बाद से ही इसने अनेक उपलब्धियां हासिल की हैं। भारत के पहले उपग्रह 'आर्यभट्ट' का निर्माण इसरो द्वारा सन् 1975 में किया गया था। इसके बाद इसरो ने अनेक उपग्रहों का निर्माण किया। सन् 2008 में चंद्रयान–प्रथम भारत का चंद्रमा पर जाने वाला पहला मिशन बना। अंतरिक्ष विभाग के अंतर्गत कार्यरत भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) उपग्रह संचार, संसाधनों के सर्वेक्षण के लिए सुदूर संवेदन, पर्यावरण निगरानी, मौसमी सेवाओं आदि के माध्यम से अंतरिक्ष संबंधी शोध, विकास एवं संचालन के लिए उत्तरदायी है। भारत तीसरी दुनिया के देशों में पहला ऐसा देश है जिसके पास अपना सुदूर संवेदन उपग्रह है।

इलेक्ट्रॉनिक्स और सूचना प्रौद्योगिकी

इलेक्ट्रॉनिक्स के विकास सहित सामाजिक–आर्थिक विकास में इलेक्ट्रॉनिक्स के उपयोग में इलेक्ट्रॉनिक्स विभाग की अहम भूमिका है। कृषि, स्वास्थ्य और सेवा क्षेत्रों में इलेक्ट्रॉनिक्स के अनुप्रयोगों ने विशेष योगदान दिया है। इसके अंतर्गत स्वदेशी निर्माण उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार के लिए परीक्षण एवं विकास केंद्रों और क्षेत्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना की गयी है। इलेक्ट्रॉनिक्स अभिकल्पना और

प्रौद्योगिकियों के ऐसे केंद्रों ने छोटे और मध्यम आकार की इलेक्ट्रॉनिक्स इकाईयों की काफी सहायता की है। भारतीय अर्थव्यवस्था में सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) एक बहुत ही महत्वपूर्ण उद्योग है। भारत के आईटी उद्योग ने पिछले कुछ वर्षों के दौरान काफी उन्नति की है। भारत का आईटी उद्योग सन् 1990/91 के दौरान जहां करीबन 15 करोड़ अमेरिकी डॉलर का था वहीं सन् 2006/2007 में इसमें काफी वृद्धि दर्ज की गयी और तब यह करीबन 500 अरब अमेरिकी डॉलर तक पहुंच गया था। पिछले दस वर्षों के दौरान भारत के आईटी उद्योग की औसत वृद्धि दर लगभग 30 प्रतिशत रही है।

समुदविज्ञान

भारत के पास 7600 किलोमीटर से अधिक विस्तारित तटरेखा एवं 1250 द्वीप है। सन् 1981 में महासागर विकास विभाग की स्थापना की गयी जिसके माध्यम से जैविक स्रोतों सहित हाइड्रोकार्बनों और खनिजों जैसे अजैविक स्रोतों एवं महासागरीय ऊर्जा के अधिकतम उपयोग को सुनिश्चित किया जा सका है। दो अनुसंधान वाहिकाओं सागर कन्या और सागर संपदा संसाधन संभावना का मूल्यांकन कार्य कर रही हैं। सर्वेक्षण एवं अन्वेषण प्रयासों के द्वारा समुद्री तलीय स्थलाकृति और खनिज पिंडों की सांद्रता एवं गुणवत्ता का आकलन किया जाता है। भारत ने सन् 1981 से अंटार्कटिका पर 13 वैज्ञानिक अनुसंधान अभियानों को भेजा है और दक्षिण गंगोत्री नाम से वहां मानवयुक्त आधार तैयार किया है। दूसरी मानवयुक्त आधार को पूरी तरह से स्वदेशी प्रयासों की तहत विकसित किया गया है जिसके तहत आठ अभियानों को पूर्ण किया जा चुका है। इन अभियानों का उद्देश्य ओजोन आवरण का अध्ययन करने सहित अन्य महत्वपूर्ण घटकों जैसे प्रकाशीय ऊषा (ऑप्टिकल अरोरा), भूचुबंकीय स्पंदन और अन्य संबंधित परिघटनाओं पर शोध कार्य करना है।

महासागर संबंधित प्रौद्योगिकीयों के विकास के लिए राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान की स्थापना की गयी है।

जैवप्रौद्योगिकी

विकासशील देशों में भारत जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ऐसा अग्रणी देश है जो इस क्षेत्र में बहुविषयक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के साथ ही जैवप्रौद्योगिकी के अनुप्रयोगों के द्वारा कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की असीमित संभावनाओं की पहचान करने के साथ, मानव एवं जीवों के जीवन को उन्नत बनाने की दिशा में कार्यरत है। सन् 1982 में जैवप्रौद्योगिकी बोर्ड की स्थापना की गयी थी। सन् 1986 में जैवप्रौद्योगिकी विभाग को स्थापित किया गया। मवेशियों में भ्रूण स्थानांतरण तकनीक, रोगों के खिलाफ प्रतिरोधता, अधिक उपज देने वाली फसलों की प्रजातियों और अनेक बीमारियों से बचाव के लिए टीकों के विकास ने जैवप्रौद्योगिकी की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया है।

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्

सन् 1942 में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सीएसआईआर) की स्थापना की गयी थी। आज यह संस्थान देश में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान का एक प्रमुख संस्थान है। इसके अंतर्गत 40 प्रयोगशालाएं, दो सहकारी औद्योगिक अनुसंधान संस्थान और 100 से भी अधिक विस्तार एवं क्षेत्रीय केन्द्र कार्यरत है। परिषद् सरकार द्वारा विकसित प्रौद्योगिकी मिशन को पूर्ण करने की दिशा में अग्रणी भूमिका का निर्वाह कर रही है।

***

2 भारत में खगोलिकी

भारतीय खगोलिकी का आरंभः

और वास्तव में वैसा कुछ जैसे हमेशा खगोलिकी की कहानी शुरू होती है। भारत में खगोलिकी से जुड़ी इस शुरुआत को पर्याप्त रूप से लिपिबद्ध नहीं किया गया है। पहले खगोलीय पिंड जो अंडमान में कुछ 12000 साल पहले पाए गए थे, वे पैलिओलिथिक युग से संबंधित हैं और वे कैलेंडर स्टिक हैं जिसमें लकड़ी की एक छड़ी पर दैनिक खांचे का चीरा लगाने के द्वारा चंद्रमा के घटाव और बढ़ाव को दर्ज करते हैं।

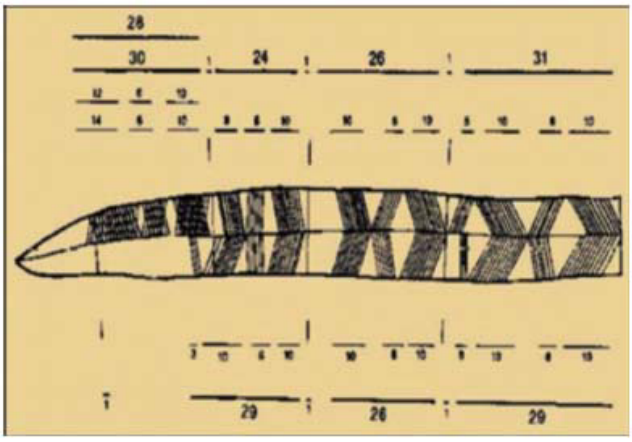

अंडमान द्वीप में पाई गई एक कैलेंडर स्टिक, जो अनेक महीनों के दौरान चंद्रमा की कलाओं को स्पष्ट रूप से दर्ज करता है।

*एक चंद्र मास की अवधि में चंद्रमा के छल्ले की स्पष्ट घटत और बढ़त, पूर्णिमा से अमावस्या और पुनः पूर्णिमा।

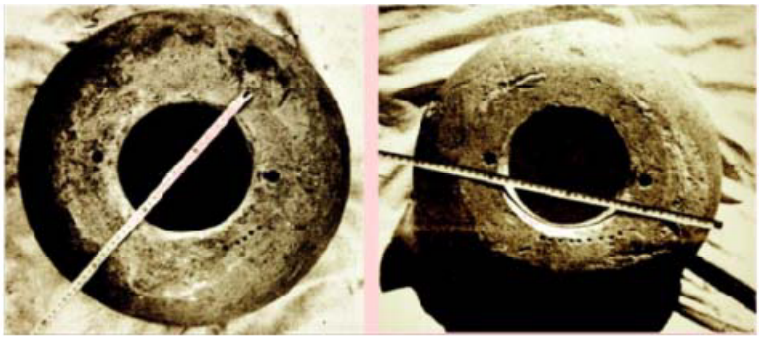

मोहनजोदड़ो में पाए गए छोटे ड्रिल हुए छिद्रों की कतारयुक्त छल्ले के आकार वाले पत्थर जो वर्ष भर में सूर्यास्त के बिंदु को प्रदर्शित करते हैं।

कश्मीर में पायी जाने वाली शैल कला जैसे कि दोहरा सूर्य (डबल सन) या संकेंद्री वृत्तों को कुछ विद्वान मानते हैं कि ये कुछ 7000 साल पहले संभवतः घटित सुपरनोवा और उल्कापात को प्रदर्शित करते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता (2600 से 1900 ईसा पूर्व) के सबसे बड़े नगर मोहनजोदड़ो में पाए गए छल्लेदार पत्थर जो छोटे ड्रिल हुए छिद्रों को प्रदर्शित करते हैं, जिन्हें वर्ष के विभिन्न काल खंडों में सूर्योदय का पता लगाने हेतु कैलेंडर युक्तियों के रूप में उपयोग किया जाता रहा है। एक ही नगर में गलियों के सटीक पूर्व पश्चिम संरेखण को तारा समूह (कृतिका) के अवलोकन से जोड़कर देखा जाता रहा है। वैसे उक्त कथन कल्पित रहता है, यह सुचिह्नित होता है कि सभी जगह के प्राचीन काल के लोग आकाशीय पिंडों के लय से सामंजस्य बैठाकर उसे ब्रह्मांड से जोड़ने की आवश्यकता को महसूस करते थे।

कुछ हजार साल पहले, चारों वेदों में सबसे पुराने ऋग्वेद में 360 दिनों के एक वर्ष का उल्लेख है। इस अवधि को बाढ़ समान भागों में विभाजित किया गया है और पांच वर्ष के युग (एरा) का प्रयोग किया गया था, संभवतः चंद्र और सौर वर्षों के सामंजस्य का यह पहला प्रयास था (उन पांच वर्षों के बाद एक महीने के योग द्वारा)। इसमें स्पष्ट रूप से सूर्य ग्रहण का उल्लेख दर्ज है, यद्यपि कि यह रूपकात्मक भाषा में है और यह हालही में प्रस्तावित किया गया है कि 3339 ईश्वरों का उल्लेख वास्तव में ग्रहणों के 18 वर्ष के चक्र का एक संदर्भ था जिसे सारोस कहते हैं। यदि ऐसा है तो खगोलीय अवलोकन की यह बहुत आरंभिक परंपरा की ओर इशारा करता है। कुछ सदियों के बाद, यजुर्वेद में 354 दिनों का एक चांद्र वर्ष और 365 दिनों का एक सौर वर्ष माना गया था तथा वर्ष को छः ऋतुओं या दो महीने के प्रत्येक मौसम में विभाजित किया गया था। यजुर्वेद में 27 नक्षत्रों या चंद्र घरों की पहली सूची दी गई है जो कि आकाशीय वृत्त पर चंद्रमा के पथ के संगत तारा समूह है।

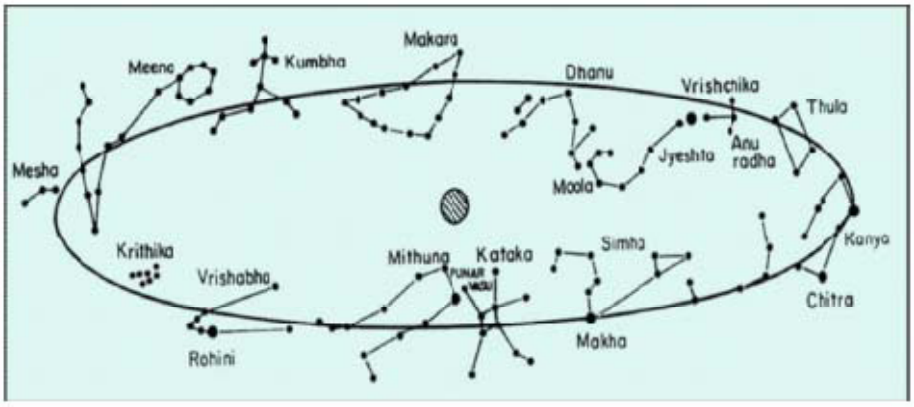

केंद्र में पृथ्वी के साथ 27 नक्षत्र (आभारः एम. एस. श्रीराम)

रश्मों के उचित निर्वाह के लिए समय निर्धारण की आवश्यकता हेतु कैलेंडर विधि वाली खगोलिकी का विकास अधिक प्रबुद्ध तरीके से उत्तर वैदिक अवधि में हुआ। ऐसा लगाध के वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि पाठ (और यदि हम इसे पहला विद्यमान भारतीय वैज्ञानिक पाठ कहें) के साथ हुआ था। इसके स्वयं के खगोलीय आंकड़ों के आधार पर अधिकांश विद्वानों के द्वारा इसकी अवधि बारहवीं और चौदहवीं सदी ईसा पूर्व के बीच मानी जाती है। निरयन दिवस की लंबाई (अर्थात किसी भी तारे के सापेक्ष पृथ्वी के एक सम्पूर्ण घुर्नान्में लगने वाला समय) में 23 घंटा 56 मिनट और 4.6 सेकंड का समय लगता है, जबकि इसका सही मान 23 घंटा 56 मिनट और 4.091 होता है। इन दोनों मानों में इस सूक्ष्म अंतर का कारण आरंभिक युग में पहुंची सटीकता का सूचक है। वेदांग ज्योतिष, अयनांत और विषुव की भी चर्चा करता है तथा सौर कैलेंडर सहित दो अधिकमास का प्रयोग भी करता है।' एक प्रकार से यह पाठ भारत के परंपरागत चांद्र सौर कैलेंडरों के लिए मूल आधार बने हैं।

*सौर वर्ष में लगभग 365.24 सौर दिन होते हैं, चांद्र वर्ष में अधिक से अधिक 360 दिन। कुछ वर्षों के बाद, इन दोनों के बीच का अंतर इतना बढ़ जाएगा कि दो प्रणालियों के मध्य एक व्यापक संयोग की पुनर्स्थापना के लिए चांद्र वर्ष में एक महीने का समय जोड़ने की आवश्यकता होगी। यह अधिकमास होता है।

आरंभिक ऐतिहासिक अवधिः

तीसरी सदी ईसा पूर्व से लेकर पहली सदी ईस्वी के बीच दूसरी अवधि का विस्तार था और यह ग्रहों के उगने व डूबने, उनके घूर्णन आदि पर आधारित खगोलीय संगणना द्वारा चिह्नित था। इस अवधि में, जैन खगोलिकी का भी विकास हुआ था जो कि 27 नक्षत्रों के दो सेट, दो सूर्य और दो चंद्रमाओं के एक विशेष माडल पर आधारित था। हालांकि यह कैलेंडर गणना में कभी प्रतिफलित नहीं हुआ।

यह भी वाही अवधि है, जब समय के विशाल पैमाने 4.32 अरब के 'ब्रह्म दिवस' (या कल्प) के रूप में अभिकल्पित किए गए थे जो जिज्ञासापूर्वक पृथ्वी की आयु के निकट (4.5 अरब वर्ष) पहुंचता है। वास्तव में अधिक लम्बे समय के पैमाने जैन पाठों और पुरानों में पाए जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने इस अवधि और आगे की अवधियों के दौरान बेबीलोन और ग्रीक के प्रभाव की बात पर बल दिया है। यद्यपि यह मुद्दा अभी पूरी तरह उद्घाटित नहीं है। हालांकि इस प्रकार का प्रभाव कुछ सदी ईसा पूर्व (उत्तर वैदिक भारत में महीने को केवल दो चांद्र पखवाड़ों या पक्षों, एक प्रकाशमय और दूसरा अंधकारमय में बांटा जाता था) सात दिवस वाले सप्ताह का आरंभ पर्याप्त तौर पर स्पष्ट प्रतीत होता है और 12 चिह्नों (राशि) वाले ज्योतिष चिह्न को सर्वप्रथम यवनजातक (269 ईस्वी) में दर्ज किया गया था।

सिद्धांतिक युगः

उपरोक्त अवधि के बाद हमारे ज्ञान में अनेक अंतराल दिखाई पड़ते हैं और यह उस शुरुआत के पहले की अवधि थी जिसे भारतीय गणित खगोलिकी का स्वर्णिम युग कहलाता है। पांचवीं सदी ईस्वी के आरंभ में इसे सिद्धांतिक युग कहा जाता है जब सिद्धांत नामक पाठ लिखे गए थे। यह संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ 'सिद्धांत' या 'निष्कर्ष' होता है, परन्तु यहां पर इसका आशय निष्कर्षों का एक संग्रह या एक ग्रंथ है। उनकी मुख्य विशेषताएं ग्रहीय स्थितियों की संगणना के लिए त्रिकोणमितिय विधियों और इपिसाइक्लिक माडलों का प्रयोग थीं।

*क्योंकि वे भूकेंद्रिक प्रणाली का प्रयोग कर रहे थे, अस्तु आरंभिक ग्रीक और भारतीय खगोलशास्त्री ग्रहों की आकस्मिक रिट्रोग्रेड गति (जैसा कि पृथ्वी से प्रतीत होता है) की व्याख्या नहीं कर सके थे, उन्होंने मान लिया था कि गृह छोटी कक्षाओं के साथ घूर्णन करते थे जिन्हें इपिसाइकल कहते थे, जिनके केन्द्र बड़े वृत्तों (ग्रहों की माध्य कक्षाएं) के साथ पृथ्वी के परितः घूमते थे।

आर्यभट प्रथम (जन्म 476 ईस्वी) उस जगह पर कार्य करते थे जहां वर्तमान में पटना स्थित है, उनके महत्वपूर्ण योगदान के कारण उस युग को आर्यभटीय कहते हैं। यह युग संक्षेप में परंतु क्रमिक रूप से गणित और खगोलिकी के विकास की आख्या प्रस्तुत करता है। अन्य बातों के अलावा, इसमें समय की इकाइयों और आकाशीय पिंडों की विशेषताओं की चर्चा भी की गई थी। इसमें पृथ्वी को अंतरिक्ष में एक घूर्णनशील गोले के समान वर्णित किया गया है औत ग्रहों की माध्य स्थितियों की एक तालिका भी बनाई गई है। आर्यभट ने चंद्र और सूर्य ग्रहणों की सही व्याख्या भी दी थी और पृथ्वी का व्यास 1050 योजन (योजन को 8000 औसत मानव उंचाई या लगभग 13.6 किलोमीटर) बताया था। यह वास्तविक विमा के करीब यद्यपि 12 प्रतिशत बड़ा ठहरता है (ग्रहों और सूर्य के लिए उनके द्वारा दिए गए व्यास हालांकि अत्यंत छोटे हैं)।

उनके बाद अनेक प्रतिभाशाली खगोलशास्त्री हुए जिन्होंने निर्देशांक प्रणालियों, काल मापन एवं विभाजन, आकाशीय पिंडों की माध्य व वास्तविक स्थितियों ततः ग्रहणों जैसे मुद्दों पर अपने विचार रखे थे।

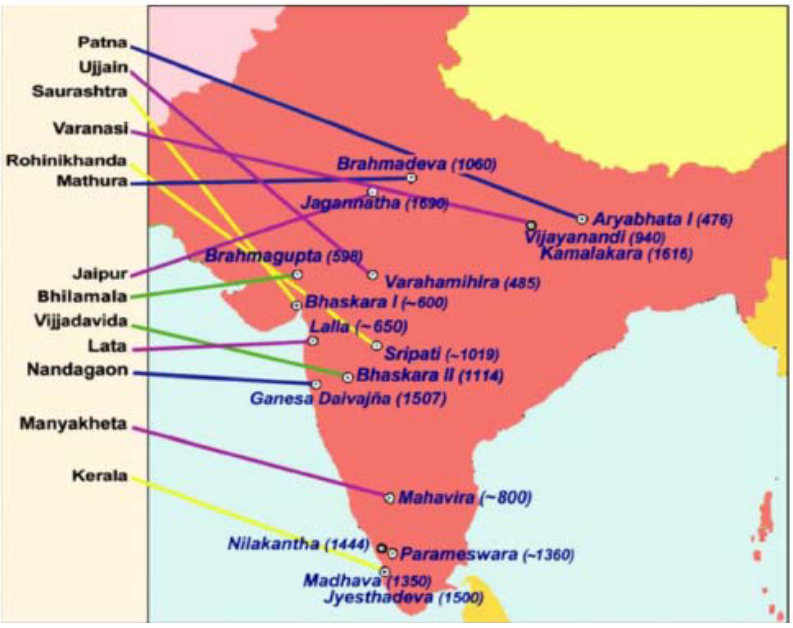

भारत के खगोलशास्त्रियों और गणितज्ञों को दर्शाता हुआ एक मानचित्र। उनकी जन्म तिथियां, जन्म स्थान या उनके कार्य प्रायः अनुमानित हैं। ध्यान दें कि बोधायन (600 ईसा पूर्व) से श्रीधर (800) या आर्यभट द्वितीय (950) जैसे अनेक नाम इस मानचित्र पर साधारणतः दर्ज नहीं किए जा सकते हैं क्योंकि उनकी स्थितियों का जिक्र किसी पाठ में नहीं मिलता है (आभारः माइकल डेनिनो, विभिन्न स्रोतों से संकलित)।

आर्यभट के समकालीन रहे वराहमिहिर ने 505 ईस्वी में पांच खगोलीय पाठों का सृजन किया था जो उनकी समय अवधि के दौरान प्रभावी हुआ था। उन पंचों में से एक पाठ सूर्य सिद्धांत था जिसे बाद में संशोधन किया गया और भारतीय खगोलिकी का यह एक आधारभूत पाठ बना। दो अन्य पाठों में ग्रीक खगोलिकी के सिद्धांतों की व्याख्या की गई थी। वाराहमिहिर ने ग्रहों के घूर्णन, ग्रहणों और राशियों (प्रायः ज्योतिष पृष्ठभूमि के साथ) विस्तृत रूप से चर्चा की थी। आर्यभट प्रथम के सबसे पहले ज्ञात प्रतिनिधि भास्कर प्रथम (जन्म 600 ईस्वी) ने परिवर्धित गणना विधियों के अतिरिक्त आर्यभट की खगोलिकी के संबंध में एक बेहद उपयोगी व्याख्या प्रस्तुत की थी)।

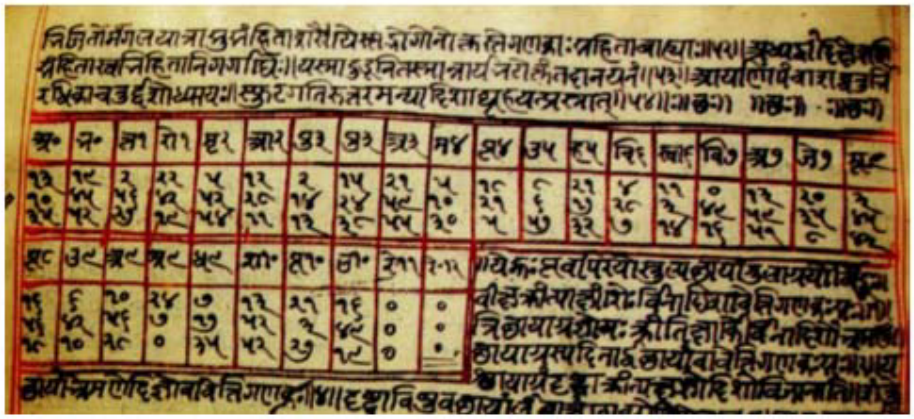

ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मगुप्त सिद्धांत पाण्डुलिपि से लिया गया एक अनुच्छेद (आभारः बांबे विश्वविद्यालय पुस्तकालय)

कुछ वर्षों बाद, ब्रह्मगुप्त (जन्म 598 ईस्वी) जो माउंट आबू के पास रहते थे, उन्होंने पृथ्वी को एक घूर्णनशील गोले के तौर पर दिए गए आर्यभट के विचार का खंडन भूलवश कर दिया था। परंतु उन्होंने ग्रहों के माध्य एवं वास्तविक देशान्तरों की गणनाओं, संयोगों और चंद्र व सूर्य ग्रहणों से जुड़ी समस्याओं के संबंध में अत्यंत योगदान दिया था।

*आकाशीय पिंड (ग्रह या तारा) का आकाशीय देशान्तर उस मापे गए सूर्य पथ का चाप होता है जो पूर्व में महाविषुव से उस बिंदु पर स्थित होता है जो पिंड से होकर गुजरने वाले महावृत्त द्वारा प्रतिच्छेदित होता है (सूर्य पथ, पृथ्वी के अक्ष का ताल होता है)। माध्य देशान्तर एक औसत मान को संदर्भित करता है जो कि पिंड की औसत स्थिति होती है जबकि 'वास्तविक देशान्तर' दिए गए समय पर इसकी वास्तविक स्थिति को प्रकट करता है।

भारतीय खगोलशास्त्री खगोलीय अवलोकन की एक सशक्त परंपरा के बिना बहुत कुछ हासिल नहीं कर सके थे और ब्रह्मगुप्त की महान कृति ब्रह्मगुप्त सिद्धांत का बाइसवां अध्याय विविध खगोलीय यंत्रों का वर्णन करता है, जिनमें से अधिकांश यंत्रों को किसी भी अच्छे कारीगर या शिल्पी के द्वारा आसानी से बनाया जा सकता है। उन यंत्रों में से एक वाटर क्लाक (घड़ी यंत्र) जिसमें एक कटोरा और उसकी तली में एक छोटा छिद्र होता है, जो ठीक 24 मिनट (एक घाटी) में डूब जाता है, यदि इसे पानी के ऊपर रखा जाता है, एक ग्नोमन (एक छोटी छड़ी जिसकी छाया की गति का अध्ययन करने के लिए इसे उर्ध्व रखा जाता है), एक अंशांकित चकती या अर्ध चकती और एक कैंची सदृश जोड़ा जो एक कुतुबनुमा (कम्पास) की तरह कार्य करता है। वे यंत्र और उन पर प्रयुक्त गणना तकनीकों को बाद के विद्वानों द्वारा अपनाया गया था तथा इसका आरंभ आठवीं सदी के लाला द्वारा किया गया था।

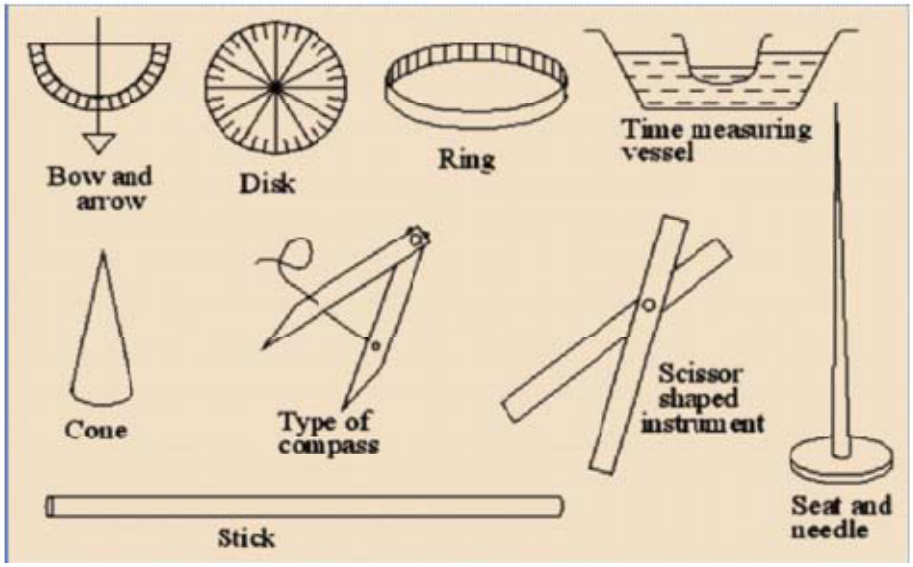

खगोलीय अवलोकनों के लिए लाला द्वारा वर्णित कुछ यंत्र (आभारः शेखर नार्वेकर)।

ब्रह्मगुप्त ने भी खगोलीय गणनाओं पर एक मैनुअल लिखा था जो सदियों तक लोकप्रिय बना रहा। इसे अल बरुनी ने प्रमाणित किया था। अल बरुनी एक पारसी विद्वान थे जो ग्यारहवीं सदी में भारत आए थे और वे महमूद गजनी के परिजनों का हिस्सा थे। उनकी भारतीय खगोलीय तकनीकों में अगाध रूचि थी, उन्होंने इन पर कई रचनाएँ भी लिखी थीं और वाराहमिहिर व ब्रह्मगुप्त के पाठों को अरबी या फारसी में अनुवाद भी किया था।

भास्कर द्वितीय (जन्म 1114) जिन्हें बेहतर रूप में भास्कराचार्य के नाम से जाना जाता है, उन्होंने खगोलीय और गणितीय दोनों की तकनीकों में महत्वपूर्ण नवाचार किए, ग्रहों की माध्य व वास्तविक स्थितियों, समय की तिहरी समस्या, दिशा व स्थान ग्रहों के उगने एवं डूबने और संयोगों, ग्रहों की गतियों हेतु उत्केंद्री एवं इपिसाइक्लिक सिद्धांत तथा बड़ी संख्या में खगोलीय यंत्रों पर विशेष रूप से चर्चा किया था। समग्र तौर पर भास्कराचार्य ने आरंभिक भारतीय खगोलशास्त्रियों द्वारा अपनाए गए सूत्रों और विधियों में व्यापक रूप से सुधार किए थे।

1128 ईस्वी का शिलालेख जो राजा रत्नदेव द्वारा खगोलशास्त्री पद्मनाभ को एक पूर्ण चंद्र ग्रहण का पूर्वानुमान करने के लिए एक गांव दान में देने की घोषणा को दर्ज करता है। 440 से 1859 ईस्वी के बीच ऐसे लगभग 350 शिलालेखों का पता लगाया गया है (आभारः बी. वी. सुब्बरायप्पा)।

उन सदियों के दौरान खगोलिकी का आम जन की ओर जुड़ाव अधिकांशतः कैलेंडर, पंचांग और ग्रहणों के पूर्वानुमान के माध्यम से बना रहता था। इन सबका महत्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक महत्व था। वास्तव में, एक खगोलशास्त्री की प्रसिद्धि प्रमाणित होती थी यदि वह सटीकता के साथ ग्रहणों की घटना, प्रकृति व अवधि का पूर्वानुमान कर सकता था। ऐसे खगोलशास्त्री को राजा के द्वारा सम्मानित करने के अनेक उल्लेख शिलालेखों में पाए जाते हैं। एक अन्य जुड़ाव वास्तुशास्त्र था और अनेक मंदिर अयनांतों और विषुवों पर सूर्योदय जैसी घटनाओं के सापेक्ष स्पष्ट खगोलीय संयोगों को दर्शाते हैं।

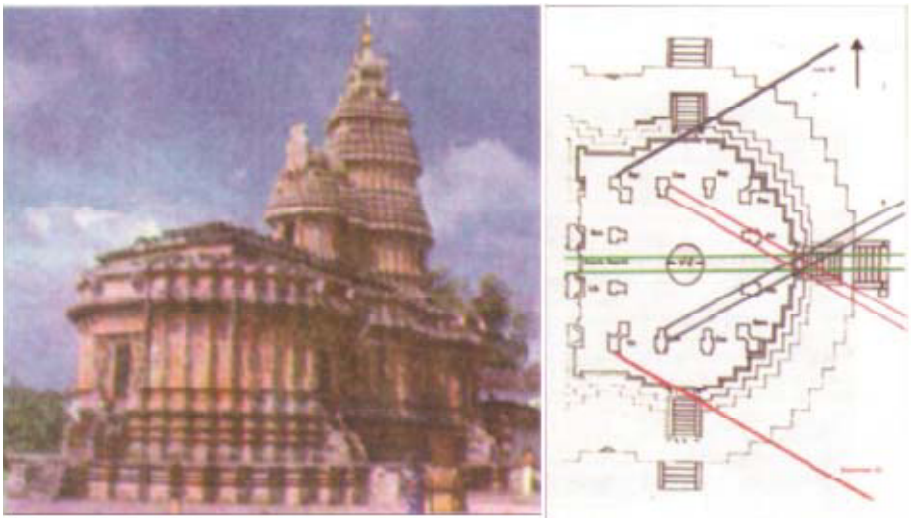

श्रृंगारी मंदिर जिसका मंडप बाढ़ राशियों या ज्योतिष के चिह्नों को समर्पित है, इसके कुछ स्तंभ दो अयनांतों पर सूर्योदय से संरेखित हैं (आभारः बी. एस. शैलजा)।

केरल स्कूलः

यह व्यापक विश्वास कि भास्कर द्वितीय के बाद भारतीय खगोलिकी और गणित के क्षेत्रों में वास्तविक रूप से कोई प्रगति नहीं हुई, यह दक्षिण राज्य केरल में घटित तीव्र विकास के सामान्य नजरअंदाज पर आधारित है। तथाकथित खगोलिकी और गणित का केरल स्कूल में चौदहवीं से लेकर सत्रहवीं सदी में पुष्पित पल्लवित हुआ था जब उत्तर भारत में ज्ञान संचार के नेटवर्क कई बार हमलों के कारण बुरी तरह नष्ट हो गए थे।

परमेश्वर (1362–1455 ईस्वी) जो कि कुछ तिस किताबों के लेखक रहे हैं, इस स्कूल के आरंभिक खगोलशास्त्रियों में से एक थे एवं डीआरके प्रणाली के संस्थापक थे और इस प्रणाली ने ग्रहणों एवं ग्रहों की स्थितियों की गणनाओं में सुधार लाया तथा यह बहुत लोकप्रिय साबित हुआ था। उन्होंने नियमित से सही सूत्रों को वास्तविक अवलोकनों के निकट लाने की जरूरत पर बल दिया था और अनेक वर्षों की अवधि के दौरान ग्रहणों और उनके मापदंडों का अध्ययन किया था। वे नीलकंठ सोमायाजी (1444–1545 ईस्वी) के बाद इस क्षेत्र में आए थे। सोमयाजी ने अपने मील के पत्थर समान कृति 'तंत्र संग्रह' में बुध और शुक्र जैसे लघु ग्रहों के लिए पुरानी भारतीय गृह संबंधी माडल में व्यापक संशोधन किया तथा उनकी व्याख्या सूर्य के परितः संकेंद्री कक्षाओं में घूमने वाले ग्रहों मंगल या कुजा, बृहस्पति या गुरु व शनि के साथ की थी। यूरोप में सूर्य केन्द्रिक सिद्धांत के प्रतिपादक कापरनिकस (1473–1543) से पहले नीलकंठ ने इस तथ्य को सामने रखा था, इस दृष्टि से खगोलिकी से संबंधित केरल स्कूल की उपलब्धि सचमुच उल्लेखनीय है। हालांकि यह असंभावित प्रतीत होता है, परंतु भारतीय सूर्यकेंद्रिकवाद ने इस क्षेत्र में यूरोपीय प्रगति को सीधे तौर पर प्रभावित किया था।

अन्य उत्तर सिद्धांतिक विकासः

लगभग उसी समय इस्लामिक खगोलिकी के साथ एक जटिल झुकाव की घटना हुई, जिसके अन्य लाभों में एक लाभ यंत्रों के मामले में हुआ जैसे कि भारत में एस्ट्रोलेब (खगोलीय यंत्र) का प्रवेश हुआ था। प्रसिद्ध व व्यापक यन्त्र मंत्र या जंतर मंतर अवलोकन जो कि जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह (**1688–1743**) के द्वारा अट्ठारहवीं सदी के आरंभ में किया गया था, वह भारतीय, अरबी और यूरोपीय खगोलिकी को प्रस्तुत करता है।

आमतौर पर भारतीय खगोलशास्त्री सैद्धांतिक माडलों की अपेक्षा गणना की सक्षम विधियों में अधिक रूचि लेते थे। ग्रह संबंधी स्थितियों और ग्रहणों की गणना के लिए प्रयुक्त कुछ तकनीकों से उल्लेखनीय रूप से सटीक परिणाम आए थे तथा उनकी गति से ली जेंतिल नामक यूरोपीय

खगोलशास्त्री तक बेहद प्रभावित हुए थे। जेंतिल एक फ्रांसीसी विद्वान थे जो जून 1769 में शुक्र पारगमन के अवलोकन के उद्देश्य से पुदुचेरी में दो साल ठहरे थे।

नई दिल्ली स्थित जंतर मंतर के दो –श्य (आभारः माइकल डेनिनो)।

यद्यपि परंपरागत तालिकाओं और यहां तक कि गणना विधियों का भली भांति अस्तित्व उन्नीसवीं सदी में रहा था (उड़िया खगोलशास्त्री सिमांत चंद्रशेखर सिन्हा के मामले का प्रमाण लें जो कि यूरोपीय

खगोलिकी से एकदम अछूता थे और 1869 में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत की रचना की थी), आधुनिक खगोलिकी का आरंभ इस विज्ञान में भारत के स्वयं के विकास को और अधिक नजदीक लाने का काम किया था। लेकिन भारत ने अनेक प्रकार से नए विज्ञान के विकास में अपना अहम योगदान दिया था, जैसे कि भारतीय खगोलशास्त्रियों और गणितज्ञों के द्वारा विकसित कुछ तकनीक अरबों के माध्यम से यूरोप तक सदियों पहले पहुंचे थे। वास्तव में भारतीय खगोलिकी ने न केवल इस्लामिक (या जिज) और यूरोपीय खगोलशास्त्रों से संवाद स्थापित किया बल्कि जटिल परस्पर क्रियाओं में चीनी खगोलिकी से भी सहचरी बनाया जिससे दोनों पक्षों की समान रूप से अभिवृद्धि हुई थी।

3 भारत में रसायन विज्ञान - एक सर्वेक्षण

रसायन विज्ञान, जैसा कि इसे हम आज समझते हैं, यह अपेक्षाकृत एक नए अध्ययन का विस्तार है, इसने यूरोप में कीमियाई परंपरा के पनपने के पश्चात 18वीं सदी में आकार लेना शुरू कर दिया था, जिसे आंशिक रूप से अरबों से अनुकरण किया गया था। (कीमिया एक अर्द्ध–गूढ़ अभ्यास था जिसका उद्देश्य मूल धातुओं को सोने में बदलना था और 'जीवन के उत्थान' की खोज करना, जो चिर स्थाई रहने वाली होंगी।) यद्यपि अन्य संस्कृतियां, विशेष रूप से चीनी और भारतीयों के पास स्वयं की कीमियाई परंपराएं थीं, जिसमें रासायनिक प्रक्रियाओं और तकनीकों का अधिकतम ज्ञान समाहित था।

आरंभिक रासायनिक तकनीक

भारत में, हम सिंधु घाटी सभ्यता (तीसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व) और इसके पूर्ववर्ती काल खंडों में इस तरह की तकनीकों की जड़ें खोज सकते हैं। भारत में धातु विज्ञान के माड्यूल में हड़प्पावासियों के धातु सम्बन्धी कौशल का वर्णन किया गया है। ऊष्मा (हीटिंग), संलयन और वाष्पीकरण जैसी प्रक्रियाओं के नियंत्रण से बर्तनों का निर्माण (पाटरी) किया जाता था। मनका निर्माण की प्रक्रिया में खनिजों की ब्लीचिंग सहित जटिल उपचार शामिल थे, जिसमें मोती पर स्थायी सफेद डिजाइन उकेरने के लिए कैल्शियम कार्बोनेट के मिश्रण में मोती को डालकर भट्टी में गर्म किया जाता था।

हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त एक ब्लीच किया हुआ मनका (आभारः जे. एम. केनोएर)

अन्य अवयवों में से जले हुए चूने और जिप्सम से बने विभिन्न मोर्टार और सीमेंट के साथ भी हड़प्पा सभ्यता के लोग प्रयोग करते थे। बारीकी से कुचले या कर्ष किए गए क्वार्ट्ज, एक बार जलाये

गए, मिट्टी के बर्तन को चमकाकर बनाए गए एक कृत्रिम पदार्थय इस उत्पाद को फिर सिलिका (शायद सोडा से संलयित) के साथ लेपित किया जाता था, जिसे तांबा ऑक्साइड के मिश्रण में फिरोजा को मिलाकर चमकाया जाता था। बर्तन को चमकाकर फिर गहने या मूर्तियों की शक्ल में ढाला जाता था। आयरन ऑक्साइड के समावेश से चमकीले मिट्टी के बरतन को हरा नीला रंग दिया जाता था जबकि मैंगनीज ऑक्साइड फलस्वरूप मैरून रंग प्रदान करता था।

ऐसी तकनीक सिंधु सभ्यता के अंत तक बची रही और उत्तरवर्ती गंगा सभ्यता (प्रथम सहस्त्राब्दि ईसा पूर्व) में अपनी जगह तलाशती रही, प्रायः नवाचारों के साथ। उदाहरण के लिए, ग्लास निर्माण के क्षेत्र में, दक्षिण में अरिकामेडु तथा उत्तर–पश्चिम में तक्षशिला के नालंदा से कांच के अनेक मनकों और अन्य कलाकृतियों के साक्ष्य मिले हैं।

बर्तन के चमकाने से बनाई गई एक हड़प्पाकालीन चूड़ी

कुशल रासायनिक अभ्यास के लिए रंजक (पिग्मेंट) एक अन्य क्षेत्र था और इनकी आवश्यकता चित्रकला (अजंता के प्रसिद्ध भित्ति चित्र के प्रमाण) साथ ही साथ कपास और अन्य कपड़ों की रंगाई में होती थी। कौतुहल का विषय यह है कि रंजकों के स्रोत कार्बनिक सामग्री (जैसे विशिष्ट फूलों या फलों के निष्कर्ष) तक ही सीमित नहीं थे अपितु कार्बन (दीपक से उत्पन्न काला रंग) से लेकर आर्सेनिक खनिज स्रोत, जैसे सल्फाइड (गेरुआ रंग) या तांबा एसीटेट (नेवी ग्रीन, रंग में) के खनिज शामिल थे।

वैसेसिका में परमाणुवाद

हालांकि इसका वास्तविक रसायन विज्ञान में रूपांतरित नहीं किया गया था, यहां पर परमाणुवाद की भारतीय अवधारणा का संक्षिप्त उल्लेख प्रासंगिक है। परमाणुवाद या वह अवधारणा, जिसमें कि कोई पदार्थ अंततः अविभाज्य अवयवों से मिलकर बनता है, भारत में कुछ ईसा पूर्व एक दार्शनिक अनुमान के हिस्से के तौर पर विकसित हुई थी, संज्ञान में आये इस गतिविधि को लेकर काफी दार्शनिक अटकले थी, विशेष रूप से वैसेसिका में, जो प्राचीन भारत की छह दार्शनिक प्रणालियों में से एक मानी जाती है। वैसेसिका सूत्र के लेखक कनड़ा (शाब्दिक रूप से 'कणों को खाने वाला') के रूप में जाना जाने लगा और वह 500 ईसा पूर्व के बाद किसी समय रहते थे। इस प्रणाली में, सभी पदार्थ छोटी इकाइयों के एक संग्रह के रूप में दिखाई देते हैं जिसे परमाणु (अणु या परमाणु) के नाम से जाना गया, जो शाश्वत, अविनाशी, गोलाकार, सुप्रा–सेंसिबल और प्राथमिक स्थिति में गतिमान थेय वे जोड़ों में, तीन गुना और अन्य संयोजनों के साथ–साथ तथा अदृश्य ताकतों द्वारा आपस में पारस्परिक रूप से संलयित भी थे। वैसेसिका प्रणाली में नौ प्रकार के पदार्थ (द्रव्य) की पहचान की गई थीः (1 से 5) पांच तत्व (पृथ्वी, पानी, आग, वायु या आकाश), (6) समय (काल), (7) अंतरिक्ष या दिशा (दिक्), (8) दिमाग (मानस) और (9) आत्मा। इसके अलावा पदार्थ में 24 अलग– अलग विशेषतायें थी, जिनमें तरलता, चिपचिपाहट, लचीलापन और गुरुत्वाकर्षण जैसे गुण प्रमुख थे। तरलता पानी, पृथ्वी और आग से संबंधित थी, चिपचिपापन पानी से तथा गुरुत्वाकर्षण का संबंध पृथ्वी से था। ध्वनि, ऊष्मा और प्रकाश की खास विशेषताओं पर भी चर्चा की गई थी, जो प्रायः भौतिकी के बाद की खोजों में प्रमुखता से वर्णित होने लगे। यद्यपि गणितीय प्रणाली में कमी के कारण, वे वैज्ञानिक सिद्धांतो में विकसित नहीं हो पाए।

प्रारंभिक साहित्य में रसायन विज्ञान

भारत के शुरुआती साहित्य में रासायनिक प्रणालियों के ज्ञान के भरपूर साक्ष्य हमें मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को मौर्य काल में तीसरी या चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में संभवतः शासन और प्रशासन के एक प्रसिद्ध पाठ के रूप में जाना जाता है। इसमें प्रचलित रासायनिक प्रणालियों पर अधिक आंकड़े है, विशेष रूप से खदानों और खनिजों (सोने, चांदी, तांबा, सीसा, टिन और लौह के धातु अयस्क सहित) पर एक बड़ा अध्याय वर्णित है। विशिष्ट विशेषता युक्त विभिन्न कीमती पत्थरों (मोती, रूबी, बेरिल इत्यादि), किण्वित रसों (गन्ना, गुड़, शहद, जंबू, कटहल, आम, आदि) और तेल निष्कर्षण के विवरणों पर भी इस ग्रन्थ में चर्चा की गई है।

आयुर्वेद के दो मौलिक ग्रंथों चरक संहिता और सुश्रुत संहिता कुछ सदी ईस्वी में लिखे गए थे। न केवल इन शास्त्रों में उपयुक्त सूक्तियों का उपयोग चिकित्सा में इस्तेमाल होने वाले रसायन की विस्तृत श्रृंखला के रूप में हुआ, अपितु धातुओं, खनिजों, नमक, रस के निर्माण में भी भरपूर हुआ, लेकिन

वे विभिन्न क्षारकों या एल्केलाइन (क्षार) को बनाने पर भी चर्चा करते हैं, जो 'दस कलाओं' में से एक के रूप में जाना जाता है। क्षारों को हल्के, कठोर या औसत के रूप में वर्णित किया जाता है और इन्हें विशिष्ट पौधों से तैयार किए जाते हैंः इसमें चूना पत्थरों के साथ पौधों को जला कर, फिर उनकी राख को पानी में मिलाकर, उसका निस्यंद बनाया जाता है और इस तरह उत्पन्न विलयन को उबालकर सान्द्र घोल बनाते हैं, तत्पश्चात इसमें चूना पत्थर और शंख को मिलाया जाता है। इस तरह के क्षारीय पदार्थों का प्रयोग सर्जिकल यंत्रों और दवाओं के निर्माण हेतु लोहा, सोना या चांदी जैसे धातुओं की पतली चादरों के उपचार के लिए भी इस्तेमाल किया जाता था। इन ग्रंथो में सिट्रस या इमली जैसे पौधों से निकाले गए (निष्कर्षित) कार्बनिक अम्ल का भी जिक्र है (खनिज अम्लों के बारे में जागरूकता बहुत बाद में आई)।

छठवीं ईसा पूर्व में वराहमिहिर द्वारा लिखित बृहत् संहिता (विश्वकोश) में अलग–अलग अनुपात में मिश्रित सोलह मौलिक पदार्थों में से देशी इत्र के निर्माण पर एक अध्याय है। दरअसल, शास्त्रीय और मध्ययुगीन भारत में सुगंध और सौंदर्य प्रसाधन में रासायनिक प्रणालियों का भरपूर इस्तेमाल हुआ। बृहत् संहिता में विभिन्न व्यंजन भी शामिल हैं, उदाहरण के लिए एक चिपचिपे सामग्री का निर्माण जिसका उपयोग घर और मंदिर की छत व दीवार में किया जाता थाय यह पूरी तरह से विभिन्न पौधों, फलों, बीजों और पेड़ की छाल से तैयार किया जाता था, जिन्हें उबालकर सांद्रित करने के बाद, उसमें विभिन्न रेजिन मिलाया जाता था। इस तरह के व्यंजनों का परीक्षण और वैज्ञानिक रूप में आकलन करना दिलचस्प होगा। कई ग्रंथों (जैसे कामसूत्र) में पारंपरिक चौंसठ कलाओं की एक सूची मिलती है, एक परिपूर्ण व्यक्ति को इन चौंसठ कलाओं में सुविज्ञ होने की अपेक्षा की जाती थी। दिलचस्प बात यह है जो हम पाते हैं कि 'सोने और चांदी के सिक्के, जवाहरात और रत्न का ज्ञानय रसायन और खनिज विज्ञानय रंगीन गहने, रत्न और मोतीय खानों और खदानों का ज्ञान प्राप्त होता है 'जो इस तरह के क्षेत्रों में दिए गए ध्यान को प्रमाणित करता है।

शास्त्रीय युग

भारत में कीमियागिरी गुप्त साम्राज्य के दौरान पहले ईसा सहस्त्राब्दी के मध्य के आस–पास उभरकर सामने आया था। इसकी उत्पत्ति का पता लगाना मुश्किल है और विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि इसके अस्तित्व का उद्धरण चीन से मिलता है, जिसके नियमों को दूसरे ईसा पूर्व के आरंभ में प्रमाणित किया गया है। इसकी जैसी भी शुरुआत हुई, भारतीय कीमिया ने जल्द ही अपनी एक अलग पहचान बना ली। इसे अलग– अलग नामों जैसे रसशास्त्र, रसविद्या या धातुवाद से जाना जाता थाय रस शब्द के कई अर्थ हैं, जैसे सार तत्व, स्वाद, रस या वीर्य, लेकिन इस प्रसंग में पारा को संदर्भित किया गया है, जिसे सबसे महत्वपूर्ण तत्वों में से एक के रूप में देखा जाता है। पारा को पुरुष सिद्धांत (शिव) के रूप

में पहचाना गया था जबकि सल्फर (गंधक) महिला सिद्धांत (शक्ति) से जुड़ा था और अधिकांश कीमियागिरी के ग्रंथों को शिव और शक्ति के बीच एक संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया था। (दिलचस्प बात यह है कि पारा और सल्फर के अंश चीनी कीमिया की तरह एक दूसरे में संलयित हैं!) यह तंत्र दर्शन के साथ आमेलित है और वास्तव में कीमियाई अभ्यासों, निर्माण और प्रक्रियाओं में पारा को दिव्य माना जाता था तथा अदृश्यता और उत्थान सहित न केवल दीर्घायु बल्कि गुप्त शक्तियों को प्रदान करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली माना जाता था।

यहां कीमियाई साहित्य बहुत ही समृद्ध है, जिसे अनेक लेखकों में से नागार्जुन, गोविंद भागवत, वाग्भट, सोमदेव, यशोधरा आदि जैसे विद्वानों द्वारा लिखा गया है। रसशास्त्र ग्रंथ अनेक रासायनिक पदार्थों और उनसे जुड़ी अभिक्रियाओं की चर्चा करता है। वे निम्नानुसार कुछ बदलावों के साथ वर्गीकृत थे:

- महारस या आठ प्रमुख पदार्थः अभ्रक, टूमलाइन, कापर पाइराइट, आयरन पाइराइट, राल या डामर, कापर सल्फेट, जिंक कार्बोनेट और पारा (कभी–कभी लैपिस लजुली और मैग्नेटाइट या लोड़ेस्टोन शामिल हैं)य
- उपरस या आठ मामूली पदार्थः सुर्ख गेरुआ रंग का गंधक, आयरन सल्फेट, फिटकरी, ऑर्पीमेंट (आर्सेनिक ट्राइसलफाइड), रीयलगर (आर्सेनिक सल्फाइड), काजल (एंटीमोनी के यौगिक) और टिंटस्टोन या कैसिटेराइट (टिन डाइऑक्साइड) शामिल हैं।
- नवरत्न या नौ रत्न, मोती, पुखराज, पन्ना, माणिक, नीलम, मूंगा, गोमेद, लहसुनियाऔर हीरा शामिल है।
- धातु या सप्त धातुः सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सीसा, टिन, जस्ताय कुछ मिश्र धातुएं (जैसे पीतल, कांस्य और पांच धातुओं के संयोजन) भी इसमें शामिल किए गए थेय जहर (विष या गरल) और पौधे भी शामिल हैंय उत्तरार्द्ध में, 200 से अधिक पाठों में इनके नाम आए हैं (उनकी पहचान हमेशा निश्चित नहीं होती है), इन पौधों की विशेष रूप से, धातुओं और खनिजों के उपचार या पाचन में आवश्यकता होती थी।

जीवन के उत्थान की तलाश में, पारद को सुदीर्घ जीवन और युवा शक्ति प्रदान करने वाला माना जाता था, पारा को कभी–कभी अमृतधातु या 'अमर धातु' कहा जाता था। कुछ आयुर्वेदिक और सिद्ध दवाएं परंपरागत रूप से विभिन्न धातुओं और खनिजों से बनाई जाति थीं, परंतु केवल जटिल शुद्धीकरण प्रक्रियाओं के बाद उनके जहरीले प्रभावों को दूर कर (या उन्हें 'मार डालें', ग्रंथों के अनुसार) और उन्हें आंतरिक उपयोग के लिए उपयुक्त बनाया जाता था। उदाहरण के लिए, यद्यपि पारा यौगिकों को जहरीला माना जाता था, सिंदूर (मरक्यूरिक सल्फाइड, HgS) विभिन्न औषधीय प्रभावशाली पौधों के

रस और अर्क, सल्फर, अभ्रक, क्षारीय पदार्थों आदि सहित अट्ठारह जटिल प्रक्रियाओं से होकर गुजारा जाता था। जिसके परिणामस्वरूप पारे का वह यौगिक उपयोग के लिए उपयुक्त घोषित किया जाता था और माना जाता था कि वह शरीर को उर्जा प्रदान करेगा। इसी तरह की प्रक्रियाएं तमिल कीमिया और चिकित्सा प्रणाली में मौजूद थीं, इसके अलावा, प्राकृतिक रूप से मिल्ने वाले लवणों, विशेष तौर पर उनमें से तीन (मुप्पू) पत्थर लवण और अनेक कार्बोनेट के संबंध में विशेष तकनीकें विकसित हुईं।

मूल सिंदूर या मरक्यूरिक सल्फाइड

लेड, टिन या तांबा जैसे आधार धातुओं को रूप बदलकर (ट्रांसम्यूट) सोने में कीमिया प्रणाली का एक और अध्ययन विषय था तथा इसमें पांच क्रियाएं शामिल थीं: पोतना, उड़ेलना, धुम्रण और प्रभाव। यहां फिर से, पारा, जिसे कभी–कभी स्वर्णकारक या 'सोने का निर्माता' कहा जाता है, अक्सर एक प्रमुख भूमिका निभाता है। ग्रंथों में वर्णित प्रक्रियाएं काफी विस्तृत हैं, इन्हें हासिल करने में कई दिन लगेय हालांकि, उनके सटीक विवरणों का अक्सर अनुसरण नहीं किया जा सकता है, हालांकि, कुछ पौधों, खनिजों या उनके उपचारों के बारे में अनिश्चितताएं हैं। लेकिन रूप परिवर्तन को पूरी तरह से यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में नहीं माना जाता था: ईमानदारी, आत्म–नियंत्रण, उद्देश्य की निष्ठा, ईश्वर में आस्था, गुरु के प्रति आज्ञाकारिता और रस विद्या में विश्वास को सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना जाता था। वास्तविक प्रथाओं को गुप्त रखा गया था, क्योंकि यदि लक्ष्य को अनियमित कर दिया गया तो लक्ष्य तक पहुंचने में असफलता की सम्भावना होगी।

आधार धातुओं में सोने के वास्तविक उत्पादन के दावों में हाल के समय में बढ़ोतरी हुई है, जैसे कि सन 1941 में नई दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मंदिर में एक संगमरमर स्लैब के प्रदर्शन में दर्ज किया गया थाय ऐसे दावों को सर्वथा संशयवाद के साथ देखा जाना चाहिए। धातु का रंग इतना बदल गया था कि यह सुनहरा दिखाई देता थाय वास्तव में, कुछ ग्रंथ चांदी, तांबा और पारा को सोने जैसे दिखने वाले मिश्र धातुओं के रूप में संदर्भित करते हैं। कीमियागिरी परंपरा में, धातुओं के रूपांतरण को जीवन के उत्थान के माध्यम से शरीर के अपने रूपांतरण के एक रूपक के तौर पर भी देखा जा सकता है, जो कि भारतीय रसायनज्ञों का अंतिम उद्देश्य था। किसी भी मामले में, इस पारस मणि या आधार धातुओं के रूपांतरण की चाहत ने विशेष रूप से चिकित्सा क्षेत्र में वास्तविक और मूल्यवान रासायनिक तकनीकों का नेतृत्व किया और आखिरकार आयुर्वेदिक और सिद्ध औषध ग्रंथों में वर्णित सूक्तियों ने भी पर्याप्त योगदान दिया।

प्रयोगशाला और उपकरण

ग्रंथों में प्रयोगशाला के लेआउट को सावधानीपूर्वक वास्तु शास्त्र के हिसाब से वर्णित किया गया था, चार दरवाजे, पूर्व में एक गूढ़ प्रतीक (रसलिंग), दक्षिण पूर्व में भट्टियां, उत्तर–पश्चिम में उपकरणों आदि। इसके अलावा मोर्टार (पत्थर या लोहा) और धौंकनी (भट्टियों को गर्म करने के लिए), जाल, कड़ाही, चिमटा, कैंची और मिट्टी या कांच के जहाजों, ताप, भाप, अर्क खींचना, पदार्थ निकालने के लिए सरल रूप से विकसित विशेष उपकरण स्थापित किये गए थे। इनमें से कुछ के निम्नवत हैं:

- मुसा यंत्र या क्रूसिबल (घरिया) जो आमतौर पर सफेद मिट्टी या चावल की भूसी, लौह धूल, चाक आदि के साथ मिश्रित एक एंथिल से बनाया जाता थाय ऐसे क्रूसिबल उनके अनुप्रयोग के आधार पर विभिन्न आकार और आकृतियों के होते थे,
- कोष्ठी यन्त्र, धातुओं के 'सार' के निष्कर्षण के लिए, दोनों किनारों की नलिकाओं से युक्त, आग से ऊपर और एक पक्ष ब्लोअर से घिरा हुआय धातुओं के अलावा, बर्तन भी चारकोल से भरे होते थे,
- स्वेदनी यन्त्र, भाप के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला एक बड़ा मिट्टी का बर्तन होता था,
- डोला यंत्र, जिसमें एक बर्तन तरल से आधा भरा होता था और एक विस्थापित तरल पदार्थ के वाष्प को अवशोषित करता था,
- पातन यन्त्र, इस यन्त्र का प्रयोग उर्ध्वपातन या आसवन के लिए किया जाता था, यह ऊपर, नीचे या किनारे से खुला हो सकता था, दूसरा अधाना यंत्र था, जिसमें ऊपरी बर्तन की पेंदी में पारा का पेस्ट लेपित किया जाता था, जिससे वाष्प बर्तन के निचले हिस्से में उतर सकता था और वहां मौजूद पदार्थों के साथ वाष्प की क्रिया होती,

- धूप यन्त्र, सल्फर या अन्य पदार्थों के धुएं के साथ सोने के पत्तों या चांदी की पन्नियों को चमकाने के लिए प्रयोग किया जाता था।

एक चित्रकार की –ष्टि से कीमियागर की प्रयोगशाला या रसशाला

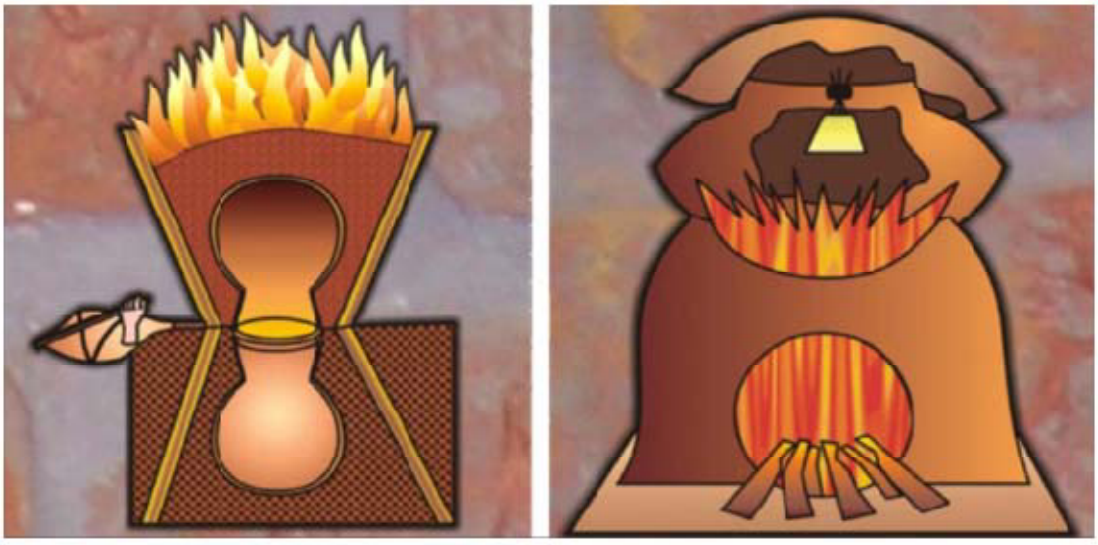

कोष्ठी यंत्र (बाएं) और डोला यंत्र (दाएं) के आरेख (आभारः राष्ट्रीय विज्ञान केन्द्र, नई दिल्ली)

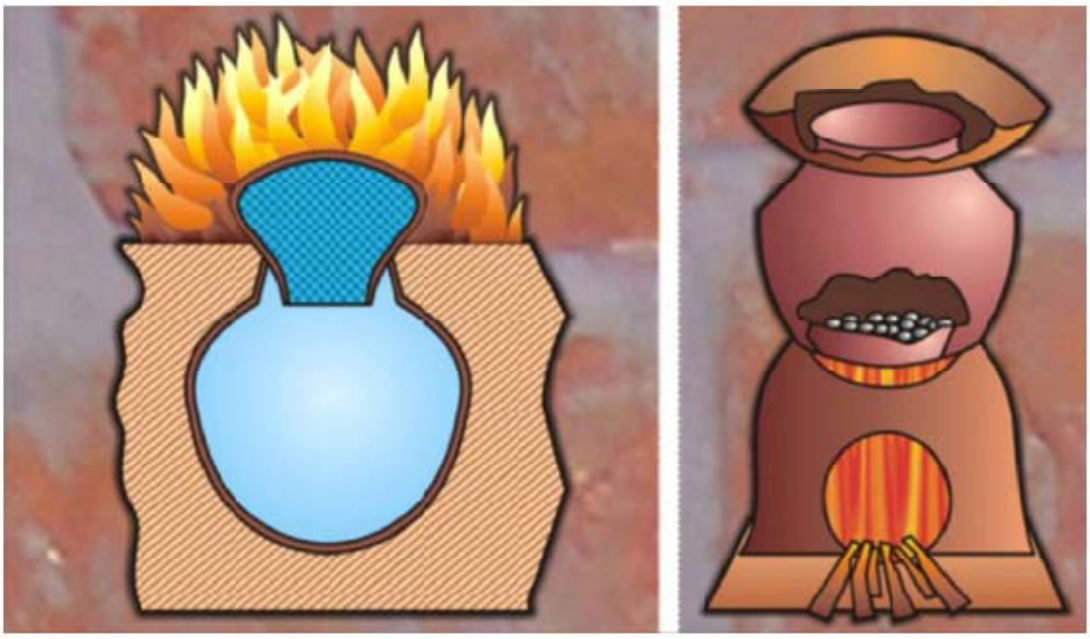

अधाना यंत्र (बाएं) और धूप यंत्र (दाएं) के आरेख

(आभारः राष्ट्रीय विज्ञान केन्द्र, नई दिल्ली)

कुल मिलाकर, भारत की रासायनिक परंपराएं समृद्ध एवं विविधतापूर्ण थीं और ये एक आध्यात्मिक घटक के साथ विस्तृत तकनीकों को जोड़ती थीं। यद्यपि उन्होंने आधुनिक रसायन विज्ञान के जन्म में सीधे योगदान नहीं दिया, लेकिन इसके परिणामस्वरूप खासकर धातु विज्ञान, रत्न विज्ञान और औषधि विज्ञान जैसे क्षेत्रों में काफी व्यावहारिक अनुप्रयोग हुए।

4 प्राचीन भारत में औषधीय परंपरा का ऐतिहासिक विकास

आठ शाखाओं में विशेषज्ञता

भारत में औषधि विज्ञान का इतिहास कई हजार साल पुराना है, निश्चित रूप से सामान्य युग के कुछ सदियों पहले से इसका इतिहास रहा है। इस बात का पुख्ता प्रमाण यह है कि आयुर्वेद की शुरुआती पाठ्य पुस्तकों जैसे चरक संहिता (सामान्य चिकित्सा व औषधि विज्ञान), सुश्रुत संहिता (शल्य क्रिया या सर्जरी) और कश्यप संहिता (बाल रोग विज्ञान या पीडियाट्रिक्स) हजारों वर्षों में कई बार संपादित और संशोधित हुए हैं। उन्होंने इस युग की पहली कुछ शताब्दियों में अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया। यह एक अद्भुत संयोग है कि इतनी जल्दी, विशेष रूप से पीडियाट्रिक्स, सर्जरी, ओथ्थाल्मोलॉजी (नेत्र रोग विज्ञान), ईएनटी (नाक, कान और गला रोग विज्ञान) जैसे विशेष विज्ञान शाखाओं की जानकारी संस्कृत पाठों में लिखी गई थी। इन ग्रंथों में, आयुर्वेद पहले से ही विकसित अवस्था में मौजूद रहा और इसमें आठ शाखाओं को विशिष्ट रूप से स्थान दिया गया हैः सामान्य चिकित्सा या औषधि विज्ञान, सर्जरी, ओथ्थाल्मोलॉजी–ईएनटी–दंत चिकित्सा, पीडियाट्रिक्स, मनोचिकित्सा, विष विज्ञान, कायाकल्प चिकित्सा और प्रजनन चिकित्सा। 6वीं या 7वीं शताब्दी ईसा पूर्व के आसपास, प्रसिद्ध चिकित्सक वाघभट्ट ने आयुर्वेद की आठ शाखाओं के विशेष ज्ञान को एक अकेले संग्रह में संकलित कियाय इस बड़े संग्रह को अष्टांग संग्रह के रूप में जाना जाता है और छोटे संस्करण को अष्टांग हृदय कहा जाता है।

सर्जरी की परंपरा

आयुर्वेद में सर्जरी की परंपरा का एक लंबा इतिहास है। मिसौरी–कोलंबिया विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं ने पाया कि प्राचीन भारत के चिकित्सकों ने दांतों को ड्रिल करने और 8,000 से 9,000 साल पहले क्षय हटाने के लिए एक तकनीक विकसित की थी। मेहरगढ़, जो अब पाकिस्तान में है, से मिले जीवाश्मों के अध्ययन ने पुरुष मोलर दांतों की काटने वाली सतह पर दांतों में ड्रिल किए गए छोटे छिद्रों का खुलासा किया। हड़प्पा और लोथल से मिले साक्ष्य से भी यह खुलासा हुआ है कि लगभग 4,300 साल पहले कांस्य युग के मानव खोपड़ी जीवाश्म पर एक प्राचीन शल्य चिकित्सा अभ्यास का प्रमाण प्राप्त हुआ है। पाषाण युग से शुरू होने वाले प्रागैतिहासिक समाज में की जाने वाली शल्य चिकित्सा की एक सामान्य युक्ति थी ट्रेपनेशन, जिसमें खोपड़ी वाल्ट से होकर ड्रिलिंग या काटने की क्रिया शामिल रहती थी और अक्सर सिर की चोट का इलाज करने के लिए या सिर पर झटका के कारण हड्डी स्प्लिंटर्स या रक्त के थक्के को हटाने के लिए इस तकनीक का प्रयोग किया जाता था।

भीमबेटका, मध्य प्रदेश से प्राप्त एक मिसोलिथिक ¼15]000 – 6]000 ईसा पूर्व काल)

शैल चित्रकारी जिसमें किसी मरीज के सिर या आँख में शल्य क्रिया किया जाना दर्शाया गया है

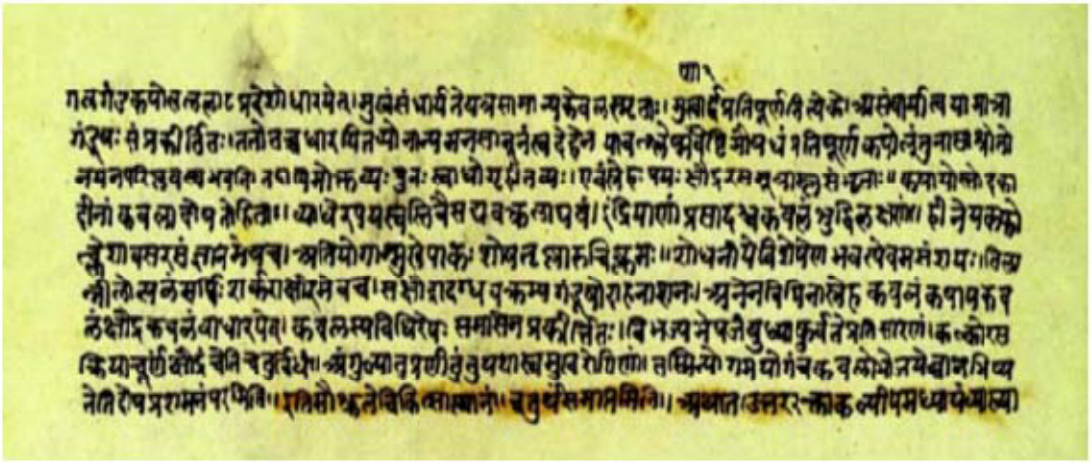

विभिन्न शल्य चिकित्सा प्रक्रियाओं और यंत्रों पर केंद्रित आयुर्वेदिक पाठ्यपुस्तक

सुश्रुत संहिता की पाण्डुलिपि का एक पन्ना (आभारः वेलकम पुस्तकालय,लंदन)

भारतीय शल्य चिकित्सा की गाथा का समृद्धिशाली विकास लगातार जारी था और सुश्रुत के समय यह अपने शिखर पर पहुँच गई, जो माना जाता है कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की यह बात है। सुश्रुत को शल्य चिकित्सा के जनक के रूप में जाना जाता है और यह चिकित्सा प्रणाली मृत शरीर का विच्छेदन करके शरीर रचना का पूर्ण अध्ययन करने की वकालत करता था। उन्होंने शल्य चिकित्सा प्रक्रियाओं के बाद घावों को सड़ने (सेप्सिस) से रोकने के लिए शल्य चिकित्सा उपकरणों को कीटाणु रहित करने की विधि पेश की थी। सुश्रुत का संग्रह सैकड़ों तेज और कुंद शल्य चिकित्सा उपकरणों का

वर्णन करता है और उनमें से कई आज भी शल्य चिकित्सकों (सर्जन) के द्वारा उपयोग किए जाने वाले यंत्रों जैसा दिखते हैं। सुश्रुत को प्लास्टिक सर्जरी के माध्यम से नाक या नासिकासंधान (राइनोप्लास्टी) के नवाचारी पुनर्निर्माण जैसे नयी शल्य चिकित्सा प्रक्रियाओं में दक्षता प्राप्त थी, चींटियों की एक विशिष्ट प्रजाति का उपयोग आंतों को बंद करने, मोतियाबिंद के शल्य चिकित्सा हटाने और मूत्र सम्बन्धी शल्य चिकित्सा प्रबंधन में वे इस्तेमाल करते थे।

भारत से उत्पन्न 19वीं शताब्दी के चिकित्सा और शल्य क्रिया संबंधी उपकरण

(आभारः विज्ञान संग्रहालय, लंदन)

इस चित्र में सुश्रुत के शिष्यों को सब्जियों पर कार्य करते हुए शल्य चिकित्सा सीखने को दर्शाया गया है

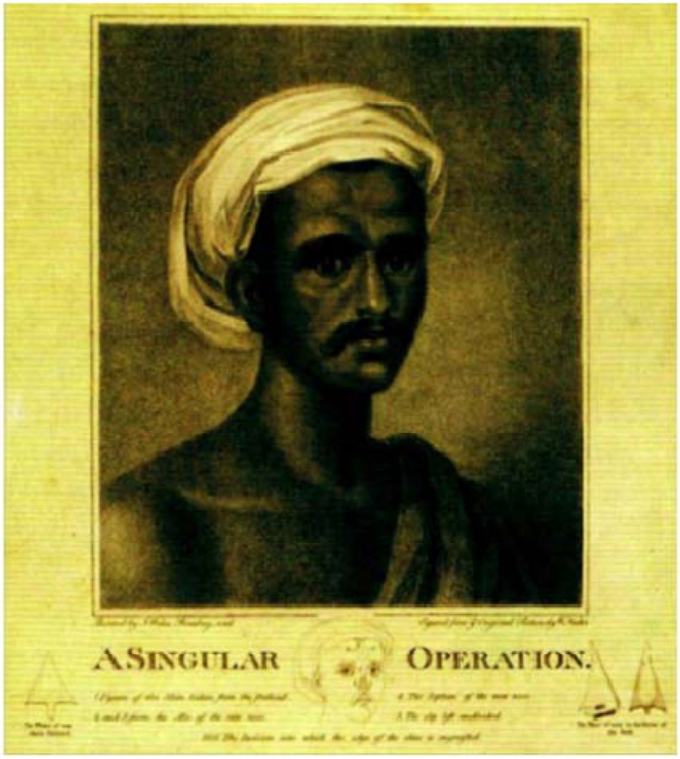

जेम्स वेल्स के द्वारा बनाया गया यह चित्र, जिसे दो ब्रिटिश सर्जनों द्वारा 1794 में कमीशन किया गया था, पश्चिम में प्लास्टिक सर्जरी के पहले ज्ञात विवरण के साथ यह प्रकाशित किया गया था (आभारः विज्ञान संग्रहालय, लंदन)

18वीं शताब्दी में पश्चिमी औषधि विज्ञान के अंतर्गत भारतीय नासिका संधान तकनीक की पुनर्खोज की गई थी, जब ईस्ट इंडिया कंपनी के सर्जन थॉमस क्रूसो और जेम्स फाइंडले ने पूना में ब्रिटिश रेजीडेंसी में भारतीय नासिका संधान शल्य प्रक्रियाओं को प्रमाणित किया था। उस सर्जन ने लंदन के जेंटलमैन'स मैगजीन के अक्टूबर 1794 अंक में शल्य प्रक्रिया और उसके नाक पुनर्निर्माण परिणामों की तस्वीरें प्रकाशित की थीं।

एक नेत्र विशेषज्ञ विशिष्ट यंत्रों की सहायता से एक मरीज का इलाज कर रहा है।

(सन 1825 का चित्र, आभारः ब्रिटिश पुस्तकालय, लंदन)

आयुर्वेद में चिकित्सा आनुवंशिकी

चरक संहिता का अध्ययन करते हुए बीमारियों के अनुवांशिक आधार के प्रारंभिक संदर्भ मिलते हैं। इस ग्रन्थ में चरक उल्लेख करते हैं कि प्रजनन तत्व बीज (बीज) से बनते हैं जो आगे चलकर कुछ हिस्सों (बीजभागा) और उप–वर्गों (बीजभागवयव) में विभक्त हो जाता है। बीज का प्रत्येक भाग या उपभाग शरीर के एक विशेष अंग को दर्शाता है और उस भाग में क्षति होने पर उस अंग को भी नुकसान पहुंच सकता है।

चेचक का टीका

18वीं शताब्दी में, ब्रिटिश अधिकारियों और आगंतुकों ने चेचक के टीकाकरण प्रयोगों का अवलोकन किया था और अपने दस्तावेजों में इस बात का उल्लेख संकलित किया, जो एडवर्ड जेनर द्वारा टीकाकरण की खोज से सदियों पहले चिरकाल से भारत में प्रचलित था। लंदन के कॉलेज ऑफ फिजीशियन के लिए वृत्तांत लिखने वाले, जे. जेड. होलवेल, जिन्होंने अध्ययन किया और खुद टीकाकरण की भारतीय विधि का अनुसरण किया था तथा चेचक के रोग निवारण की जांच को प्रमाणित किया था।

सूक्ष्म जैविकी और परजीवी विज्ञान

सामान्य युग से कई सदियों पहले चरक संहिता जैसी औषधि विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में सूक्ष्म जीवन के संदर्भ पाए गए हैं। निम्न श्रेणी के जीव रूपों को रोगजनक और गैर–रोगजनक में वर्गीकृत किया गया था। रोगजनक जीवों में सूक्ष्म जीव शामिल होते हैं जिन्हें नग्न आंखों से नहीं देखा जा सकता है। विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवों के लिए उपयुक्त तकनीकी शब्दावली को विकसित किया गया और उनके रूप तथा आकारों का भी वर्णन किया गया था। सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार से सदियों पहले इस तरह के विवरण प्रस्तुत करने में वे चिकित्सक कैसे सक्षम हुए थे, यहां तक कि सूक्ष्म जीवों की व्याख्या करने में, यह एक अनोखी बात है।

संक्रामक या संचारी रोग और महामारी

सुश्रुत संहिता संक्रामक बीमारियों का वर्णन करती है और बताती है कि ये बीमारियां घनिष्ठ संपर्क, हवा के माध्यम से, कपड़े साझा करने, एक साथ सोने से एक से दूसरे व्यक्ति को संचरित हो सकती हैं। संक्रामक बीमारियों को फैलने से रोकने के लिए धुँआ देने की प्रक्रिया (धूमन) को एक निदान के रूप में उल्लेखित किया गया है। चरक संहिता में महामारी विज्ञान को रोकने और महामारी के प्रकोप को प्रबंधित करने के तरीकों को निर्धारित करने के लिए महामारी विज्ञान नामक एक संपूर्ण अध्याय समर्पित है। सम्राट अशोक के शासनकाल में, एक कुशल सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा प्रणाली स्थापित की गई थी।

एक विकासशील औषधकोश

आयुर्वेद में दवा का अभ्यास या प्रयोग इस सिद्धांत पर आधारित है कि दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें संभावित रूप से औषधीय गुण मौजूद न पाया जाता हो। आयुर्वेदिक औषधकोश का विकास प्राकृतिक संसाधनों से नई दवाओं की खोज के लिए निरंतर और अधूरी चाहत का प्रतिनिधित्व करता है। आयुर्वेद की परंपरा में लगभग 1,500 औषधीय पौधों का वर्णन और इनसे हजारों दवाओं के निर्माण का उल्लेख किया गया है। इन ग्रंथों में सैकड़ों जंतुओं और जंतु उत्पादों का भी उल्लेख किया गया है।

सामान्य युग में 6वीं शताब्दी के आसपास, खनिज और धातुओं के उपयोग में विशेषज्ञता रखने वाली औषधि विज्ञान की शाखा, जिसे रसशास्त्र के नाम से जाना जाता है और यह विशेष रूप से उत्तर भारत में विकसित तथा स्थापित हुआ। भारत के दक्षिणी राज्यों में हर्बल दवाओं की पुरानी परंपरा का अभ्यास लगातार किया जाता था। तमिलनाडु में, सिद्ध औषध प्रणाली (परंपरागत रूप से अठारह 'सिद्ध' जिसका समानार्थी अभ्यास आयुर्वेद में भी होता है) को औषधकोश ग्रन्थ में धातु और खनिज अवयवों के रूप में जोड़ा गया।

स्वास्थ्य देखभाल का बहुलवादी –ष्टिकोण

आयुर्वेद ने भारत में स्वास्थ्य देखभाल के लिए बहुलवादी दृष्टिकोण को पोषित किया। प्राचीन काल से, भारत में स्वास्थ्य देखभाल लोक और शास्त्रीय अभिव्यक्तियों की दो धाराओं के रूप में विकसित हुई। भारत में लोक चिकित्सा की समृद्ध परंपरा रही है, जिसे स्वास्थ्य चिकित्सकों, हड्डियों, विष चिकित्सकों और जन्म परिचरों की एक पैरामेडिकल बल में आयोजित किया गया था, जो लोगों के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा प्रदान करते थे। इनमें से कई परंपराएं आधुनिक समय में भी अस्तित्व में हैं। आज भारत शायद दुनिया का एकमात्र देश है जो आधिकारिक तौर पर आयुर्वेद, योग और प्राकृतिक चिकित्सा जैसे यूनानी, सिद्ध तथा होमियोपैथी जैसी चिकित्सा प्रणालियों जैसे संरक्षण प्रणाली को संरक्षित करने वाली बहुलवादी स्वास्थ्य सेवा प्रणाली को मान्यता देता है।

यह चित्र दर्शाता है कि एक आयुर्वेदिक सर्जन अपने सर्जिकल उपकरणों की सहायता से चोट को ठीक कर रहा है (आभारः वेलकम पुस्तकालय, लंदन)

सामूहिक सांस्कृतिक सम्मिलन

आयुर्वेद को सामूहिक सांस्कृतिक सम्मिलन से फायदा हुआ और हमारे देश से यह चीन, श्रीलंका, तिब्बत, थाईलैंड और इंडोनेशिया जैसे पड़ोसी देशों में अभिसारित हुआ। बौद्ध धर्म ने भारत के बाहर आयुर्वेद के अभिसारण में एक प्रमुख भूमिका निभाई। सिकंदर महान ने 325 ईसा पूर्व में जब भारत पर हमला किया था, तो वह यहां सर्पदंश के घाव भरने वालों और आयुर्वेदिक चिकित्सकों से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उन्हें ग्रीस में आमंत्रित किया था। ग्रीक औषधि विशेषज्ञों (चिकित्सकों) और आयुर्वेद के चिकित्सकों के बीच संवाद का संकेत देने वाले ऐतिहासिक सबूत आज भी मौजूद हैं। आयुर्वेद के महत्वपूर्ण ग्रन्थ जैसे चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टांग हृदय का मध्य युग में तिब्बती, फारसी और अरबी भाषाओं में अनुवाद किया गया था। चीन और मध्य पूर्व के यात्रियों ने अपने यात्रा संबंधी वृतांतों में भारत में चिकित्सा प्रणालियों की उन्नत स्थिति का विस्तृत वर्णन किया है।

एक गतिशील साहित्यिक परंपरा

आयुर्वेद का इतिहास एक जीवंत और गतिशील चिकित्सा परंपरा के विकास को उद्घाटित करता है जिसमें मेडिकल लेक्सिकॉन, औषधिकोश, हैंडबुक, उपचार के मैनुअल और महत्वपूर्ण कालक्रम और भौगोलिक स्थलों के सारांशों पर रचना की जा रही थी। उदाहरण के लिए, 8वीं शताब्दी में, विशेष रूप से रोग निदान (डायग्नोस्टिक्स) के लिए समर्पित एक ग्रंथ माधव के द्वारा सृजित किया गया था जिसे माधव निदान के नाम से जाना जाता है। 11वीं शताब्दी में, विश्वनाथ सेना द्वारा आहार विज्ञान पर एक नया ग्रंथ तैयार किया गया जिसे पथ्यपथ्यविनिस्काया के नाम से जाना जाता है। 13वीं शताब्दी में सारंगधारा संहिता का लेखन फार्मेसी और फार्मास्यूटिकल्स विषयों के लिए किया गया था, जो शरीर विज्ञान की श्वसन प्रणाली पर पहला विवरण प्रदान करता है। जब आयुर्वेद में नाड़ी निदान शुरू किया गया था, तब जाकर इस विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ विकसित किए गए थे। चिकित्सा ज्ञान के निरंतर अद्यतन और दस्तावेजीकरण की यह परंपरा औपनिवेशिक काल तक बिना अंतराल के जारी रही। लेकिन 19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक शासकों द्वारा प्रतिकूल नीतियों और विनियमों को लागू करने पर आयुर्वेद को झटका लगा। हालांकि, मुख्य आयुर्वेदिक ग्रंथों के प्रकाशन के साथ, 20वीं शताब्दी के अंत में आयुर्वेद विधा में एक नवजीवन का संचार हुआ, जिसमें कुछ प्रमुख भारतीय विद्वान इस विधा के संरक्षण के लिए आगे आए।

आयुर्वेद का वैश्विक पुनरुत्थान

आजादी के बाद के समय में, आयुर्वेद का पुनरुत्थान जारी रहा और हाल के वर्षों में यह पूरक और वैकल्पिक चिकित्सा प्रणाली के तहत स्वास्थ्य देखभाल के लिए एक संपूर्ण प्रणाली दृष्टिकोण के रूप में प्रमुखता प्राप्त कर रहा है। यद्यपि यह प्रणाली पश्चिमी देशों तक ही सीमित नहीं है, अपितु इटली,

यूनाइटेड किंगडम, ऑस्ट्रिया, नीदरलैंड आदि जैसे कई देशों में आयुर्वेद पढ़ाया जाता है और अभ्यास कराया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में आयुर्वेद के कई शिक्षा केन्द्र हैं।

आयुर्वेद की समकालीन स्थिति

पुरानी अपक्षयी बीमारियों और जीवन शैली के विकारों जैसी स्थितियों से प्रभावी ढंग से निपटने की कोशिशों की एक विस्तृत श्रृंखला का प्रबंधन जारी है और दुनिया भर के लोगों में इसकी जबरदस्त मांग है। चूंकि दुनिया स्वास्थ्य देखभाल के लिए एक एकीकृत दृष्टिकोण की ओर बढ़ रही है, आयुर्वेद स्वास्थ्य और नीरोगता के संकल्प की प्रेरणा के साथ उस परम्परा में सतत रूप से प्रयत्नशील है, जो समग्र, बहुलतावादी और एकीकृत है जो उल्लेखनीय निरंतरता, लचीलापन और समय के साथ अनुकूलन को प्रदर्शित करता है।

5 प्राचीन भारत में पादप और जंतु विज्ञान

आयुर्वेद का संबंध औषधि विज्ञान के साथ–साथ वनस्पति विज्ञान, जंतु विज्ञान, पशु चिकित्सा विज्ञान और कृषि जैसे जीवन विज्ञान के क्षेत्रों से भी होता है। पादप विज्ञान को वृक्षायुर्वेद और जंतु विज्ञान को मृगायुर्वेद के नाम से जाना जाता था। अश्वायुर्वेद और गजायुर्वेद क्रमशः घोड़ों तथा हाथियों के लिए पशु चिकित्सा संबंधी औषधि विज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं। कृषि को कृषि शास्त्र के नाम से जाना जाता था।

प्राचीन भारत में पादप विज्ञान

पुरातनता एवं निरंतरता

प्राचीन भारतीय साहित्य में पौधों और कृषि से संबंधित अभ्यासों का ज्ञान लिपिबद्ध किया गया है। पादप विज्ञान पर चर्चा के प्रमाण वैदिक साहित्य के विभिन्न ग्रंथों में देखे जा सकते हैं।

स्रोत

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में फसल की कटाई, फसलों के प्रबंधन, फसल के रोगों और कृषि वानिकी (एग्रोफारेस्ट्री) के अनेक पहलुओं को लेकर बहुत रोचक अनुच्छेद पढ़ने को मिलते हैं। वराहमिहिर के द्वारा बृहत् संहिता का सृजन छठवीं शताब्दी में किया गया था जिसमें एक संपूर्ण अध्याय वृक्षायुर्वेद को समर्पित है। इस विषय पर एक अध्याय अग्निपुराण में भी मिलता है। चरक संहिता नामक प्रसिद्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थ के एक टिप्पणीकार चक्रपाणीदत्ता यह सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं कि पौधों में भावनाएं और संवेदनात्मक क्षमताएं मौजूद होती हैं। सुरपाल के वृक्षायुर्वेद और सारंगधर के उपवन विनोद भी ऐसे विषयों पर स्वतंत्र सृजन है। वृक्षायुर्वेद को लोक परंपराओं में भी मौखिक स्वरूप में सहेज कर रखा गया है। हमारी खेती और जनजातीय समुदाय के पास भारत में पादप विज्ञान के कार्यशील ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत निहित है।

सुरपाल ने पादप सुरक्षा और उपचार के उद्देश्य से अनेक व्यंजन उपलब्ध कराने हेतु पौधों का डोसा सिद्धांत प्रस्तुत किया था। इस सिद्धांत के अनुसार विशेष डोसा के असंतुलन से पौधे पर असर पड़ता है। उन्होंने अनेक अवयवों की सूची बनाई थी, जिनमें जीवाणुरोधी गुण पाए जाते हैं। इन अवयवों में मुख्य तौर पर शामिल अवयव होते हैंः दूध (उस जमाने के हठी का दूध), घी, शहद, लिकोरिस, गोमूत्र और गोबर, विभिन्न तरल खाद, दही, विभिन्न पेड़ की छालें और जड़ों से बना पेस्ट (अर्ध ठोस तरल), हिंग, हल्दी, शीशम का तेल, नमक तथा राख, विभिन्न जन्तुओ (स्तनी व मछली) से प्राप्त मांस, वसा या अस्थि मज्जा की संस्तुति भी विशिष्ट मामलों में की जाती थी।

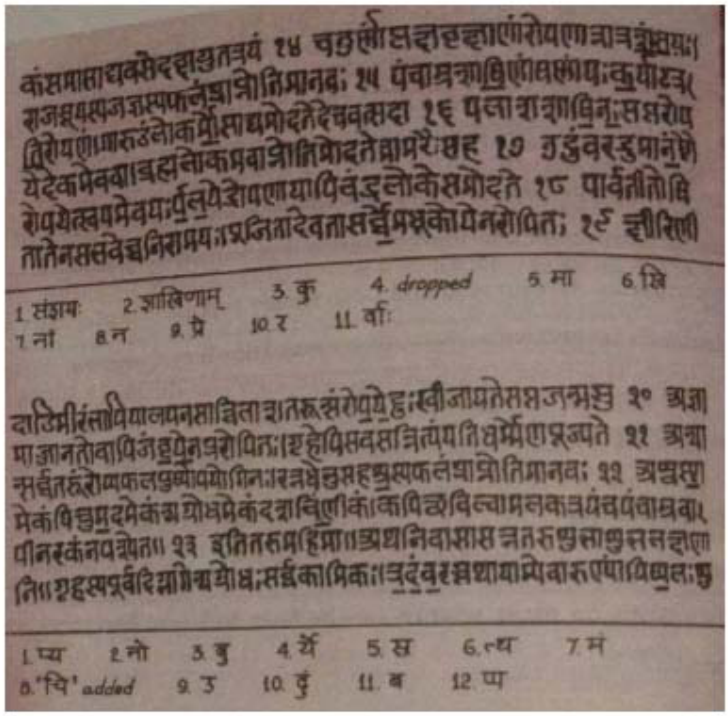

(सुरपाल रचित वृक्षायुर्वेद की पांडुलिपि के पन्ने,
दसवीं शताब्दी में लिखे पादप विज्ञान पर आधारित एक पाठ)

संभावना

आयुर्वेद संबंधी साहित्य में पौधे और उनका वन के वृक्षों, अन्य वृक्षों, झाड़ियों तथा शाकों में वर्गीकरण का संदर्भ मिलता है। झाड़ियों वाले पौधे या तो लताएं होती हैं या फिर मुख्यतः झाड़ियां और शाक पुष्पी होते हैं या अपुष्पी। पुष्पी और अपुष्पी वृक्षों का भी अलग अलग उल्लेख इसमें किया गया है। वृक्षायुर्वेद में इन जैसे विषय शामिल किए गए हैं: बीजों का संग्रह, चयन व भंडारण, अंकुरण एवं उनकी बुआई, पादप जनन और कलमी (ग्राफ्टिंग) की विभिन्न तकनीक, पोषण एवं सिंचाई, मिट्टी की जांच एवं वर्गीकरण, विभिन्न प्रकार के पौधों के लिए उपयुक्त मिट्टियों का चयन, पौधों के प्रकार, उनमें खाद डालना, पीड़क एवं रोग प्रबंधन, नामकरण और वर्गिकी, विभिन्न उद्देश्यों हेतु पौधों के विवरण और वर्गीकरण, उपयुक्त तथा अनुप्रयुक्त मौसम संबंधी दशाएं। मौसम, पानी, खनिज और वानस्पतिक आश्चर्यों के सूचक के रूप में पौधों का उपयोग।

पीड़कों और बीमारियों से फसल का उपचार करने के लिए नीम की गिरी से प्राप्त अर्क (सार तत्व) का निर्माण (आभारः भारतीय ज्ञान प्रणाली केंद्र, चेन्नई)

पीड़कों और बीमारियों से फसल का उपचार करने के लिए लहसुन, अदरक तथा मिर्च से अर्क (सार तत्व) का निर्माण किया जाना (आभारः भारतीय ज्ञान प्रणाली केंद्र, चेन्नई)

पुष्टिकरण

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) ने परम्परागत पादप विज्ञान के क्षेत्र में 4879 देशी अभ्यासों या तरीकों को लिपिबद्ध किया है। 111 देशी तकनीक तरीकों के एक सेट का चयन किया गया और इनका प्रायोगिक परीक्षण व पुष्टिकरण आईसीएआरके विभिन्न संस्थानों, राज्य कृषि विभागों तथा देश भर के विश्वविद्यालयों द्वारा आयोजित प्रयासों में किया गया था। इसमें विभिन्न विषय सम्मिलित रहे जैसे कि पीड़क नियंत्रण, फसल सुरक्षा, खेत क्रियांवयन, मौसम का पूर्वानुमान आदि और यह दर्शाया गया था कि इन तरीकों के 80 प्रतिशत से कुछ अधिक वैध (पुष्ट) थे तथा लगभग 6 प्रतिशत आंशिक तौर पर वैध। मौसम विज्ञान संबंधी दशाओं (तिथि, नक्षत्र) का अध्ययन जो कि फसल को उगाने, पादप वृद्धि व उपज में वृद्धि, मिट्टी की जांच एवं वर्गीकरण, पानी, खनिजों और मौसम के लिए सूचकों के रूप में पौधों का प्रयोग जैसे ताजा शोध के पहलों के लिए वृक्षायुर्वेद अनेक नए क्षेत्रों के लिए आधार प्रदान करता है।

प्राचीन भारत में जंतु विज्ञान

पुरातनता एवं निरंतरता

पशु चिकित्सा विज्ञान की शाखा प्राचीन भारत में सुविकसित थी और अध्ययन की यह शाखा गाय, घोड़ा और हाथियों जैसे पालतू जंतुओं के अच्छे स्वास्थ्य के लिए समर्पित थी। वैदिक साहित्य में इस बात के सबसे पुराने संदर्भ देखे जा सकते हैं।

स्रोत

साहिलोत्र का हयायुर्वेद पशु चिकित्सा औषधि विज्ञान की एक प्राचीन पथ्य पुस्तक है जिसमें घोड़े के वर्गीकरण का उल्लेख है और इस जंतु के आकार विज्ञान की जानकारी उपलब्ध कराने के अलावा इनके उपचार का भी इसमें वर्णन है। साहिलोत्र ने घोड़ों पर केंद्रित अनेक ग्रंथ लिखे थे जिनका अनुवाद अरबी, फारसी और तिब्बती में किया गया था। गजायुर्वेद ग्रंथ हाथियों पर केंद्रित है जिसे पलाकाप्या ने लिखा था। इस ग्रंथ में हाथियों को होने वाले रोगों के उपचार का वर्णन किया गया है। मृगपक्षीशास्त्र ग्रंथ का सृजन 13वीं सदी में हंसादेव ने किया था जिसमें जंतुओं और पक्षियों का अद्‌भुत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(बाएं) घोड़े की आंख की सर्जरी करता हुआ एक पशु चिकित्सक (दाएं) घोड़े को रक्तस्राव की दशा में इलाज करता हुआ एक पशु चिकित्सा सर्जन (आभारः वेलकम पुस्तकालय, लंदन)

संभावना

भारत के प्राचीन साहित्य में जंतु जीवन की विविधता को बखूबी उकेरा गया है। चरक औ सुश्रुत के ग्रंथ में जंतुओं का वर्गीकरण उनके प्राकृतिक आवास तथा शिकार से जुड़े व्यवहार के आधार पर किया गया है। जंतु शिकार छिनने वाले (प्रसाह), कठफोड़वा (विस्किरा) या आक्रमणकारी (प्रतुद) होते हैं। विभिन्न पाठों में जंतुओं को विभिन्न कसौटियों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। जंतुओं में लैंगिक (योनिज) या अलैंगिक (अयोनिज) विधियों से प्रजनन की क्रिया होती है। लैंगिक प्रजनन अंडे (अंडज) या गर्भनाल (पिंडज) के द्वारा होता है। नमी, गर्मी और साथ ही साथ वनस्पति प्रवर्धों से जीवन उत्पन्न होने के विवरण भी कई पाठों में मिलते हैं। एक वर्गीकरण जंतुओं में पैरों (पादों) की संख्या पर केंद्रित है, वहीं दूसरा वर्गीकरण उनमें खुरों की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर केंद्रित होता है। मत्स्य पुराण जंतुओं को दिनचर, रात्रिचर या दोनों में उनकी गतिविधि के आधार पर उनका वर्गीकरण करता है। असंख्य जंतुओं का वर्णन उनके भोजन और आहार संबंधी आदतों के संदर्भ में किया गया है। अनेक प्रकार के जंतु स्रोतों से प्राप्त मांस के औषधीय और पोषणगत गुणों को आयुर्वेद के शास्त्रीय पाठ में वर्णन किया गया है। खाद्य जाल और खाद्य श्रृंखला का वर्णन इस विशेष सिद्धांत उल्लेख के साथ किया गया है कि जीव का एक रूप दूसरे जिव रूप के लिए भोजन होता है (जीवे जीवस्य जीवनम)।

प्राचीन भारत के लोग प्रकृति के निकट सानिध्य में रहते थे और वे जंतु जीवन के जिज्ञासु प्रेक्षक होते थे। किसी पाठ में इस बात का वर्णन मिलता है कि पौधों के औषधीय गुणों के संबंध में पहला सुराग जंतु व्यवहार से खोजा जा सकता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में जंतु फार्माकोग्नासी अभ्यास के सबसे आरंभिक प्रमाणों में से एक दर्ज है। यह प्रमाण किसी बीमारी, पेट में कीड़े पड़ने या सर्पदंश से पीड़ित जंतु विशिष्ट प्रकार के ऐसे पौधों को खा लेते थे, जिनके अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि उन पौधों में औषधीय गुण मौजूद पाए जाते हैं।

आयुर्वेद ग्रंथों के पाठ जंतुओं पर परीक्षण डोज दिए जाने से पदार्थों की विषाक्तता की पुष्टि के बारे में भी वर्णन करते हैं। अतः ये ग्रंथ विष विज्ञान में जंतु प्रयोगों पर शायद सबसे आरंभिक पाठ हैं।

वर्तमान स्थिति

केरल जैसे राज्य में परंपरागत विशेषज्ञों के द्वारा आज भी गजायुर्वेद का अभ्यास किया जाता है। पशु चिकित्सा संबंधी हर्बल औषधियां भारत में दवा कंपनियों के द्वारा निर्मित और बिक्री की जाती हैं।

जैव विविधता और लोक परंपरा

प्राचीन लिखित साहित्य में हमारे देश की समृद्ध जैव विविधता, जलवायु और भूगोल संबंधी विभिन्नताओं पर बात की गई है। जैव विविधता में बदलावों हेतु छः प्रकार के मौसम के चरण के साथ विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का भी वर्णन किया गया था। आयुर्वेद संबंधी साहित्य में इसका उल्लेख किया गया है

कि पौधों और जंतुओं के स्तर पर देश की जैव विविधता में भिन्नता पाई जाती है साथ ही साथ 12 योजन या 96 मील की अवधि के दौरान मानव जीवन तथा उनकी आदतों में भी बदलाव देखने को मिलते हैं। प्राचीन समय के भारतवासियों का यह अनुमान था कि लगभग 84 लाख योनियां या जीव प्रजातियां पृथ्वी पर जीवन के प्रतीक हैं। यह कितना रोचक है कि आधुनिक वैज्ञानिक पृथ्वी पर 87 लाख जीव प्रजातियों का अनुमान लगाते हैं जो उस प्राचीन मान्यता के कितना करीब ठहरता है। सुश्रुत का दावा था कि पृथ्वी में चारों ओर प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में हैं और जिनकी खोज अवश्य की जानी चाहिए। भारत में करीब 4600 मानवजातीय समुदाय पाए जाते हैं जो प्रकृति के निकट सानिध्य में रहते हैं और उन्होंने औषधि की लोक परंपराओं को संजोकर रखा हुआ है। ऐसा अनुमान है कि ऐसी दस लाख विशिष्ट लोक औषधियों का चलन इन मानवजातीय समुदायों में है, जो कि सरकार के भुगतान रजिस्टर पर मौजूद पराचिकित्साकर्मियों की संख्या से कहीं ज्यादा है।

6 भारत में गणित

जैसे–जैसे भारतीय खगोलविदों ने सूरज, चंद्रमा, ग्रहों और सितारों के मार्गों को लेकर गणना करने का प्रयास अधिक सटीकता के साथ करना शुरू किया या ग्रहण की घटनाओं की भविष्यवाणी करने के तरीकों को मापने की कोशिश की, वे स्वाभाविक रूप से गणितीय उपकरण विकसित करने के लिए प्रेरित हुए। खगोल विज्ञान और गणित को इस प्रकार शुरू में अविभाज्य माना जाता था, लेकिन आगे चलकर बाद वाला (गणित) पहले वाले (खगोल विज्ञान) का अनुचर जैसा हो गया। दरअसल, करीब 1400 ईसा पूर्व, वेदांगा ज्योतिष, खगोल विज्ञान का पहला मौजूदा अध्याय, दो अलग–अलग संस्करणों में विश्लेषित है:

जैसे मोर के सिर पर कलगी होता है या कोबरा के फण पर मणि सुशोभित होता है, ठीक उसी प्रकार, ज्योतिष (खगोल विज्ञान)/गणित, वेदांगा शास्त्र ख्ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर ग्रंथ के ताज हैं। वास्तव में, ज्योतिष ने प्रारंभ में खगोल विज्ञान और गणित को संयुक्त रूप से वर्णित कियाय परंतु केवल बाद में खगोल विज्ञान का मतलब पृथक होकर आया (जिसमें ज्योतिष शामिल था)।

पहला चरण:

भारत की पहली नगर सभ्यता सिंधु या हड़प्पा (2600–1900 ईसा पूर्व), जिसमें उच्च कोटि की नगरीय योजना शामिल थी। मोहनजोदड़ो के एक्रोपोलिस (ऊपरी नगर), धौलवीरा (कच्छ के रन) या कालीबंगन (राजस्थान) शहर की योजना किलेबंदी और सड़कों को आम तौर पर मुख्य दिशाओं के साथ मेल और सही कोणों को दिखाने से उस जमाने की नगर योजना का पता चलता है। प्रमुख संरचनाओं के आयामों में विशिष्ट अनुपात भी इंगित किए गए हैं। इस मूलभूत ज्ञान का तात्पर्य है कि यह सब मूल ज्यामितीय सिद्धांतों और कोणों को मापने की क्षमता पर केंद्रित रहे हैं, जो खोजे गए खोल के बने कुछ बेलनाकार कुतुबनुमा (कम्पास) 45 डिग्री की कमी के साथ पुष्ट किए गए हैं। इसके अलावा, व्यापारिक उद्देश्यों के लिए हड़प्पा ने वजन की मानकीकृत प्रणाली विकसित की जिसके शुरुआत में, प्रत्येक वजन पिछले से दोगुना था और छोटे वजन का मूल्य 10,100 या 1,000 गुना था। इससे पता चलता है कि हड़प्पा न केवल इस तरह के कारकों से मात्रा को गुणा कर सकते थे, बल्कि गुणकों की दशमलव प्रणाली की ओर उनका झुकाव भी था। हालांकि, हड़प्पा द्वारा उपयोग की जाने वाली संख्या प्रणाली के बारे में विद्वानों के बीच कोई समझौता नहीं है। भारत के सबसे प्राचीन ग्रंथों के चार वेदों की तारीखों पर कोई विद्वानों की सहमति नहीं है, सिवाय इसके कि वे कम से कम 3,000 साल से अधिक पुराने हैं। हम उन संख्याओं को अलग अलग नामों से जानते है, विशेष रूप से दसियों, सैकड़ों और हजारों के गुणक, यजुर्वेद में लाख संख्या को पारध कहा गया है। (तुलनात्मक रूप से, बाद में, ग्रीकवासियों ने

केवल 10,000 तक संख्याएं नामित कीं, जो कि 'असंख्य' थीं और केवल 13वीं शताब्दी ईसा पूर्व में यूरोप में 'लाखों' की अवधारणा होगी।) वेदों पर टिप्पणी करने वाले ब्राह्मण चार अंकगणितीय परिचालनों के साथ–साथ बुनियादी भिन्नताओं के भी जानकार थे।

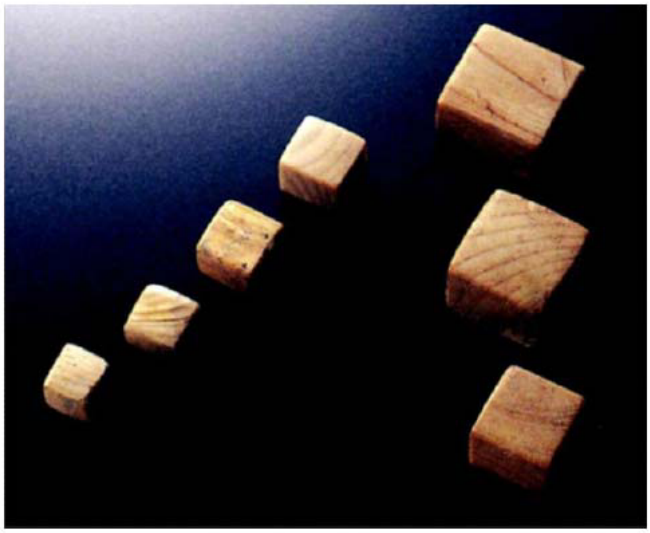

धौलावीरा, गुजरात से प्राप्त चर्ट से बने कुछ हड़प्पाकालीन वजन के माप (आभारः एएसआई)

प्रारंभिक ऐतिहासिक कालः

गणित के साथ स्पष्ट रूप से व्यवहार करने वाले पहले भारतीय ग्रंथों में आठवीं और छठी शताब्दी ईसा पूर्व के बीच रचित सुल्व सूत्र शामिल हैं। वे संस्कृत में अत्यधिक संक्षिप्त सूत्र शैली में लिखे गए थे और असल में अग्नि वेदियों के निर्माण के लिए मैनुअल की तरह थे (जिसे कैटिस या वेदिस कहा जाता है)। ये विशिष्ट रिवाजों के लिए लक्षित थे और इन्हें ईंटों से बनाया गया था। वेदों में अक्सर 200 ईंटों की पांच परतें होती थीं, पृथ्वी की प्रतीकात्मक निम्नतम परत और उच्चतम, स्वर्गय वे इस प्रकार ब्रह्मांड के प्रतीकात्मक प्रतिनिधि थे।

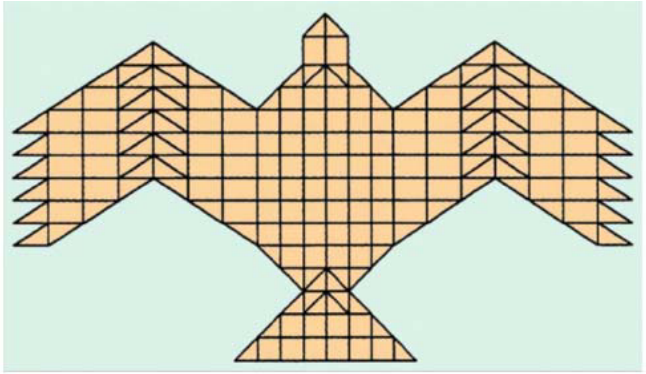

सुल्व सूत्र में वर्णित स्यानासिती या फाल्कन आल्टर के एक प्रकार की पहली परत, जो छः आकार ओंति के 200 ईंटों से बनी थी और ये सभी एक विशिष्ट कुल क्षेत्रफल के योग के समतुल्य थीं

क्योंकि उनके कुल क्षेत्र को सावधानी से परिभाषित करने की आवश्यकता है जिसे जटिल ज्यामितीय गणनाओं का पालन करके विशेष आकार की ईंटों से बनाया गया था। उदाहरण के लिए, सुल्व सूत्र, ज्यामिति के शुरुआती ग्रंथ हैं, तथाकथित पायथागोरस प्रमेय (जिसे वास्तव में 300 ईसा पूर्व के आसपास यूक्लिड द्वारा तैयार किया गया था) के ज्यामितीय रूप में, एक सामान्य कथन प्रदान करते हैं।

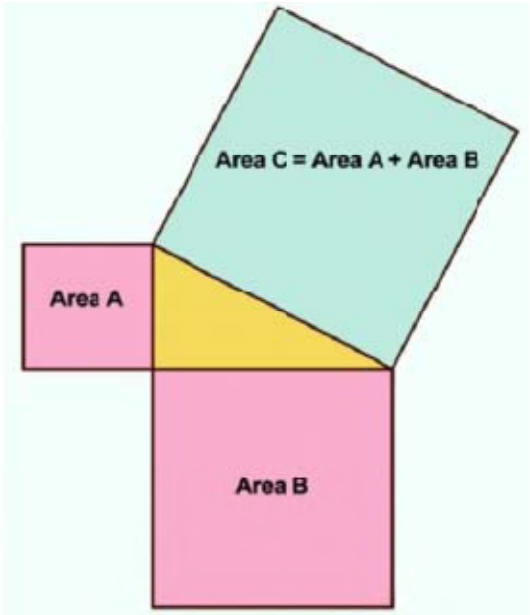

सुल्व सूत्र में अपये जाने वाले पायथागोरस प्रमेय की ज्यामितीय अभिव्यक्ति

उन्होंने दो अन्य वर्गों के जोड़ या घटाव के परिणामस्वरूप या किसी दिए गए वृत्त के समान क्षेत्र होने के परिणामस्वरूप और एक चक्र के चौराहे या वर्ग के चक्रण की शास्त्रीय समस्याओं के परिणामस्वरूप जांच के लिए विस्तृत ज्यामितीय विधियों का विश्लेषण किया। (जो π की अनुवांशिक प्रकृति के कारण, सटीक ज्यामितीय समाधान नहीं हो सकता है, बल्कि यह केवल अनुमानित हो सकता है)। ये सभी प्रक्रियाएं विशुद्ध रूप से ज्यामितीय थीं परंतु इनके परिणाम रोचक रहे। उदाहरण के लिए, √2 को एक तर्कसंगत अनुमान दिया गया था जो पांचवें दशमलव के लिए सही होता है।

$$\sqrt{2} \approx 1 + \frac{1}{3} + \frac{1}{(3)(4)} - \frac{1}{(3)(4)(34)}$$

सुल्व सूत्र ने रैखिक इकाइयों की एक प्रणाली को भी आरंभ किया था, जिनमें से ज्यादातर मानव शरीर के आयामों पर आधारित थी, जिन्हें बाद में थोड़ा संशोधित किया गया और यह पूरे भारत में पारंपरिक ईकाइयों का सूचक बन गया। ये मुख्य ईकाइयां थीं:

14 औंस बाजरा = 1 अंगुल (एक अंक)

12 अंगुल = 1 बित्ता (हाथ का नाप, वितस्ति)

15 अंगुल = 1 पाद (बड़ा पैर)

24 अंगुल = 1 अर्टानी (या बनइपज, बाद में हस्त)

30 अंगुल = 1 परिक्रमा (या कदम)

120 अंगुल = 1 पुरुषा (या उसके हाथ से एक आदमी की ऊंचाई. उसके सिर तक फैला हुआ)

कुछ शताब्दियों पश्चात, पिंगल के चांदसूत्र में एक संस्कृत छंद वर्णित था, जिसको वैदिक भजनों के मीटर को वर्गीकृत करने के लिए एक द्विआधारी प्रणाली के साथ उपयोग किया गया, जिनके अक्षरों में प्रकाश (लघु) या भारी (गुरु) हो सकता हैय गणना के नियमों को एक–से–एक संबंधों में संख्याओं के लिए, बाइनरी नोटेशन में व्यक्त प्रकाश और भारी अक्षरों के सभी संभावित संयोजनों से संबंधित करने के लिए तैयार किया गया था, जो निश्चित रूप से दोनों तरीकों से काम करते थे। उन गणनाओं के दौरान, पिंगल ने शून्य के प्रतीक को संदर्भित किया।

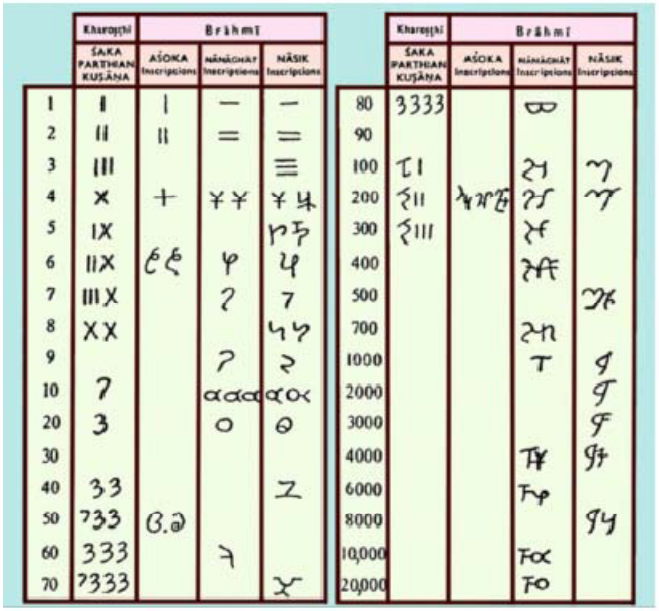

तीसरी सदी ईसा पूर्व से लेकर पहली ईस्वी सदी के दौरान के आरंभिक ग्रंथों में प्रकट हुई संख्याएं। ध्यान रखें कि तब तक वे दशमलव स्थिति प्रणाली का उपयोग नहीं करते थे। उदाहरन के लिए पहले स्तम्भ में 40 को '20, 20' और 60 को '20, 20, 20' के रूप में लिखा गया है। (इंसा से अनुरूपित)

लगभग उसी समय, जैन ग्रंथों ने विशाल संख्याओं को ब्रह्माण्ड संबंधी अटकलों में शामिल किया और ज्यामिति, संयोजन तथा क्रम परिवर्तन, अंश, वर्ग और घन शक्तियों के साथ निपटायाय वे भारत में अज्ञात (यवत–तावत) की धारणा के साथ आने वाले पहले व्यक्ति थे, और $\sqrt{10}$ के बराबर π का मूल्य पेश किया, जो कि कुछ सदियों तक भारत में लोकप्रिय रहा। विशेष रुप से सम्राट अशोक के शासन काल के कुछ शताब्दी ईसा पूर्व, भारत में ब्राह्मी लिपि के आगमन पर किसी भी दशमलव स्थिति मूल्य के बिना हम पहले अंकों पर आते हैं। ये अंक आकार में विकसित होंगेय आखिरकार अरब विद्वानों द्वारा हासिल किया गया, वे आगे बढ़ने के साथ, यूरोप में और हमारे आधुनिक 'अरबी' अंक बने।

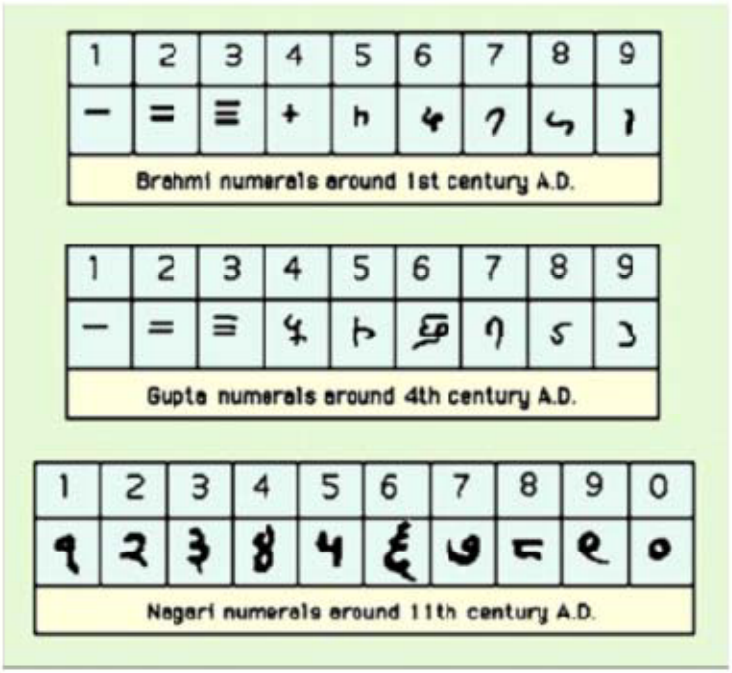

अभिलेखों द्वारा प्रमाणित भारतीय संख्याओं का विकास। पहली लिपि 'ब्राह्मी' का उपयोग सम्राट अशोक द्वारा उनके शीला लेखों में किया गया था, अंतिम लिपि, देवनागरी लिपि की पूर्ववर्ती है। (जे. जे. ओ' कोनोर एंड ई. एफ. राबर्टसन द्वारा अनुरूपित)

शास्त्रीय कालः

खगोल विज्ञान के साथ, भारतीय गणित ने भारत की शास्त्रीय अवधि के दौरान अपना स्वर्ण युग देखा। यह अवधि कमोबेश गुप्त काल के आस पास की थी जो लगभग 400 ईस्वी का कालखंड था।

उस अवधि से कुछ समय पहले, अंक संख्या के पूर्ण स्थान मूल्य प्रणाली संख्याओं को नोट करने के हमारे 'आधुनिक' तरीके, उपरोक्त या रोमन संख्याओं के रूप में वर्णित गैर–स्थितिगत प्रणालियों के विपरीत नौ अंकों के साथ शून्य को एकीकृत किया गया था। यह एक रोचक तथ्य है कि हम कभी नहीं जान पाएंगे कि किसने यह कल्पना की थी। सबसे पहले ज्ञात संदर्भों में से यह बौद्ध दार्शनिक वासुमित्र द्वारा पहली शताब्दी ईसा पूर्व का काम है और यह 458 ईस्वी में लिखा गया जैन ब्रह्माण्ड कार्य लोकविभाग में अधिक स्पष्ट रूप से काम किया गया। जल्द ही इसे पूरे भारत में अपनाया गया और बाद में अरबों द्वारा यूरोप ले जाया गया। यह विज्ञान के विश्व इतिहास में एक प्रमुख मील का पत्थर था, क्योंकि इसने गणित में विकास को तेज गति प्रदान की थी।

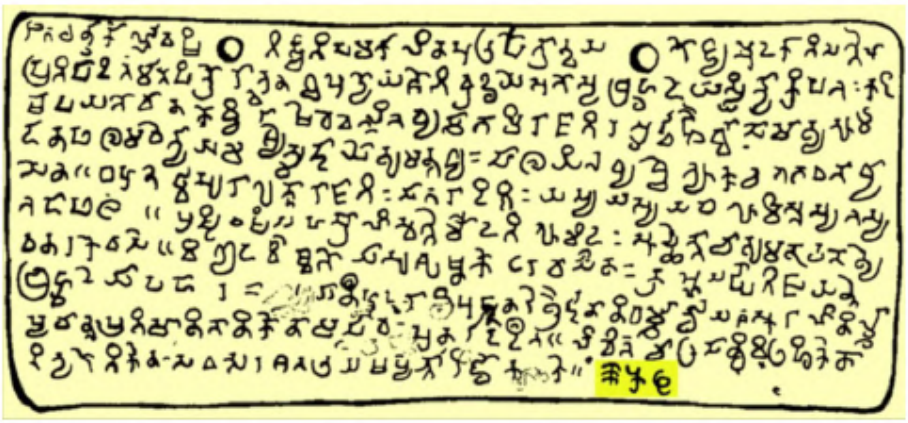

संख्यात्मक संकेत चिह्नों के स्थानमान प्रणाली के साथ लिखे गए एक प्रथम सत्यापित शिलालेख। वह तिथि एक स्थानीय युग के 346 के रूप में पढ़ी जाती है जो 594 ईस्वी को दर्शाती है।
(जार्जेज इफराह से रूपांतरित)

लगभग 499 ईस्वी में आर्यभट्ट प्रथम (जन्म 476 ईसा पूर्व) आज के पटना शहर के पास रहते थे, उन्होंने अपने समय में पहला ग्रंथ आर्यभटीय लिखा, जो उनके काल खंड में गणित और खगोल विज्ञान के ज्ञान की व्यवस्थित समीक्षा करता है। इसका सार बहुत संक्षिप्त (केवल 121 छंद) है जो प्रायः अस्पष्ट है, लेकिन 6वीं और 16वीं शताब्दी के बीच, इसकी विषयवस्तु पर व्याख्या करने और निर्माण करने के लिए बारह प्रमुख टिप्पणियां लिखी गई थीं। अंततः इसे 800 ईसा पूर्व (जिज अल–अरबाज शीर्षक के तहत) में अरबी में अनुवादित किया गया, जिसने बदले में 13वीं शताब्दी में लैटिन अनुवाद का नेतृत्व किया (जिसमें आर्यभट्ट को 'अदब्यूरियस' कहा जाता था)।

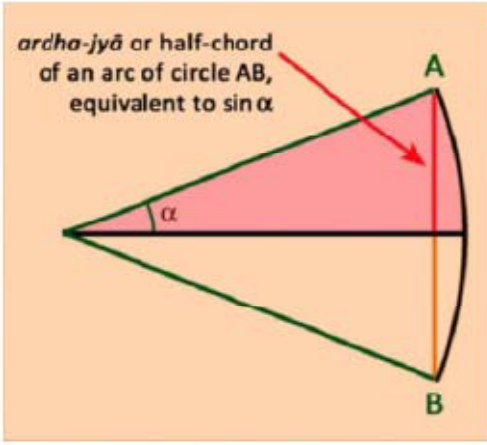

आर्यभट ने अर्ध जीवा (हाफ कार्ड) की अवधारण को आरंभ किया था, जो कि ग्रीक त्रिकोणमिति पर एक महत्वपूर्ण बढ़त थी। इसे वृत्त की एक चाप की पूरी जीवा माना जाता था।

आर्यभट्ट के गणितीय तथ्यों का विश्लेषण साइनों की एक बहुत ही सटीक तालिका से होती है और त्रिभुज के क्षेत्र में π (3.1416, + 'अनुमानित' कहा जाता है) के लिए समान सटीक मूल्य, परिमित अंकगणितीय प्रगति की मात्रा, वर्ग और घन मूल के निष्कर्षण के लिए अंकगणित के सिद्धांत थे और दो अज्ञातों के साथ पहले कोणों के अनिश्चित समीकरणों को हल करने के लिए कुट्टक (पीसना) नामक एक विस्तृत एल्गोरिदमः ax+c¾by भी था। 'अनिश्चित' से इसका मतलब है कि हल अकेले पूर्णांक होना चाहिए, जो नियम हैं, प्रत्यक्ष बीजगणितीय तरीकों से बाहरय ऐसे समीकरण खगोलीय समस्याओं में सामने आए, उदाहरण के लिए किन्हीं दिए गए वर्षों में किसी ग्रह की परिक्रमा की पूरी संख्या की गणना करना।

यह उल्लेखनीय है कि इनके महान योगदान के बावजूद, आर्यभट्ट त्रुटिमुक्त नहीं हैं। पिरामिड और एक प्रकाशवर्ष की मात्रा के लिए इसके सूत्र गलत थे और बाद में उन्हें ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य द्वारा क्रमशः संशोधित किया गया।

आर्यभट्ट के बाद का शास्त्रीय काल

598 ईस्वी में पैदा हुए ब्रह्मगुप्त गणित में काफी उपलब्धियों के साथ एक बड़ा नाम था। अपने ब्रम्हपुत्र सिद्धान्त में, उन्होंने चक्रीय चतुर्भुज (यानी, एक वृत्त में अंकित) का अध्ययन किया और 17वीं शताब्दी के करीब यूरोप में फिर से एक सूत्र खोजा (17वीं शताब्दी यूरोप में फिर से खोजा गया सूत्र): यदि ।ठब्क

की लंबाई के सिरे a, b, c और d हैं तथा अर्ध परिधि s (¼a + b +c +d)/2 है, तो क्षेत्रफल निम्न के द्वारा दिया जाता हैः

क्षेत्रफल ABCD $[\sqrt{(s - a)(s - b)(s - c)\ (s - a)}]$

ब्रह्मगुप्त ने साहसपूर्वक नकारात्मक संख्याओं की धारणा पेश की और गणितीय अनंत संख्या के मूल्य 'जिसे कि स्थान द्वारा विभाजित किया गया है' को परिभाषित करने के लिए प्रेरित किया, खा शून्य उनके कई नामों में से एक है। उन्होंने अभिन्न समाधान के लिए भावना कलन विधि की खोज की। उन्होंने भावना कलन विधि को दूसरे क्रम के अनिश्चित समीकरणों (जिसे वर्ग प्रकृति कहा जाता है) के अभिन्न समाधान के लिए $Nx2 + 1 = y2$ के रूप में खोजा। वह कई तरह से आधुनिक बीजगणित के संस्थापकों में से एक थे और उनके कार्यों का अनुवाद फारसी में किया गया था और बाद में लैटिन भाषा में भी किया गया।

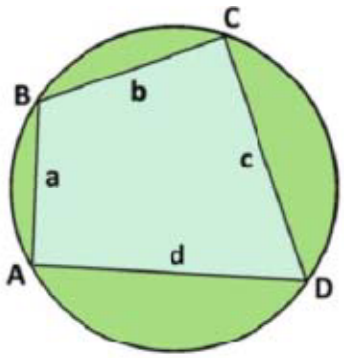

बख्शाली पांडुलिपि से लिए गए कुछ पन्ने (विकिपीडिया)

7वीं शताब्दी के आसपास, बख्शाली पांडुलिपि, जिसे गांव (अब उत्तरी पाकिस्तान में) के नाम पर रखा गया था, जहां यह 1881 में सनोबर की 70 पत्तियों पर लिखा गया था। ये हमें समय की विस्तृत गणितीय गणना तकनीकों में दुर्लभ अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं जिसके विशेष अंश में प्रगति, समय के उपाय, वजन और धन में शामिल है। हैं युग के अन्य शानदार गणितज्ञों में ब्रह्मगुप्त के समकालीन भास्कर प्रथम शामिल थे, जिन्होंने त्रिकोणमिति में श्रीधर और महावीर के साथ मिलकर इस क्षेत्र में अग्रणी काम कियाथा (साइन फंक्शन के लिए उल्लेखनीय सटीक तर्कसंगत अनुमान लगाने का प्रस्ताव)। अंत में, एक जैन विद्वान ने जो 9वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा (आज के कर्नाटक में) के दरबार में रहते थे, गणित का पहला सिद्धांत लिखा जो खगोल विज्ञान पर एक पाठ के हिस्से के रूप में नहीं था। इसमें, महावीर ने सीमित श्रृंखला, अंशों, क्रम परिवर्तनों और संयोजनों के विस्तार (पहली बार, क्षेत्र में कुछ मानक सूत्रों के कामकाज), दो अज्ञातों के साथ रैखिक समीकरण, वर्गबद्ध समीकरण और

उल्लेखनीय रूप से निकटतम अनुमान के साथ वर्णित अन्य महत्वपूर्ण परिणामों के बीच, एक अंडाकार की परिधि के लिए एक उल्लेखनीय निकट अनुमान लगाया था।

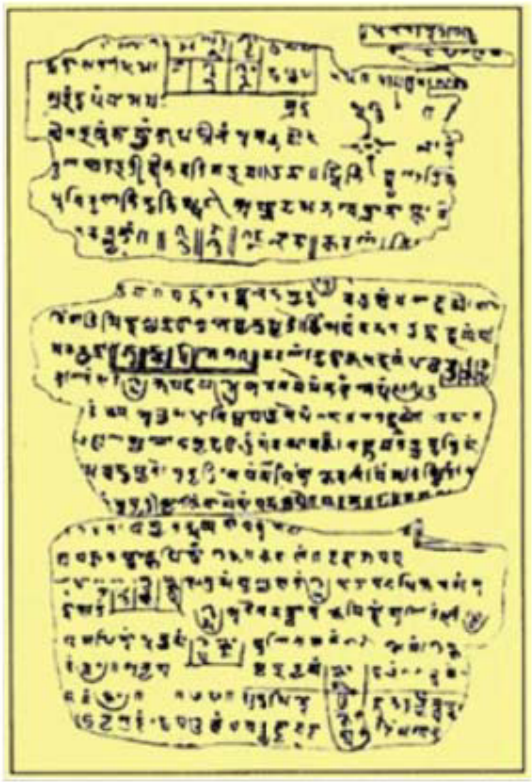

ग्राफ 0 से 180 डिग्री (नीले रंग में) से साइन फंक्शन के लिए भास्कर प्रथम की तर्कसंगत अनुमान की उच्च सटीकता को दर्शाता है। दो वक्रों को अलग करने के लिए साइन फंक्शन (लाल रंग में) को 0.05 तक ऊपर स्थानांतरित किया जाना था। (सौजन्यः आईएफआईएच)

भास्कराचार्य द्वितीय, जिसे अक्सर भास्कराचार्य के नाम से जाना जाता है, 12वीं शताब्दी में रहते थे। उनकी सिद्धांत शिरोमणि ने क्यूबिक और द्विवार्षिक समीकरणों के संबंध में एक नया अध्याय जोड़ा। उन्होंने ब्रह्मगुप्त के काम पर केंद्रित अनिश्चित समीकरणों पर एक और अधिक प्रभावी कलन विधि, चक्रवला (या 'चक्रीय विधि') उत्पन्न करने के लिए बनायाय उदाहरण के लिए, उन्होंने$61x2 + 1 = y2$को दिखाया कि x= 226153980] y = 1766319049के सबसे छोटे अभिन्न मान हैं (दिलचस्प रूप से, पांच सदियों बाद, फ्रांसीसी गणितज्ञ फर्मट ने अपने कुछ समकालीन विद्वानों को सामान समीकरण की चुनौती पेश की)। भास्कराचार्य ने सीमित मात्रा की सीमा के रूप में एकीकरण की धारणा को समझ लियाः उदाहरण के लिए, वह अपने क्षेत्र और मात्रा की गणना करने में सक्षम थे, उदाहरण के लिए, कभी भी छोटे गोले में एक और वृत्त खींचकर। वह तत्काल गति (तात्कालिक गति) की धारणा पर चर्चा करके

व्युत्पन्न की आधुनिक धारणा के करीब आए और समझाया कि साइन कार्य का व्युत्पन्न कोसाइन के आनुपातिक होता है।

भास्कराचार्य के सिद्धांतशिरोमणि का पहला भाग लीलावती नामक महिला के नाम से रखा गया है जिससे भास्कराचार्य अपनी गणितीय समस्याओं को कविताई भाषा में पूछा करते थे। समग्र भारत में, गणित के छात्रों के बीच लीलावती इतनी लोकप्रिय हो गई कि चार सदियों के बाद, अकबर के दरबारी कवि द्वारा इसे फारसी भाषा में अनुवाद किया गया था।

केरल संबंधी गणितीय विद्यालय

खगोल विज्ञान के साथ, गणित का केरल स्कूल में पुनरुत्थान हुआ, जो 14वीं से 17वीं शताब्दी तक वहां विकसित हुआ। इसके अग्रदूत, माधव (1340–1425) ने साइन और कोसाइन की क्रियाओं (सामाजिक न्यूटन श्रृंखला) के लिए शक्ति श्रृंखला का विस्तार किया और π के इस मौलिक विस्तार को विश्लेषित करके कैलकुस की कुछ रखीः

इसे ग्रेगरी–लेब्निटज श्रृंखला के रूप में भी जाना जाता है, लेकिन एक दिन इसे भारतीय गणितज्ञ माधव के नाम पर रखा जाना चाहिए। उन्होंने πके लिए एक और तेजी से अभिसरण श्रृंखला का प्रस्ताव दिया थाः

जिसने उन्हें πको दशमलव के 11 स्थानों तक गणना करने में सक्षम बनाया। नीलकंठ सोमयाजी (1444–1545 ईसा पूर्व) और ज्येष्ठदेव (1500–1600 ईसा पूर्व) इस तरह के परिणामों पर एकमत हुए और उन्होंने कैलकुलस के भारतीय सिद्धांतों को विस्तार से समझाया। उदाहरण के लिए, द्विपदीय विस्तार पर काम कियाः

भारतीय गणित की विशेषताएं

अन्यत्र के रूप में, भारत में गणित व्यावहारिक जरूरतों से उत्पन्न हुआः सटीक विनिर्देशों के अनुसार अग्नि वेदियां बनाना, ग्रहों की गति का पता लगाते रहना, ग्रहण की भविष्यवाणी करना आदि। लेकिन भारत का दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से व्यावहारिक रहाः ग्रीक की तरह एक स्वैच्छिक विधि विकसित करने के बजाय (प्रसिद्ध रूप से ज्यामिति के लिए यूक्लिड द्वारा पेश किया गया), यह सूत्रों और कलन विधि प्राप्त करने पर केंद्रित था जो सटीक और विश्वसनीय परिणाम प्रदान करते थे।

फिर भी, भारतीय गणितज्ञ अक्सर अपने परिणामों के लिए तर्कसंगत कठोर औचित्य प्रदान करते थे, खासकर लंबे ग्रंथों में। दरअसल, अपने ग्रंथों में भास्कराचार्य कहते हैं कि सबूत प्रस्तुत करना (उपपत्ती) शिक्षण परंपरा का हिस्सा है और ज्येष्ठदेव युक्ति भाषा में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं। दूसरी तरफ, छोटे ग्रंथ, अक्सर सबूत के विकास के साथ विभाजित किए जा सकते हैं। उसी तरह, एस. रामानुजन ने कई महत्वपूर्ण प्रमेय प्रस्तुत किए लेकिन उन्हें दूसरों को प्रमाण देने में समय नहीं लगता था!

क्या उन विशिष्टताओं ने भारतीय गणित के आगे विकास को सीमित किया है, यह बहस के लिए एक मुक्त मुद्दा है। विज्ञान के इतिहासकारों द्वारा अन्य कारकों पर चर्चा की गई है, जैसे केंद्रों के ऐतिहासिक व्यवधान और सीखने के नेटवर्क (विशेष रूप से उत्तर भारत में), सीमित शाही संरक्षण, या विजय प्राप्त आवेग की अनुपस्थिति (जो यूरोप में, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास को बढ़ावा देती है)। जैसा भी हो, इस क्षेत्र में भारत का योगदान किसी भी मानक से बड़ा है। अरब के माध्यम से, अंक संख्या के दशमलव स्थान–मूल्य प्रणाली से लेकर बीजगणित एवं विश्लेषण के कुछ मूल सिद्धांतों तक अनेक भारतीय योगदान के प्रभाव यूरोप तक पहुंचे थे और आधुनिक गणित के विकास के महत्वपूर्ण अवयव बने।

7 भारत में धातु विज्ञान

प्रौद्योगिकी को आज प्रायोगिक विज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया है, लेकिन शुरुआती मानव विकसित प्रौद्योगिकी, जैसे पत्थर के काम, कृषि, पशुपालन, मिट्टी के बरतन, धातु विज्ञान, कपड़ा निर्माण, मनका बनाने, लकड़ी की नक्काशी, गाड़ी बनाने, नाव बनाने और नौकायन आदि जैसी बातों के महत्व को मुश्किल से कोई विज्ञान नकार सकता है। अगर हम आस–पास की दुनिया के बदलते स्वरूप को प्रौद्योगिकी की दृष्टि से परिभाषित करते हैं, तो हम पाते हंन कि भारतीय उपमहाद्वीप में पहले पत्थर का औजार बीस लाख से अधिक वर्षों पहले से बनाया जाता रहा है! इस पूरे युग की यदि बात की जाए तो लगभग 10,000 साल पहले 'नियोलिथिक क्रांति' ने सिंधु और गंगा घाटियों के भूभाग में कृषि का विकास देखा, जिसने बदले में बर्तन, जल प्रबंधन, धातु उपकरण, परिवहन इत्यादि की आवश्यकता को जन्म दिया।

कृषि के अलावा, धातु विज्ञान ने मानव समाज में महत्वपूर्ण बदलाव लाए, क्योंकि इससे हथियारों, औजारों और उपकरणों की एक पूरी नई श्रृंखला का निर्माण हुआ। इनमें से कुछ पहले पत्थर से बने थे, यह सच है, लेकिन वे ठोस होने के साथ भारी भी थे। धातु, कीमती हो या न हो, गहने के लिए वह एक प्रमुख सामग्री है और इस प्रकार धातुओं के होने से हमारा सांस्कृतिक जीवन समृद्ध हुआ है।

धातु विज्ञान को निष्कर्षण, शुद्धिकरण, मिश्र धातु और धातुओं के उपयोग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। आज कुछ 86 प्रकार की धातुएं ज्ञात हैं, लेकिन उनमें से अधिकतर पिछले दो शताब्दियों में खोजी गई थीं। 'पुरातनता की सात धातुएं', सोने, तांबा, चांदी, सीसा, टिन, लौह और पारा, जिन्हें कभी–कभी खोज के आधार पर जाना जाता है। 7,000 वर्ष पहले से, भारत में धातुकर्म कौशल की एक उच्च परंपरा विद्यमान रही है। आइए इनके कुछ प्रमाणों को देखें।

हड़प्पा सभ्यता से पहले और उस दौरान धातु विज्ञानः

भारतीय उपमहाद्वीप में धातु का पहला प्रमाण बलुचिस्तान में मेहरगढ़ से आता है, जहां एक छोटे अकार की तांबे की मोती लगभग 6000 ईसा पूर्व पायी गयी थीय हालांकि यह देशी तांबा माना जाता है, न कि अयस्क से निकाली गई गंध धातु। तांबा धातु विज्ञान के विकास को 1500 वर्षों तक इंतजार करना पड़ा, यह वह समय था, जब ग्रामीण समुदाय व्यापार नेटवर्क और प्रौद्योगिकियों का विकास कर रहे थे जो सदियों बाद, हड़प्पा नगरों को बनाने के लिए उन्हें सहयोग देते थे।

पुरातत्व विभाग द्वारा की गयी खुदाई से पता चला है कि हड़प्पा काल के धातु सुनारों ने अरावली पहाड़ियों, बलुचिस्तान या उससे परे तांबा अयस्क (या तो सीधे या स्थानीय समुदायों के माध्यम से) प्राप्त किया था। उन्हें जल्द ही पता चल गया कि तांबा में टिन को मिलाने से कांस्य धातु तैयार होता है, तांबे की तुलना में यह धातु कठोर होता है और संक्षारण प्रतिरोधी भी है। चाहे जानबूझकर अयस्क में जोड़ा गया हो या पहले से मौजूद हो, विभिन्न 'अशुद्धियों' (जैसे कि निकल, आर्सेनिक या शीशा) ने हड़प्पा के कांस्य को और मजबूत करने में सक्षम बनाया, उस बिंदु पर जहां कांस्य चश्मा पत्थरों को तैयार करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था! मिश्र धातु श्रृंखला में कांस्य, टिन में 1% –12%, आर्सेनिक में 1% –7%, निकल में 1% – 9% और शीशे में 1% – 32% पाया गया है। तांबे या कांस्य को आकार देने में उसे बनाना, डूबाना, उठाना, ठंडा करना, धातु पर पानी चढ़ाना, कील से जोड़ना और जोड़ जैसी तकनीकें शामिल हैं।

हड़प्पा द्वारा उत्पादित धातु कलाकृतियों में से, नुकीली वस्तुओं के अलावा, भाले, तीर, कुल्हाड़ी, छैनी, दरांती, ब्लेड (चाकू के साथ–साथ रेजर), सुई, हुक, जार, बर्तन और पैन जैसी वस्तुओं का उल्लेख है। जैसे कांस्य दर्पण, उनके चेहरे की तरह थोड़ा अंडाकार आकार लिए हुए थे और एक तरफ अत्यधिक पॉलिश भी हुआ था। हड़प्पा कारीगरों ने दांतों और ब्लेड सेट के आस–पास के हिस्से को वैकल्पिक रूप से ठीक से देखा, जिसे रोमन काल तक अज्ञात माना गया था।

इसके अलावा, कई कांस्य मूर्तियों या मनुष्यों (उदाहरण के लिए प्रसिद्ध नृत्य लड़की') और जानवरों (भेंड़, हिरण, बैल ...) हड़प्पा के स्थल से निकाले गए हैं। उन मूर्तियों को मोम प्रक्रिया द्वारा डाला गया। प्रारंभिक मॉडल मोम से बना था, फिर मिट्टी के साथ मोटे तौर पर लेपित करके एक बार निकाल दिया गया (जिसके कारण मोम पिघल गया), मिट्टी एक मोल्ड में कड़ी हो गई, जिसमें पिघला हुआ कांस्य बाद में डाला गया।

मोम प्रक्रिया द्वारा बनाई गई 'नृत्य करती लड़की' (मोहनजोदड़ो)य मोहनजोदड़ो से एक कांस्य पैर और घुंघरूंय और एक बैल (कालिबंगन) की कांस्य मूर्ति। (आभारः एएसआई)

हड़प्पा ने सोने और चांदी (साथ ही साथ उनके संयुक्त मिश्र धातु, इलेक्ट्रम) का इस्तेमाल विभिन्न प्रकार के गहने जैसे लटकन, चूड़ियाँ, मोती, अंगूठी या हार को बनाने के लिए किया जाता था, जो आम तौर पर चीनी मिटटी या कांस्य के बर्तनों में पाए जाते थे। जबकि सोने को शायद सिंधु नदी के पानी के अंदर की सतह से प्राप्त किया गया था, चांदी शायद गैलेना, शीशा गंधक से निकाला गया था।

हड़प्पा के बादः

हड़प्पा सभ्यता के दौरान और उसके बाद, अभी भी अस्पष्ट लेखकत्व की 'संचित तांबा' संस्कृति ने मध्य और उत्तरी भारत में बड़ी मात्रा में तांबे के औजारों का उत्पादन किया। बाद में, शास्त्रीय युग में, तांबा–कांस्य सुनारों ने कला के अनगिनत टुकड़े की आपूर्ति की। आइए सुल्तानगंज (भागलपुर जिला, बिहार, अब बर्मिंघम संग्रहालय में) में 500 से 700 सीई के बीच बुद्ध की विशाल कांस्य प्रतिमा का उल्लेख करें, जो 2.3 मीटर ऊंचा, 1 मीटर चौड़ा, और 500 किलोग्राम वजन का था और यह उसी मोम तकनीक द्वारा बनाया गया था जिसे हड़प्पा सभ्यता के समय लगभग तीन सहस्राब्दी पहले इस्तेमाल किया गया था। तो तमिलनाडु में बाद में हजारों मूर्तियां (और आज तक) चोल अवधि की सुंदर नटराज मूर्तियों का निर्माण प्रसिद्ध कांस्य धातु से हुआ था। बेशक, दैनिक उपयोग के सभी प्रकार की कांस्य वस्तुओं का उत्पादन जारी रखा गया, उदाहरण के लिए, आज केरल में अत्यधिक पॉलिश वाले कांस्य दर्पण अभी भी मौजूद हैं, जैसे

कि वे हड़प्पा काल में थे। तो तमिलनाडु में बाद में हजारों मूर्तियां (और आज तक) चोल अवधि की सुंदर नटराज मूर्तियों जैसे अन्य प्रसिद्ध ब्रोंज के बीच बनाई गई थीं।

बुद्ध की एक विशाल कांस्य मूर्ति, सुल्तानगंज (आभारः विकिपीडिया)

भव्य चोल कांस्य मूर्तियांः महालक्ष्मी या नटराज (आभारः माइकल डैनिनो)

ykg /kkrq foKku%

जबकि सिंधु सभ्यता कांस्य युग से संबंधित था, इसके आगे गंगा सभ्यता, जो पहली सहस्राब्दी ईसा पूर्व में उभरा, लौह युग से संबंधित था। लेकिन गंगा घाटी के मध्य भागों और पूर्वी विंध्य पहाड़ियों में हाल की खुदाई से पता चला है कि 1800 ईसा पूर्व संभवतः लोहा का उत्पादन हुआ था। इसका उपयोग लगभग 1000 ईसा पूर्व से व्यापक हो गया और हम बाद के वैदिक ग्रंथों में 'अंधेरे धातु' (कृष्णस) का उल्लेख देखते हैं, जबकि शुरुआती ग्रंथों (जैसे ऋग्वेद) केवल अयास के बारे में बात करते हैं, जो कि अब स्वीकार्य हो चुका है और जिसे तांबे या कांस्य के साथ संदर्भित किया गया था। क्या भारत के अन्य हिस्सों ने गंगा क्षेत्र से लौह प्रौद्योगिकी सीखी है या स्वतंत्र रूप से इसके साथ आना आसान नहीं है। हालांकि, यह स्पष्ट है कि भारत में तांबा–कांस्य और लौह प्रौद्योगिकियों की शुरुआत एशिया माइनर (आधुनिक तुर्की) और काकेशस के साथ व्यापक रूप से मेल खाती है, लेकिन यह एक स्वतंत्र विकास था, आयात नहीं।

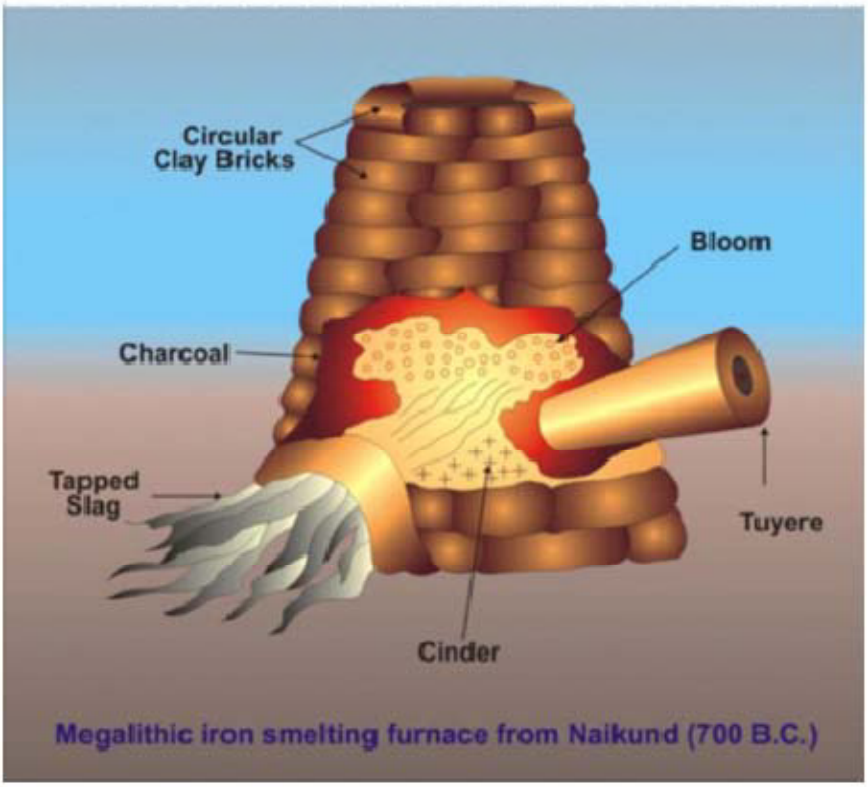

<u>पहली सहस्राब्दी ईसा पूर्व में एक आम लोहे की गंध भट्ठी (आभारः राष्ट्रीय विज्ञान केंद्र, नई दिल्ली)</u>

वुट्ज स्टीलः

इसके बजाए, भारत में यह एक प्रमुख नवप्रवर्तनक था, जिसमें दो अत्यधिक उन्नत प्रकार के लौह धातु उत्पादित होते थे। दक्षिण भारत में 300 ईसा पूर्व से उत्पादित पहला, वुट्ज स्टील जिसमें लोहे को नियंत्रित स्थितियों के तहत कार्बराइज्ड किया गया था। डेक्कन से सीरिया के लिए सभी तरह से निर्यात किया गया था, इसे वहां 'दमिश्क तलवार' में अपनी तीखेपन और क्रूरता के लिए जाना जाता था। लेकिन ऐसा लगता है कि 'दमिश्क' शब्द सीरिया के राजधानी शहर से नहीं, बल्कि 'दमिश्क' या उन तलवारों की सतह की लहर पैटर्न की विशेषता है। इस प्रकार, इस भारतीय इस्पात को 'ओरिएंट की आश्चर्य सामग्री' कहा जाता था। एक रोमन इतिहासकार, क्विंटियस कर्टियस ने रिकॉर्ड किया कि सिकंदर या अलेक्जेंडर द ग्रेट ने उन उपहारों में से जो टैक्सिला के पोरस (326 ईसा पूर्व में) से प्राप्त हुए थे, वहां ढाई टन वुट्ज स्टील था, यह स्पष्ट रूप से सोने की तुलना में अधिक मूल्यवान था। बाद में, अरबों ने इसे तलवारों और अन्य हथियारों में ढाल लिया तथा धर्म युद्ध के दौरान, यूरोपियों को भारी दमिश्क तलवारों से पीड़ित किया गया। यह मुगल युग के माध्यम से हथियार के लिए एक पसंदीदा धातु बना रहा, जब वुट्ज तलवारें, चाकू और कवच को कलात्मक रूप से सजाया गया था। हथियारों पर कलात्मक रूप से पीतल, चांदी और सोने की नक्काशी की गयी थी। गोलकुंडा और हैदराबाद के निजाम, टीपू सुल्तान, रणजीत सिंह, राजपूत और मराठों की कवचों तथा इन धातुओं से बने हथियारों का रहना अपने आप में एक शान थी।

वुट्ज स्टील (लगभग 18 वीं शताब्दी) से बना एक ठेठ तलवारय जिसका झुका हुआ सिरा लोहे का बना है और सोने की मोटी परत के साथ लेपित है (आभारः आर बालासुब्रमण्यम)

वुत्ज स्टील मुख्य रूप से लोहा होता है जिसमें कार्बन का उच्च अनुपात मौजूद होता है (1.0 – 1. 9:)। इस प्रकार शब्द वुट्ज (उक्कू का एक अंग्रेजी अनुवाद, स्टील के लिए कन्नड़ शब्द है) क्रूसिबल प्रक्रिया द्वारा उत्पादित उच्च कार्बन मिश्र धातु पर लागू होता है। मूल प्रक्रिया पहले स्पंज (या छिद्रपूर्ण) लौह तैयार करने की थी, फिर उसके स्लैग को निकालने के लिए गरम किया गया, उसे तोड़ा गया, फिर लकड़ी के चिप्स या बंद क्रूसिबल (मिट्टी के कंटेनर) में तारकोल के साथ सील कर दिया गया, जिससे लोहा कार्बन की मात्रा को अवशोषित कर लेता हैय क्रूसीबल्स को तब ठंडा कर दिया गया, जिसमें वुट्ज स्टील ठोस पिंड के साथ अवशेष के रूप में था।

17वीं शताब्दी के ठीक बाद, कई यूरोपीय यात्रियों ने भारत के लौह और इस्पात बनाने वाली भट्टियों को लिखित में संकलित किया था। (दक्षिण भारत के फ्रांसिस बुकानन के खाते वुट्ज के संबंध में जानकारी का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं)। 18वीं शताब्दी से, इंग्लैंड (पियरसन, स्टोडार्ट और फैराडे) में विद्वानों ने फ्रांस और इटली वुट्ज के रहस्यों को जानने की कोशिश की। फ्रांसीसी जीन–रॉबर्ट ब्रैंट, स्टील को विभिन्न धातुओं को जोड़कर 300 से अधिक प्रयोगों का संचालन करते हुए, वुट्ज में उच्च कार्बन अनुपात की भूमिका को समझते थे और वह पहला यूरोपीय था जिसने सफलतापूर्वक स्टील ब्लेड का उत्पादन भारतीयों के साथ किया था। साथ में, इस तरह के शोधों ने इस्पात में कार्बन की भूमिका और स्टील बनाने में नई तकनीकों की समझ बढ़ाने में योगदान दिया।

दिल्ली लौह स्तंभः

दूसरा उच्च कोटि का लौह प्रसिद्ध 1600 वर्ष पुराने दिल्ली लौह स्तंभ में उपयोग किया गया, जो कि 7.67 मीटर की ऊंचाई पर लगभग छह टन लोहे से निर्मित है। इसकी आरंभिक अंकित छह पंक्तियों के संस्कृत शिलालेख के अनुसार, शुरुआत में इसे विष्णुदागिरी में विष्णु के मानक के रूप में चंद्र द्वारा बनाया गया था। मध्य प्रदेश में सांची के पास आधुनिक उदयगिरी के साथ 'विष्णुपदगिरी' की पहचान की गई है और गुप्त राजा, चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (375–414 ईसा पूर्व) के साथ 'चंद्र' को खोजा गया। सन 1233 में, इस स्तंभ को नई दिल्ली के कुतुब परिसर में क्वावत–उल इस्लाम मस्जिद के आंगन में इसके वर्तमान स्थान पर लाया गया था, जहां लाखों लोग आते रहते हैं और इस 'विशुद्ध आश्चर्य' को देखते हैं।

शिलालेख के क्लोज-अप के साथ दिल्ली लौह स्तंभ (आभारः आर बालसुब्रमण्यम)

लेकिन यह कच्चा या अधिक सटीक या जंग प्रतिरोधी क्यों है? यहां फिर से, भारतीय और पश्चिमी दोनों के कई विशेषज्ञों ने इस लौह स्तंभ के निर्माण के रहस्य को समझने की कोशिश की। हाल ही में इसकी जंग प्रतिरोधी गुणों को पूरी तरह से समझा गया है (विशेष रूप से आर. बालासुब्रमण्यम द्वारा)। वे मुख्य रूप से लौह में फॉस्फरस की उपस्थिति के कारण होते हैंः यह तत्व, हवा से लौह और ऑक्सीजन के साथ, सतह पर पतली सुरक्षात्मक निष्क्रिय कोटिंग के गठन में योगदान देता है, जो खरोंच से क्षतिग्रस्त होने पर पुनर्निर्मित हो जाता है। इसका श्रेय भारतीय लोहारों को जाता है कि परीक्षण और त्रुटि के माध्यम से वे सही प्रकार के लौह अयस्क का चयन करने में सक्षम थे और इस तरह के विशाल स्तंभों के लिए इसे सही तरीके से संसाधित करते थे।

अन्य लौह स्तंभ और बीमः

भारत में ऐसे और भी स्तंभ मौजूद हैं, उदाहरण के लिए धार (मध्य प्रदेश) और कोडाचद्री हिल (तटीय कर्नाटक) में। इसके अलावा, उसी तकनीक का उपयोग उड़ीसा के कुछ मंदिरों, दिल्ली लौह स्तंभ में शिलालेख के करीब होने के साथ विशाल लौह बीम बनाने के लिए किया गया था। (आभारः आर. बालासुब्रमण्यम) जैसे पुरी के जगन्नाथ (12वीं शताब्दी), कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्य मंदिर में लौह बीम के बड़े आयाम हैं। बीमों में से एक के रासायनिक विश्लेषण ने पुष्टि की कि यह एक फॉस्फोरिक प्रकृति का लोहा था (99.64% Fe, 0.15% PC निशान, के निशान और कोई मैंगनीज नहीं)।

जस्ताः

भारतीय धातुकर्मी कई अन्य धातुओं से परिचित थे, जिनमें से जस्ता प्रमुख था क्योंकि कम क्वथनांक (907 डिग्री सेल्सियस) पर, यह अयस्क को गलाने के समय वाष्पीकृत होता है। जस्ता, एक चांदी जैसा सफेद धातु, तांबे के साथ संयोजन में महत्वपूर्ण है, जिसके परिणामस्वरूप बेहतर गुणवत्ता का पीतल प्राप्त होता है। कभी–कभी तांबा अयस्क का हिस्सा, शुद्ध जस्ता केवल एक परिष्कृत 'डाउनवर्ड' आसवन तकनीक के बाद ही बनाया जा सकता है जिसमें वाष्प को कम कंटेनर में रखा जाता है और संघनित किया जाता है। यह तकनीक, जिसे पारे पर भी अपनाया गया था, जिसका वर्णन 14वीं सदी के संस्कृत ग्रंथ रसरत्नसमुच्चय में किया गया है।

जवार खानों में जस्ता धातु विज्ञान (आभारः राष्ट्रीय विज्ञान केंद्र, नई दिल्ली)

6वीं या 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व से जवार में राजस्थान की खानों में जस्ता उत्पादन के पुरातात्विक साक्ष्य पाए गए हैं। सदियों से मौजूद इस तकनीक को और परिष्कृत किया जाना चाहिए। भारत, किसी भी मामले में, जस्ता आसवन में महारत हासिल करने वाला पहला देश था और अनुमान लगाया गया है कि जवाड़ में 13वीं से 18वीं शताब्दी ईसा पूर्व तक 50000 से 100000 टन जस्ता को पिघलाया गया था। 1760

के बाद, वास्तव में, एक दस्तावेजी सबूत मौजूद हैं कि एक अंग्रेज ने 17वीं शताब्दी में डाउनवर्ड डिस्टिलेशन की तकनीक सीखी और इसे इंग्लैंड ले गया जिसमें प्रौद्योगिकी हस्तांतरण का मामला था जो वुट्ज स्टील के समानांतर है।

सामाजिक प्रसंगः

अंततः हमें इस दिशा में ध्यान देना चाहिए कि भारत के अधिकांश धातु उत्पादन को विशिष्ट सामाजिक समूहों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, जिसमें तथाकथित जनजातियां शामिल हैं, जिनमें से अधिकांश भारतीय समाज के निचले भाग से हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के अग्ररिया लुहार हैं और झारखंड, बिहार, पश्चिम बंगाल, केरल तथा तमिलनाडु में भी ऐसे समुदाय बिखरे हुए हैं। साथ में, उन्होंने भारत की संपत्ति में काफी योगदान दिया, क्योंकि भारत लंबे समय से लौह का एक प्रमुख निर्यातक देश था। 1600 ईस्वी के उत्तरार्ध में, हजारों वुट्ज की सिल्लियां के शिपमेंट हर साल फारस के लिए कोरोमंडल तट भेजे गए। भारत का लौह और इस्पात उद्योग 18वीं शताब्दी तक बेहद सघन था और इसे केवल तब ही अस्वीकार कर दिया गया जब अंग्रेजों ने भारतीय उत्पादों पर उच्च अधिकारों का प्रयोग करते हुए भारत में अपने उत्पादों को बेचना शुरू कर दिया। औद्योगिक रूप से उत्पादित लौह और इस्पात ने अनिवार्य रूप से भारत के पारंपरिक उत्पादन में अंतिम रोक लगा दी थी।

घाटगांव (मध्य प्रदेश) में एक भूमिगत भट्ठी में लौह अयस्क को पिघलाता हुआ एक आदिवासी (आभारः ए. वी. बालसुब्रमण्यम)

8 पर्यावरण संरक्षण पर भारतीय परंपरागत ज्ञान

परिचयः

भारत के कई हिस्सों में, जन समुदायों ने उम्र के माध्यम से प्रकृति के लिए प्यार और सम्मान की समृद्ध परंपरा विरासत में ग्रहण की है। इस संबंध में धार्मिक अनुष्ठान, परंपराओं और रीति–रिवाजों ने बड़ी भूमिका निभाई है। भारतीय धर्म आम तौर पर पर्यावरणवाद के समर्थक रहे हैं। उन्होंने ऐसे दिशा निर्देशों के लिए प्रचार किया जो प्रकृति में एक अंतरंग संपर्क और भावना को सुनिश्चित करते थे। यह विश्वास कुछ संस्कार और अनुष्ठान करने के निर्देशों के रूप में आया, ताकि यह उनके जीवन का एक अंग बन सके। कभी–कभी पर्यावरण संरक्षण और संरक्षण के संदेश प्रछन्न रूप में होते हैं। आज, जब दुनिया पारिस्थितिकीय असंतुलन और पर्यावरणीय गिरावट के गंभीर संकट से गुजर रही है, तो ऐसी परंपराओं को समझना हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

प्रकृतिः

प्रकृति के संरक्षण की संस्कृति प्राचीन वैदिक काल में निहित पाई जाती है। चार वेदः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद विभिन्न प्राकृतिक संस्थाओं की सर्वोच्चता के लिए समर्पित स्तोत्रों से भरे पड़े हैं। ऋग्वेदिक स्तोत्र सूर्य, चंद्रमा, गरज, प्रकाश, बर्फ, पानी, नदियां, पेड़, बारिश आदि के साथ कई देवी–देवताओं को संदर्भित करते हैं। उन्हें स्वास्थ्य, धन और समृद्धि के लाभ के रूप में गौरव प्राप्त है और उनकी पूजा की गई है। बारिश–देवता इंद्र में उससे जुड़े स्तोत्रों की सबसे बड़ी संख्या है।

वैदिक पूजा में सूर्य पूजा का महत्व हैय सूर्य की पूजा सूर्य, मार्तण्ड, उषा, पूरन, रुद्र आदि जैसे देवताओं के रूप में की जाती थी। आज यह साबित हुआ है कि सौरऊर्जा ऊर्जा का अंतिम स्रोत है जो खाद्य श्रृंखला के माध्यम से ऊर्जा प्रवाह को नियंत्रित करता है, विभिन्न पोषक तत्वों को चलाता है और इस प्रकार पूरे पृथ्वी पर पारिस्थितिकी तंत्र को नियंत्रित करता है, लेकिन यह संभवतः प्राचीन लोगों द्वारा भी समझा जाता रहा है और महसूस किया जाता रहा है। ऋग्वेद का गायत्री मंत्र, जिसे हर शुभ अवसर पर गाया जाता है, जिसमें सूर्य की काफी प्रशंसा की गयी है। ठीक उसी प्रकार, अथर्ववेद में प्रकृति के महत्व पर प्रकाश डाला गया है और पृथ्वी की प्रशंसा में एक सुंदर स्तोत्र है। उल्लेखनीय दूरदर्शिता के साथ, दक्षिण भारत से तमिल में एक प्राचीन पाठ तिरुवल्लुवर के कुरल ने प्रकृति की सुरक्षा के तहत रहने की

आवश्यकता पर जोर दियाः 'चमकदार पानी, खुली जगह, पहाड़ियों और जंगलों में एक किले का गठन होता है।' गुरु ग्रंथ साहेब कहते हैं, 'वायु गुरु है, पानी पिता है, और पृथ्वी सभी की महान मां है।'

वनस्पति और जीवः

प्राचीन भारतीय परंपरा में पेड़ों को भी महत्व दिया गया है। चारों वेदों में विभिन्न जड़ी बूटियों, पेड़ों और फूलों का वर्णन किया गया हैं। पेड़ों और पौधों को जीवित प्राणियों के रूप में माना जाता था और उन्हें नुकसान पहुँचाना एक अभिशाप माना जाता था। अथर्ववेद विभिन्न जड़ी बूटियों के औषधीय मूल्यों की महिमा का वर्णन करता है। प्राचीन ग्रंथों में हम पौराणिक शक्तियों की दृष्टि से कलवक्का और पजाता जैसे पेड़ों के बारे में जानते हैं। पद्मा (कमल) और वावक्का (बरगद) जैसे पेड़ या जंगल की ज्वाला (पलाश) जैसे पेड़ों पर विशेष जोर दिया गया था। पीपल पेड़ की पूजा (जिसे बोधी पेड़ के रूप में भी जाना जाता है, संस्कृत में अष्टवथा, फिकस धर्मियोसा) एक लोक अनुष्ठान बन गया और पीपल को ब्रह्म पुराण में वृक्षों का राजा कहा जाता था। समय के दौरान, ऐसे कई पौधे और पेड़ विभिन्न देवताओं और देवियों से जुड़े रहें तथा तदनुसार उनकी पूजा की गई थी।

अपने अपने इलाके में, महिलाओं को हर सुबह एक पेड़ के चारों ओर एक घेरे में घूमते देखा होगा। क्या आपने कभी कारण समझने की कोशिश की? उन मान्यताओं के तहत कुछ वैज्ञानिक कारण हैं। पीपल का पेड़ लगातार वायुमंडल में ऑक्सीजन मुक्त करता है और इसलिए, इस तरह के ज्ञान को हमारे पूर्वजों द्वारा आध्यात्मिक रूप में रखा जाना चाहिए।

इसी प्रकार, बेल (एगल मार्मेलोस), अशोक (सरका एसोका), चन्दन और नारियल के पेड़ विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों में विशेष महत्व रखते हैंय तो दूब घास (सिनोडन डैक्टिलॉन), तुलसी (ओसीमिम), केला, कमल, गेंदा, गुड़हल (हिबिस्कस) और दूध के रंग जैसे दिखने वाले फूल (आक, कैलोट्रोपिस) का अपना अलग ही महत्व है। भारत में पेड़ की उत्पत्ति के लिए तीन प्रमुख कारक जिम्मेदार थेः उनकी लकड़ी, पत्तियां, फल इत्यादि मनुष्यों के लिए उपयोगी थींय ऐसा माना जाता था कि वृक्षों को पर्यावरणीय संरक्षण पर भारतीय पारंपरिक ज्ञान था, जो आत्माओं को संकट में निर्देशित करते थे और मनुष्यों ने पेड़ों के प्रति सम्मान दिखाया जो अक्सर उन्हें औषधीय पौधों के विकल्प के रूप में मिलते थे।

वनस्पतियों और जीवों और मनुष्यों के साथ उनके संगठनों को महाभारत, रामायण, और कालिदास के अभजानककुंटाला आदि जैसे इंजेपिक्स दिखाए गए थे। इनमें पेड़, लता, जानवरों और पक्षियों के रंगीन चित्र दिखाए गए हैं जो लोगों के साथ बातचीत करते हैं और अपनी खुशी व दुःख को साझा करते हैं तथा दर्शाता है कि लोग मनुष्य और प्रकृति के बीच पारस्परिक सौहार्द में कितना विश्वास करते थे।

प्रसिद्द संस्कृत कृति मनुस्मृति, पौधों और उनकी अवस्थाओं का एक अलग वर्गीकरण देता है कि जिसमें उनके आनंद और दर्द का अनुभव कर सकते हैं और जागरूकता रख सकते हैं। यह शास्त्रों में भी चिह्नित है कि एक पेड़ पुत्र के रूप में अपनाया जा सकता हैय कई पुराण इस अनुष्ठान को तरुपुत्रविधि के रूप में वर्णित करते हैं। उपनयन (दीक्षा) समारोह अश्वता वृक्ष (पीपल) के पेड़ के नीचे किया जाता है, बरगद और नीम के पेड़ के पास किए गए विवाह अनुष्ठान भी उल्लेखनीय हैं। पौधों को पानी देना धर्मशास्त्र ग्रंथों में बहुत ही फायदेमंद माना गया है।

कौटिल्य के अनुसार, पेड़ों या इसकी शाखाओं को काटना एक अपराध माना गया है और उन्होंने इसके लिए विभिन्न दंड निर्धारित किए हैं।

देववनः

प्राचीन काल में देववनों की परंपरा भी आम थी और अभी भी लोक और आदिवासी समुदायों द्वारा इसका अभ्यास किया जाता है। एक पवित्र देववन में आम तौर पर एक गांव के बाहरी इलाके में पुराने वृक्षों का एक झुण्ड होता था, जिसे गांव में बसने वाले लोग इस छोटे जंगल को मंजूरी देते थे। इस तरह के उपवनों को देवताओं, देवियों या आत्माओं के निवास के रूप में माना जाता था और इसलिए इन्हें अत्यंत सावधानी से संरक्षित किया जाता था। इन क्षेत्रों में पेड़ काटने पर रोक होती थी और किसी ने भी धार्मिक विश्वास के कारण और आंशिक रूप से देवताओं, देवियों और आत्माओं के क्रोध का सामना करने के डर के कारण निषेध की अवज्ञा करने की हिम्मत नहीं की थी। कई देववनों में, ग्रामीण त्योहारों और अन्य अवसरों के दौरान देवताओं को बलिदान और प्रसाद देने का भी वर्णन है। देववनों की इस परंपरा को जीवमंडल भंडार की समकालीन धारणा से मेल किया जा सकता है।

भारत में देववनों की राज्यवार संख्याएं (आभारः पृथ्वी से नीचे)

मदुरै क्षेत्र में आकर्षक घोड़े युक्त एक देववन

वन्यजीवः

वेल्लूर की नाग-नागिन मूर्तिकला
(आभारः कामत की पोटपोरी
,www.kamat.com)

जंगली जानवरों और यहां तक कि पालतू जानवरों को प्राचीन परंपरा में स्थान और सम्मान का गौरव प्रदान किया गया था। कई हिंदू देवताओं और देवियों के पास उनके वाहन या वाहन के रूप में कुछ विशेष पशु या पक्षी होते हैं। इनमें शेर, बाघ, हाथी, बैल, घोड़ा, मोर, हंस, उल्लू, गिद्ध, बैल, चूहा आदि शामिल हैं। लोगों के धार्मिक मान्यताओं के साथ जंगली जानवरों के संघ ने भारत में इतने लंबे समय तक अपने संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जब तक औपनिवेशिक शासन गहन शिकार में शामिल नहीं हो जाता। वन्यजीवन से जुड़ी पवित्रता की भावना ने इसे संरक्षित किया और पारिस्थितिकीय संतुलन को बनाए रखने में योगदान दिया। उदाहरण के लिए, भगवान शिव और सांप (या नाग) दोनों की एक साथ पूजा होती है, पूजा के साथ सांप का संबंध हमारे संतों द्वारा जानवर को संरक्षित करने का एक सचेत प्रयास था, जो कथित विषैले प्रकृति की

वजह से पैदा करता है । वास्तव में, सांप खाद्य चक्र में एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं और पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मनुस्मृति में, पौधों और जानवरों के संरक्षण के बारे में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्देशों के संदर्भ हैं। इसमें पेड़ों या जानवरों को नुकसान पहुंचाने के लिए विशिष्ट दंड के प्रावधान का वर्णन है।

प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता के कई कलाकृतियों और मुहरों में जानवरों को बैल (बिना कूल्हे के साथ या बिना), बाघ, हाथी, गलियारे, भैंस, घड़ियाल मगरमच्छ) जैसे जानवरों को दर्शाया गया है, लेकिन अक्सर पौराणिक जानवरों जैसे कि गेंडा, यद्यपि इस पशु की प्रतीकात्मकता का सटीक महत्व अभी भी बहस का विषय बना हुआ है, लेकिन हड़प्पा सभ्यता में इसको स्पष्ट रूप से बहुत महत्व दिया गया है। उन्होंने पेड़ की पूजा भी की है, जैसा कि निम्नवत चित्र से प्रमाणित है, (बाएं चित्र में) जिसमें एक पेड़ को एक मंच पर उठाया गया है।

सिंधु सभ्यता के मुहर एक बैल, एक हाथी, और दो गैंडे (एक सींग वाला एक पौराणिक जानवर) दर्शाते हैं जो एक पीपल वृक्ष के दोनों ओर दर्शाये गए हैं। (आभारः एएसआई)

वैदिक काल के दौरान, गाय को एक बहुत मूल्यवान जानवर माना जाता थाय ऋग्वेद में देवताओं की मां अदिति को अक्सर 'दिव्य गाय' कहा जाता था। महाभारत में, पूरी धरती की तुलना एक गाय से की जाती है, जो मनुष्यों, देवताओं और राक्षसों, पेड़ और पहाड़ों को दूध से पोषित करती थी। कई शस्त्रों ने जानवरों की अनावश्यक हत्या को निर्धारित किया। बाद में, मौर्य शासक अशोक ने जानवरों को शिकार और

क्रूरता के अपने संपादनों में भी निषिद्ध कियाय गुजरात के गिन्नार में आवश्यक होने पर उनके लिए चिकित्सा उपचार का आदेश दिया था।

तालिका एक : पौधों की सुरक्षा		
क्रम सं.	**अपराध की प्रेंति**	**सजा निर्धारण**
1. (A) (B)	इन बातों के लिए जीवित पेड़ को काटना खदान, कारखाना, बड़े पुल या बांध आदि बनाने के लिए जलाऊ लकड़ी	 एक अपराधी व्यक्ति के अपराध की निंदा होनी चाहिए (XI 64) एक अपराधी व्यक्ति के अपराध की निंदा होनी चाहिए (XI 65)
2.	फल लदे पेड़ों या झाड़ी, बेल, फूल या जड़ी बूटी की कटाई।	अपराधी को सौ दफा अपने अपराध का बोध होना चाहिए। (XI .143)
3.	पौधों को नष्ट करना – खेती या मोनोकार्पस या जंगली।	पाप का प्रायश्चित करने के लिए, अपराधी को पूरे दिन एक गाय के सहारे रहना पड़ता है, और केवल दूध पर ही निर्भर रहना पड़ता है। (XI 145)
तालिका 2: पशु की सुरक्षा		
क्रम सं.	**अपराध की प्रेंति**	**सजा निर्धारण**
1.	जानवरों को छेड़ना	भारी भरकम सजा होनी चाहिए (VIII 286)
2.	जानवरों को घाव देना, खून बहाना, इशारा करते हुए घायल करना	अपराधी को उपचार की कीमत अदा करनी चाहिए (VIII. 287)
3.	अप्रशिक्षित वाहन चालक द्वारा किसी जानवर को नुकसान पहुँचाना	वाहन के मालिक को दो सौ पैन का जुर्माना देना है (VIII 293)
4.	गाय, हाथी, ऊंट, घोड़े, आदि जैसे बड़े जानवरों को नुकसान पहुँचाना	अपराधी को पांच सौ पेनी का जुर्माना देना है (VIII 296)

मनुस्मृति में पर्यावरण के प्रति शत्रुतापूर्ण कृत्यों के लिए निर्धारित दंड (प्रियदर्शन सेन शर्मा, ''मनु में जैव विविधता का संरक्षण संहिता'', इंडियन जर्नल अ,फ साइंस, 33 (4),1998)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वनों और पशु अभयारण्यों का भी उल्लेख किया गया, जहां जानवरों को शिकार से बचाया गया था। वन के एक अधीक्षक अपने रखरखाव और वन उत्पादन के उचित प्रबंधन के लिए जिम्मेदार थेय शिकार को विभिन्न दंड के साथ दंडित किया गया था।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म में संरक्षण शिक्षाएं:

बौद्ध धर्म और जैन धर्म, दो सबसे लोकप्रिय धर्म विरूद्ध प्राचीन काल के संप्रदायों ने भी प्रकृति संरक्षण की वकालत की। बौद्ध धर्म और जैन धर्म, प्राचीन काल के दो सबसे लोकप्रिय हेटरोडॉक्स संप्रदायों ने भी प्रकृति संरक्षण की वकालत की। बौद्ध धर्म सहिष्णुता, प्रेम, करुणा, क्षमा और अहिंसा में विश्वास करता है। जैन धर्म पूरी अहिंसा की वकालत करता हैय यह पृथ्वी पर हर प्राणी को सबसे छोटी कीड़े या सूक्ष्म जीवों सहित समान महत्व के रूप में मानता है और हर तरह से उनकी हत्या को रोकता है। यह धारणा जैव विविधता को संरक्षित करने की दिशा में एक लंबा सफर तय करती है। जबकि जैन धर्म पूरी तरह से

अहिंसा का प्रचार करता है, बौद्ध धर्म मध्य मार्ग का पालन करता है और कहता है कि जानवरों की हत्या या पेड़ों की गिरफ्तारी पूरी तरह जरूरी नहीं होनी चाहिए। महावीर अपने अनुयायियों को आचार्य सूत्र में पर्यावरण के बारे में निम्नलिखित प्रचार देता है। प्रकृति, उनके अनुसार, सभी तरीकों से संरक्षित है, कोई अपशिष्ट नहीं, कोई बहाना नहीं, कोई दुर्व्यवहार नहीं, कोई प्रदूषण नहीं। यदि हम इन सिद्धांतों का पालन करते हैं, तो हम अपने पर्यावरण को नष्ट करना बंद कर देंगे और साथ ही उन संसाधनों को संरक्षित करेंगे जो साझा करने के लिए उपलब्ध हैं। यदि सभी के लिए अधिक संसाधन उपलब्ध हैं, तो गरीबों को भी इसका उचित हिस्सा मिलेगा (आर. पी. चंदरिया)।

भारहुत (मध्य प्रदेश) से एक बेस-रिलीफ, जिसमें बुद्ध की पूजा को दर्शाया जा रहा है सिंहासन और इसके पीछे, पवित्र पीपल या बोधी वृक्ष (फिकस धर्मियोसा) है। (आभारः एएसआई)

बिश्नोइस और संरक्षणः

मध्ययुगीन काल के दौरान कई धार्मिक संप्रदायों लोकप्रिय हो गए जो प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण की वकालत करते थे। ऐसा एक संप्रदाय बिश्नोइस था, जो राजस्थान के जलवायु रूप से शत्रुतापूर्ण क्षेत्र में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया था। संप्रदाय के अनुयायियों ने वृक्षारोपण पर प्रतिबंध लगाने की वकालत की क्योंकि वे मानते थे कि पेड़ सामंजस्यपूर्ण और समृद्ध वातावरण का आधार हैं। सामंजस्यपूर्ण और समृद्ध वातावरण। पेड़ के लिए प्यार।

खेजरी पेड़ का एक नमूना (आभारः विकिपीडिया)

पेड़ों के लिए प्यार बिश्नोई समाज के लोगों के दिमाग और आत्मा में बहुत अधिक प्रश्न कर रहा था राजस्थान के खेजराली गांव में लगभग 363 युवा और बूढ़े पुरुषों और महिलाओं ने खेज के पेड़ (प्रोसोपिस सीनेरिया) को राजा के आदमियों द्वारा गिरने से बचाने के लिए गले लगा लिया। स्थानीय शासक

ने खेजरी के पेड़ों को अपने चूने के भट्टियों के लिए ईंधन के रूप में इस्तेमाल करने का आदेश दिया थाय बिश्नोइस ने उन्हें गले लगा लिया और कई चरणों में मारे गए। बाद में, बिश्नोई के शहीदों के सम्मान में एक मंदिर बनाया गया था। आंदोलन की प्रमुख महिलाओं में से एक अमृता देवी बिश्नोई थी। बाद में राजा ने पश्चाताप करते हुए बिश्नोई–नियंत्रित भूमि में वृक्षों और जानवरों की रक्षा करने के लिए एक आदेश जारी किया। अर्द्ध शुष्क क्षेत्र के आम लोगों ने पेड़ों के वास्तविक मूल्य को समझ लिया था। खेजरी पत्तियां पश्चिमी राजस्थान जैसे रेगिस्तानी इलाके में पशुधन के लिए एक महत्वपूर्ण आहार बनाती हैं, क्योंकि उनके ऊंट, मवेशी, भेड़ और बकरी के लिए उच्च पौष्टिक आहार है। इस पेड़ की एक अनूठी विशेषता यह है कि शुष्क सर्दियों के महीनों में भी यह हरे पत्ते पैदा करता है जबकि सूखे इलाकों में कोई अन्य हरा चारा उपलब्ध नहीं है। पश्चिमी राजस्थान के अर्ध–शुष्क हिस्सों के लोगों ने खेती के मैदानों और चरागाहों के बीच खेजरी पेड़ के विकास को प्रोत्साहित किया क्योंकि इसकी व्यापक जड़ प्रणाली ने स्थानांतरण रेत के कणों को स्थिर करने में मदद की। यह जीवाणु गतिविधि के माध्यम से नाइट्रोजन भी ठीक करता है। इसके अलावा, ग्रामीणों ने गैर–उपजाऊ मिट्टी को फिर से जीवंत करने के लिए खेजरी पत्तियों का कार्बनिक पदार्थ के रूप में उपयोग किया। महिला गर्भपात के खिलाफ सुरक्षा के रूप में अपनी गर्भावस्था के दौरान चीनी के साथ मिश्रित इनके फूलों का उपयोग करें, और इसकी छाल अतिसार, दमा, सामान्य ठंड और संधिशोथ (गठिया) के इलाज में प्रभावी है।

प्रतिरोध की परंपराः

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में वन काटने के खिलाफ प्रतिरोध के अधिक उदाहरण सामने आए। उन आंदोलनों में से ज्यादातर बड़े पैमाने पर अन्यायपूर्ण औपनिवेशिक वन कानूनों के खिलाफ थे, जो स्थानीय लोगों, विशेष रूप से जनजातियों की आजीविका को प्रभावित करते थेः औपनिवेशिक सरकार द्वारा सरकारी संरक्षित जंगलों का निर्माण आदिवासियों के लिए विनाशकारी था, जो पूरी तरह से वन उत्पादन पर निर्भर थे। इस प्रकार आदिवासी समुदायों को सरकारी वन विभागों द्वारा सबसे ज्यादा प्रभावित किया गया था।

9 जीवन, स्वास्थ्य और कल्याण के लिए आयुर्वेदः एक सर्वेक्षण

आयुर्वेद क्या है?

आयुर्वेद की परिभाषा की अगर बात करें तो आयुर्वेद दो शब्दों से मिलकर बना है, पहला 'आयु' जिसका अर्थ है जीवन और दूसरा 'वेद' जिसका अर्थ है ज्ञान। इस प्रकार आयुर्वेद जीवन या जीवन विज्ञान से जुड़ा ज्ञान होता है। एक पारम्परिक अध्ययन के अनुसार, आयुर्वेद एक ज्ञान की तरह है, जो स्वस्थ (हितम), अवांछित (अहितम), खुश (सुखम) और दुखी (असुखम) के रूप में जीवन को परिभाषित करता है और जीवन व दीर्घायु होने के लिए जो भी अच्छा और वांछित है, को सूचित करता है।

उपरोक्त विश्लेषण से हम देख सकते हैं कि आयुर्वेद का लक्ष्य अनुभव के सभी स्तरों पर व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण दोनों को बढ़ावा देना है। आयुर्वेद का लक्ष्य उच्चतम स्तर पर स्वास्थ्य को स्थापित करना है, जिसे प्राप्त करने में मनुष्य सक्षम होता है और इसका दायरा बीमारियों को ठीक करने के लिए प्रतिबंधित नहीं है। स्वास्थ्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कल्याण का सामूहिक प्रकटीकरण होता है।

हजारों साल पहले, आयुर्वेद की परंपरा ने स्वास्थ्य की सबसे आधुनिक परिभाषा की उम्मीद की थी जिसे विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा घोषित किया गया है, 'स्वास्थ्य पूर्ण रूप से शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण के मिलन का परिणाम है, सामूहिक प्रकटन है, जो न केवल बीमारी या बीमारी की अनुपस्थिति में 'स्वास्थ्य के लिए आयुर्वेदिक आध्यात्मिक आयाम जोड़ता है, अपितु बताता है कि मनुष्य त्रिआयामी है और जिसे तन, मन तथा आत्मा से स्वस्थ होना चाहिए। स्वास्थ्य, जीवन के चार गुना लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन हैः धार्मिक गतिविधि – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष द्वारा प्राप्त संसाधनों के माध्यम से आध्यात्मिक और भौतिक कल्याण को बढ़ावा देना है।

आयुर्वेद इस बात पर जोर देता है कि व्यक्तिगत कल्याण सामाजिक कल्याण का एक साथ टकराव नहीं होना चाहिए। एक खुशहाल जीवन वह है जो व्यक्तिगत कल्याण प्राप्त करता है, जबकि एक स्वस्थ जीवन वह है जो सामाजिक कल्याण के लिए अनुकूल है। ये अवधारणाएं वर्तमान समय में प्रचलन में हैं और हमारा देश व्यक्तिगत और राष्ट्रीय कल्याण सूचकांक प्रदान कर रहा है, जो एक खुशहाल और स्वस्थ जीवन की आयुर्वेदिक धारणा से मेल खाता है।

स्वास्थ्य देखभाल के लिए एकीत –ष्टिकोणः

शायद आयुर्वेद मानवता द्वारा प्रचलित एकीकृत चिकित्सा का सबसे पुराना रूप है। आयुर्वेद की परिभाषा एकीकृत चिकित्सा के आधुनिक विचारों के अनुरूप है। एकीकृत चिकित्सा एक ही समय में शरीर, दिमाग और आत्मा को ठीक करने का प्रयास करती है या इंसान को पूरी तरह से पूर्ण बनाती है। एकीकृत चिकित्सा मुख्यधारा के चिकित्सा उपचार और वैकल्पिक चिकित्सा उपचार के पूरकों को एक साथ जोड़ती है जिसके लिए सुरक्षा और प्रभावशीलता के कुछ उच्च गुणवत्ता वाले वैज्ञानिक प्रमाण मौजूद हैं।

आयुर्वेद का कहना है कि मानव जीवन, शरीर, दिमाग और आत्मा के त्रिकोण पर आधारित है। आयुर्वेदिक ग्रंथों ने यह भी सलाह दी है कि दुनिया में प्रचलित उपचार के लिए कई दृष्टिकोण हैं और हमें उपचार की पूरी प्रणाली बनाने के लिए सबसे प्रभावी तरीकों की जांच को और एकीकृत करना होगा।

आंतरिक पर्यावरण और व्यक्तिगत दवा का संतुलनः

आयुर्वेद स्वास्थ्य को आंतरिक वातावरण के गतिशील संतुलन के रूप में परिभाषित करता है जो अंगों, दिमाग और स्वयं को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। जैसे सूरज की तरह, चंद्रमा और हवा बाहरी पर्यावरण के संतुलन को बनाए रखती है, ठीक वैसे ही शरीर एनाबोलिक (निर्माण) और केटाबोलिक (विखंडन) गतिविधियों द्वारा निर्मित संतुलन से स्वयं को बनाए रखता है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय होता है और इसकी एक विशिष्ट मानसिक और शारीरिक संरचना होती है, जो स्वास्थ्य के उच्च स्तर को प्राप्त करने के लिए बीमारी की कमजोरी और दायरे को परिभाषित करता है। आयुर्वेद ऐतिहासिक रूप से व्यक्तिगत दवा के दृष्टिकोण की वकालत करने में हमेशा से अगुआ रहा है। मानव आनुवंशिकी और चिकित्सा आनुवंशिकी में हुई प्रगति ने आज चिकित्सा के लिए एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण की उत्पत्ति को जन्म दिया है, जो व्यक्तिगत जरूरतों के अनुरूप चिकित्सा में हस्तक्षेप करता है।

बाहरी पर्यावरण के साथ सौहार्दः

आयुर्वेद बताता है कि आंतरिक पर्यावरण के संतुलन को केवल बाहरी पर्यावरण के साथ सौहार्द स्थापित करके ही बनाए रखा जा सकता है। आयुर्वेद का मत है कि मानव ब्रह्मांड का प्रतीक होता है। सूक्ष्मदर्शी, मैक्रोकास्म के एक लघु रूप का प्रतिनिधित्व करता है और मानव शरीर प्राकृतिक तत्वों से मिलकर बना है। इस प्रकार आयुर्वेद द्वारा स्वास्थ्य की देखभाल पारिस्थितिक प्रणाली में विकसित हुई है। एक इलाके के व्यक्ति विशेष के लिए, उनके चारों ओर बढ़ रहे पौधे सबसे उपयुक्त स्रोत हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवनशैली बनाना पड़ता है जो भौगोलिक क्षेत्र के साथ–साथ बदलते मौसमों को भी मानता है।

आयुर्वेदिक उपचार के सिद्धांतः

आयुर्वेद निवारक और उपचारात्मक दवा दोनों के साथ समान व्यवहार करते हैं। निवारक दवा एक ऐसी जीवनशैली विकसित करने के मुद्दे पर केंद्रित है जो किसी के शारीरिक और मानसिक संविधान के साथ–साथ भौगोलिक और जलवायु स्थितियों के अनुकूल होता है। इसमें व्यक्ति की ताकत और प्रतिरक्षा को बढ़ाने के लिए डिटॉक्सिफिकेशन और कायाकल्प कार्यक्रम भी शामिल रहते हैं। आयुर्वेद एक दैनिक नियम विकसित करने के लिए दिशा निर्देश निर्धारित करता है जिसे मौसम के अनुसार गतिशील रूप से संशोधित किया जाना होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दैनिक गतिविधि और पाचन तंत्र की स्थिति के आधार पर आहार योजना तैयार करनी होती है। न केवल आहार को प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं के लिए वैयक्तिकृ त किया जाना चाहिए, बल्कि बाहरी पर्यावरण स्थितियों के अनुसार इसे भी संशोधित किया जाना चाहिए।

प्रेंति में पांच तत्व मानव शरीर को बनाते हैंः

भौतिक ब्रह्मांड पांच मुख्य तत्वों या पंच महाभूतियों से मिलकर बना है, जो प्रतीकात्मक रूप से पृथ्वी, पानी, आग, वायु और आकाश द्वारा दर्शाए जाते हैं। सरल बनाने के लिए, वे भौतिक पदार्थ के अंतरिक्ष और ठोस, तरल, तापीय व गैसीय अवस्थाओं को दर्शाते हैं और ध्वनि, गंध, स्वाद, रंग तथा स्पर्श की पांच भावना धारणाओं के अनुरूप होते हैं। मानव शरीर समेत प्रत्यक्ष ब्रह्मांड में सबकुछ विभिन्न अनुक्रमों और पांच तत्वों के संयोजनों से बना है। इस प्रकार, मानव शरीर में असंतुलन यह चित्र उन सामग्रियों के बीच संवाद को दर्शाता है जो बाहरी दुनिया और जीवित शरीर को बनाते हैं, साथ ही साथ शरीर के ऊतकों में भोजन का परिवर्तन भी करते हैं। उचित पदार्थों का उपयोग करके बाहरी वातावरण को सही किया जाता है।

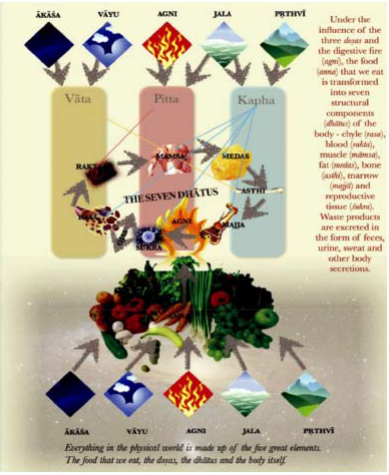

<u>यह चित्र विश्व की निर्माणकारी सामग्रियों और जीवधारी के बीच संवाद को दर्शाता है और साथ ही साथ शरीर के ऊतकों में भोजन परिवर्तन को भी।</u>

पंच तत्व शरीर के तीन कार्यों में गतिशील रूप से व्यवस्थित होते हैं, ये एनाबोलिक और कैटाबोलिक गतिविधियों को नियंत्रित करते हैं। वात, पित्त और बलगम तीन कार्य हैं जो शरीर की कार्यात्मक इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं। बलगम पृथ्वी के सिद्धांतों का संयोजन है और पानी मोटे तौर पर एनाबोलिज्म का प्रतिनिधित्व करता है।

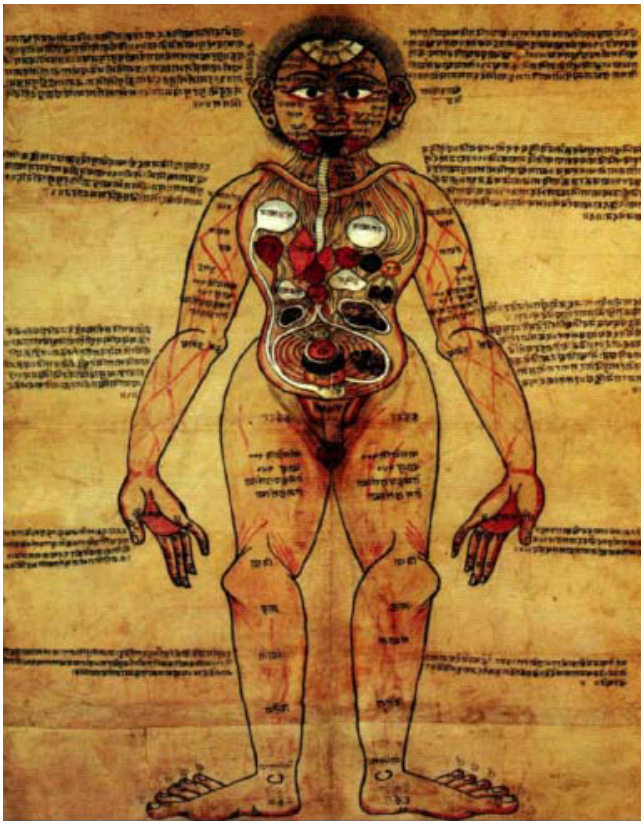

एनाट,मिकल मैन। संस्कृत चिकित्सा एनोटेशन के साथ रचनात्मक पेंटिंग। यह नेपाली चित्रकला आयुर्वेद की परंपरा में शरीर विज्ञान पर एक सचित्र चिकित्सा पाठ का एकमात्र ज्ञात उदाहरण है।
(आभारः वेलकम इंस्टीट्यूट फार दी हिस्ट्री आफ मेडिसिन, लंदन)

पित्त पानी और आग के सिद्धांतों का संयोजन है, यह परिवर्तन और संश्लेषण का प्रतिनिधित्व करता है। वात हवा और अंतरिक्ष के सिद्धांतों का संयोजन हैय यह विनियमन और नियंत्रण का प्रतिनिधित्व करता है। तीनो अवयवों और पाचन आग (अग्नि) के प्रभाव में, जो भोजन हम खाते हैं, वह शरीर के सात संरचनात्मक घटकों में परिवर्तित हो जाता हैः पायस (रस), रक्त, मांसपेशी, वसा, अस्थि, मज्जा और प्रजनन ऊतक आदि। अपशिष्ट उत्पादों को मल, मूत्र, पसीना और शरीर के अन्य स्राव के रूप में उत्सर्जित किया जाता है। जब यह परिवर्तन पूरा हो जाता है, तो सहज जीवनशैली और प्रतिरक्षा होती है जो स्वास्थ्य और कल्याण के उच्च स्तर को बनाये रखती है।

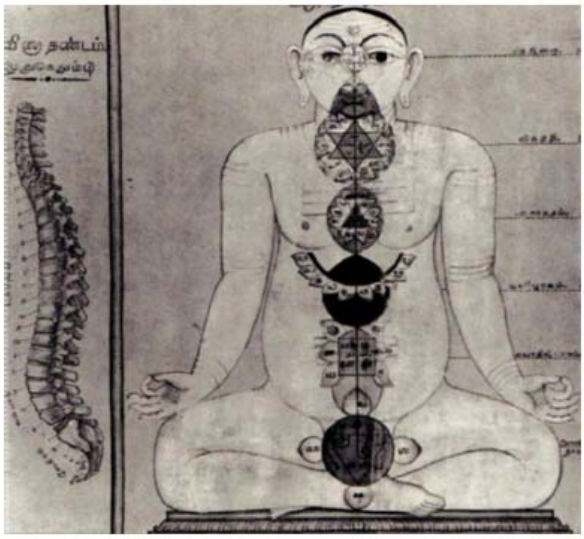

19वीं शताब्दी में तमिलनाडु के तंजावुर से इस चित्रकला में, चक्रों की स्थिति शारीरिक रूप से सही रीढ़ की हड्डी के साथ-साथ विभिन्न देवताओं से संबंधित है। (आभारः राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)।

स्वास्थ्य बहाल करने के लिए बीमारियों का इलाजः

रोग तब उत्पन्न होता है जब तीनों अवयव संतुलन से बाहर होते हैं जिससे धातु या शरीर के संरचनात्मक घटकों की अव्यवस्थित व्यवस्था होती है। आहार और व्यवहार संबंधी परिवर्तनों द्वारा समर्थित संयोजन और प्रसंस्करण द्वारा दवाओं में बने पौधे, पशु और खनिज पदार्थों का एक औचित्यपूर्ण उपयोग स्वास्थ्य को बहाल कर सकता है। आयुर्वेदिक उपचार के तीन आवश्यक घटक चिकित्सा, आहार और व्यवहार हैं।

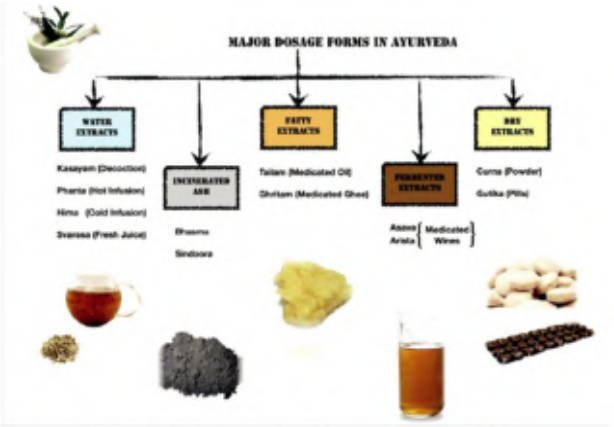

Chart listing the major dosage forms used in Ayurveda for administering medicines.

चार्ट में उपयोग की जाने वाली आयुर्वेदिक दवाइयों के वितरण के लिए प्रमुख खुराक के रूपों की सूची।

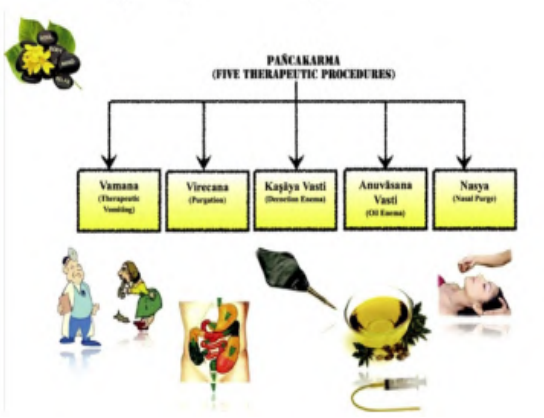

fp= I;k 5% चार्ट पांच चिकित्सीय प्रक्रियाओं को सूचीबद्ध करता है जिन्हें पंचकर्म कहा जाता है।

चिकित्सा आंतरिक या बाहरी, विनियामक या शुद्ध और सर्जिकल या गैर शल्य चिकित्सा है। आंतरिक दवाएं विभिन्न खुराक के रूप में तैयार की जाती हैं जैसे काढ़ा, औषधीय वाइन, गोलियां, औषधीय घी, औषधीय जैम, हर्बल पाउडर, भस्म राख, ताजा रस आदि। बाहरी उपचार में मालिश और तेल लगाने और फोमेंटेशन के विभिन्न तरीके शामिल हैं। विनियामक उपचार में शरीर को साफ किए बिना दवा, आहार और व्यवहार संबंधी परिवर्तन शामिल होते हैं। शुद्ध उपचार में उपचारात्मक उत्सर्जन (प्रेरित उल्टी), शोधक, एनीमा, नाक शुद्धता और रक्तचाप शामिल हैं। जब उत्सर्जन, शोधक, तेल एनीमा, डीकाक्शन एनीमा और नाक शुद्धता अनुक्रम में दिया जाता है, तो इसे पंचकर्म या पांच प्रक्रियाओं के रूप में जाना जाता है।

आयुर्वेद भी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक हस्तक्षेप जैसे प्रार्थना, ध्यान, भावना अंगों के नियंत्रण और इसी तरह के शारीरिक उपचार को संयोजित करने की सलाह देता है।

10 भारत के नोबेल पुरस्कार विजेता

1. सर रोनाल्ड रॉस

रोनाल्ड रॉस का जन्म सन् 1857 में आधुनिक उत्तराखंड के अल्मोड़ा जिले में हुआ था। उनके पिता ब्रिटिश सेना में जनरल थे, जिनकी तैनाती भारत में थी। रोनाल्ड रॉस आठ वर्ष की उम्र तक भारत में रहे। उसके बाद उन्हें इंग्लैंड के आवासीय विद्यालय में भेजा गया। उन्होंने लंदन के सेंट बार्थोलोम्यू अस्पताल से चिकित्साविज्ञान की पढ़ाई की।

जब रॉस छोटे थे, तब उन्होंने देखा था कि भारत में मलेरिया के कारण अनेक लोगों की मौत हो जाती थी। कारगार दवाओं की कमी के कारण हर साल लगभग दस लाख लोग मलेरिया के कारण मर जाते थे। जब रॉस भारत में थे तब उनके पिता को भी मलेरिया हो गया था, लेकिन सौभाग्य से वह ठीक हो गए थे। इस भयावह बीमारी ने उनके मन पर अमिट छाप छोड़ी। जब रॉस ब्रिटिश–इंडियन चिकित्सा सेवाओं के अंतर्गत भारत वापिस लौटे तब उन्हें मद्रास भेजा गया। वहां उनका ज्यादातर काम सेना के मलेरिया पीड़ित मरीजों के उपचार से संबंधित था।

रोनाल्ड रॉस ने सन् 1897 में मच्छरों और मलेरिया के बीच के संबंध को साबित कर दिया। ऐसा करके उन्होंने वैज्ञानिकों अल्फोनस लेवरेन और सर पेट्रिक द्वारा पहले से स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए इस संबंध में प्रस्तुत अवधारणा की पुष्टि की।

उस समय तक ऐसा माना जाता था कि मलेरिया का कारण गंदी हवा और ऐसे स्थान पर रहना है जो काफी गर्म, आर्द्र एवं दलदली हो। रॉस ने सन् 1882 से 1899 तक मलेरिया पर अध्ययन किया। ऊटी में तैनाती के दौरान वो खुद मलेरिया से पीड़ित हो गए। उसके बाद, उनका तबादला सिकंदराबाद में उस्मानिया विश्वविद्यालय के आयुर्विज्ञान विभाग में हुआ। उन्होंने मच्छरों की एक विशिष्ट प्रजाति, 'एनोफीलीज़' में मलेरिया के परजीवी की खोज की। आरंभ में उन्होंने इस प्रजाति को चितकबरा–पंख नाम दिया। रॉस ने मलेरिया से पीड़ित व्यक्ति का खून चूसने वाले एक मच्छर के पेट का विच्छेदन करने के

बाद उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण खोज की। उन्होंने मलेरिया के रोगी के शरीर में देखे गए परजीवी को मच्छर के पेट में देखा। आगे विस्तृत शोध के बाद उन्होंने मलेरिया परजीवी के पूरे जीवन चक्र की व्याख्या की। उनका मुख्य योगदान मलेरिया जैसी महामारी पर गहन अध्ययन करके इसके सर्वेक्षण एवं आंकलन की विधि का विकास करना था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने इसके अध्ययन के लिए गणितीय मॉडल भी विकसित किए थे। रॉस को चिकित्साविज्ञान में उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए सन् 1902 में नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। चिकित्सा के क्षेत्र में उनके इस महान कार्य के लिए उन्हें नाइट की उपाधि से सम्मानित किया गया था। सन् 1926 में रॉस लंदन में उनके सम्मान में स्थापित रॉस संस्थान एवं उष्णकटिबंधी रोग चिकित्सालय (रॉस इंस्टिट्यूट एंड हॉस्पिटल फॉर ट्रापिकल डिज़ीज़) के निदेशक बने। रॉस के सर्वेक्षणों द्वारा विभिन्न देशों में मलेरिया के कारणों और उनकी रोकथाम पर कार्य आरंभ हुए। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान पश्चिम अफ्रीका, ग्रीस, मॉरीशस, श्रीलंका, साइप्रस और मलेरिया से प्रभावित कई क्षेत्रों में मलेरिया की रोकथाम संबंधी योजनाओं की पहल की।

भारत में रॉस को सम्मान और प्रेम के साथ याद किया जाता है। भारत के कई कस्बों और शहरों के मार्गों का नामकरण उनके नाम पर किया गया है। उनकी सेवाओं के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए भारत में हैदराबाद स्थित क्षेत्रीय संक्रामक रोग चिकित्सालय का नामकरण सर रोनाल्ड रॉस उष्णकटिबंधीय और संचारी रोग संस्थान किया गया। सिकंदराबाद में पुराने बेगमपेट हवाई अड्डे के पास स्थित जिस ईमारत में कार्य करते हुए उन्होंने मलेरिया परजीवी की खोज की थी उसे आज एक विरासत स्थल का रूप देने के अलावा उससे लगे मार्ग का नामकरण सर रोनाल्ड रॉस मार्ग किया गया है।

कोलकाता के एसएस के एम चिकित्सालय की दीवार को एक स्मारक का रूप देते हुए रॉस की खोजों को लिखा गया है। इस स्मारक का आनावरण स्वयं रॉस की उपस्थित में लॉर्ड लिटन द्वारा 7 जनवरी, 1927 को किया गया था।

2. सर सी वी रामन

चंद्रशेखर वेंकट रामन का जन्म 7 नवंबर, 1888 को तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली में हुआ था। उनके पिता, चंद्रशेखर अय्यर स्थानीय महाविद्यालय में **भौतिक विज्ञान** के व्याख्याता थे। उनकी माता पार्वती कुशल गृहणी थी। उन्होंने 11 वर्ष की उम्र में अपनी मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। इसके बाद उन्होंने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। जहां से उन्होंने विज्ञान विषय में स्नातक और स्नातकोत्तर की परीक्षाएं उच्च श्रेणी में पास की। उनकी भौतिकी में गहरी रुचि थी।

स्नातकोत्तर करते हुए रामन ने भौतिकी विषय पर एक लेख लिखा और इसे फिलोसोफिकल पत्रिका एवं इंग्लैंड की प्रख्यात विज्ञान पत्रिका नेचर को भेजा।

उनके इस लेख को पढ़कर लंदन में अनेक विख्यात वैज्ञानिकों ने इस युवा भारतीय की प्रतिभा की सराहना की। रामन आईसीएस परीक्षा को पास करना चाहते थे। लेकिन इस परीक्षा के लिए उन्हें लंदन जाना पड़ता। लेकिन गरीबी के कारण वह वहां जाने का खर्चा वहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने भारत में आयोजित होने वाली भारतीय वित्त सेवा परीक्षा की तैयारी की। इस परीक्षा में उनका चयन हो गया और उस समय अंग्रेजों के अधीन रहे बर्मा (अब म्यांमार) स्थित रंगून में उनकी पदस्थापना की गयी।

इससे पहले कोलकाता में कार्य करते हुए वह 'इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टिवेशन ऑफ साइंस' नामक संस्था से जुड़े थे, जो उस समय कार्यरत एकमात्र शोध संस्थान था। यहां पर कार्य करते हुए उनके शोध कार्यों की ओर कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति का ध्यान गया। इस प्रकार कुलपति महोदय ने उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया। सर रामन वित्तीय सेवा में उच्च पद पर थे। उन्होंने अपने पेशे को छोड़ कर शैक्षणिक पेशे को अपनाया। जब वह प्रोफेसर के पद पर कार्यरत थे तब उन्हें एक विज्ञान सम्मेलन में भाग लेने के लिए इंग्लैंड आमंत्रित किया गया।

जब जहाज भूमध्यसागर से गुजर रहा था, रामन के मन में एक प्रश्न उठा। उन्होंने सोचा कि समुद्र का पानी नीला क्यों दिखता है। उनकी इस जिज्ञासा ने उन्हें प्रकाश पर शोध को प्रेरित किया। उन्होंने प्रयोगों के द्वारा पाया कि समुद्र 'सूर्यप्रकाश के प्रकीर्णन (छितराव)' के कारण नीला दिखता है। उनकी इस खोज को 'रामन प्रभाव' के नाम से जाना जाता है। अनेक वैज्ञानिकों के लिए चुनौती बने इस यक्ष प्रश्न को रामन ने सरलता से हल कर लिया था। उनके इस अग्रणी कार्य ने उन्हें सन् 1924 में लंदन की रॉयल सोसायटी ऑफ लंदन का सदस्य बनने में मदद की। ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा सन् 1929 में उन्हें नाइट की उपाधि से सम्मानित किया गया था। सर रामन को सन् 1930 में भौतिकी का नोबल पुरस्कार भी मिला। इस प्रकार वह नोबल पुरस्कार पाने वाले पहले भारतीय वैज्ञानिक बने। रामन ने 28 फरवरी, 1928 को रामन प्रभाव की खोज की थी। उनकी इस खोज के सम्मान में प्रत्येक वर्ष 28 फरवरी को राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के रूप में मनाया जाता है। सन् 1933 में उन्होंने बेंगलोर स्थित भारतीय विज्ञान संस्थान में निदेशक का पदभार संभाला। बाद में उन्होंने निदेशक के पद से त्यागपत्र देकर भौतिकी विभाग में अपना शोध कार्य आगे बढ़ाया। कैंब्रिज विश्वविद्यालय ने उन्हें प्रोफेसर पद का प्रस्ताव दिया, लेकिन उन्होंने यह कहकर प्रस्ताव मना कर दिया कि भारतीय होने के कारण वह अपने देश की सेवा करना चाहते हैं। डा. होमी भाभा और डा. विक्रम साराभाई उनके छात्र थे। सर सी.वी. रामन की मृत्यु 21 नवंबर, 1970 को हुई।

3. सुब्रह्मण्यन् चन्दशेखर

सुब्रह्मण्यन् चन्द्रशेखर का जन्म 19 अक्टूबर, 1910 को लाहौर में हुआ था। उनके पिता सुब्रह्मण्यन् चन्द्रशेखर अय्यर भारतीय लेखापरीक्षा में एक अधिकारी थे। उनकी माता सीतालक्ष्मी एक उच्च बौद्धिक महिला थीं। नोबेल पुरस्कार पाने वाले पहले भारतीय वैज्ञानिक सर सी.वी.रामन उनके चाचा थे। 12 वर्ष की उम्र तक उन्होंने अपने अभिभावकों से और निजी शिक्षकों से घर पर ही शिक्षा ग्रहण की। सन् 1922 में उन्होंने हिंदू हाई स्कूल में प्रवेश लिया। सन् 1925 में उन्होंने मद्रास प्रेसिडेंसी महाविद्यालय में दाखिला लिया। जून 1930 में चन्द्रशेखर ने भौतिक विज्ञान (ऑनर्स) में स्नातक की उपाधि उत्तीर्ण की। जुलाई, 1930 में उन्हें भारत सरकार ने इंग्लैंड स्थित कैंब्रिज में स्नातक अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की।

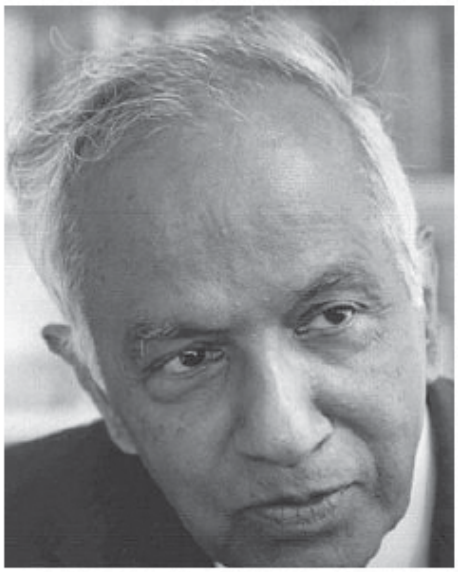

सुब्रह्मण्यन् चन्द्रशेखर ने 1933 में ग्रीष्म ऋतु में कैंब्रिज से पी–एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। अक्टूबर 1933 को चन्द्रशेखर का चयन 1933 से 1937 की अवधि के लिए ट्रिनिटी कॉलेज की पुरस्कार छात्रवृत्ति के लिए हुआ। सन् 1936 में जब चन्द्रशेखर हॉवर्ड विश्वविद्यालय के अल्पावधि भ्रमण पर थे तब शिकागो विश्वविद्यालय ने उनके सामने शोध सहायक के पद का प्रस्ताव रखा। उन्होंने उसे स्वीकार किया और इस तरह वह अमेरिका में बस गए। सितंबर, 1936 में चन्द्रशेखर ने लोमिता डोरोस्वॉमी से शादी की। वह मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज में उनसे कनिष्ठ थीं।

सुब्रह्मण्यन् चन्द्रशेखर को मुख्यतया चन्द्रशेखर सीमा संबंधी उनकी खोज के लिए जाना जाता है। उन्होंने साबित किया कि तारे के द्रव्यमान की अधिकतम सीमा, गुरुत्व बल को उसके भीतर स्थित इलेक्ट्रॉनों व नाभिकीय कणों के दबाव से संतुलित किए जाने के बराबर होती है। यह सीमा सूर्य के द्रव्यमान के लगभग 1.44 गुना के बराबर होती है। चन्द्रशेखर सीमा तारकीय विकास को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि किसी तारे का द्रव्यमान इस सीमा से अधिक होता है तो वह ताराश्वेत वामन तारा बन जाएगा। फिर वह लगातार गुरुत्वीय बलों के उच्च दाब के कारण सिकुड़ जाएगा। चन्द्रशेखर सीमा के सूत्रीकरण ने, न्यूट्रॉन तारों और कृष्ण विवरों (ब्लैक होल्स्) की खोज की दिशा आसान की। द्रव्यमान के अनुसार तारों की तीन अवस्थाएं श्वेत वामन, न्यूट्रॉन तारा और कृष्ण विवर हो सकती हैं।

चन्द्रशेखर सीमा की खोज के अलावा, सुब्रह्मण्यन् द्वारा किए गए मुख्य कार्यों में तारकीय गतिशीलता, ब्राउनी गति सिद्धांत (1938–1943); विकिरण स्थानान्तरण के सिद्धांत, तारकीय वायुमंडल के सिद्धांत, हाइड्रोजन ऋणात्मक आयन के क्वांटम सिद्धांत और ग्रहीय वायुमंडल सिद्धांत, प्रदीप्ति का सिद्धांत और सूर्य प्रकाश के ध्रुवीकरण संबंधी सिद्धांत (1943–1950); द्रवगति विज्ञान और द्रव चुम्बकीय स्थायित्व, रेले बेनर्ड संवहन (1952–1961) साम्यावस्था और दीर्घ वृत्तजीय पिंडों की स्थिरता, आंशिकी रूप से नार्मन आर. लेबोविट्ज के साथ किए कार्य (1961–1968); आपेक्षिकता (सापेक्षता) का व्यापक सिद्धांत और आपेक्षिकीय खगोलभौतिकी (1962–1971); और कृष्ण विवरों का गणितीय सिद्धांत (1974–1983) आदि शामिल हैं।

सुब्रह्मण्यन् चन्द्रशेखर को सन् 1983 में (संयुक्त रूप से नाभिकीय खगोलभौतिकविद् डब्ल्यू. ए. फॉवलर के साथ) नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनकी मृत्यु 21 अगस्त 1995 को हुई।

4. डा. हरगोविंद खुराना

हरगोविंद खुराना का जन्म 9 जनवरी, 1922 को पंजाब के एक छोटे से गांव रायपुर (अब पाकिस्तान में है) में हुआ था। वह पांच भाई–बहनों में सबसे छोटे थे। उनके पिता पटवारी थे उस समय ब्रिटिश भारत में वह कृषि कराधान क्लर्क के रूप में कार्य करते थे।

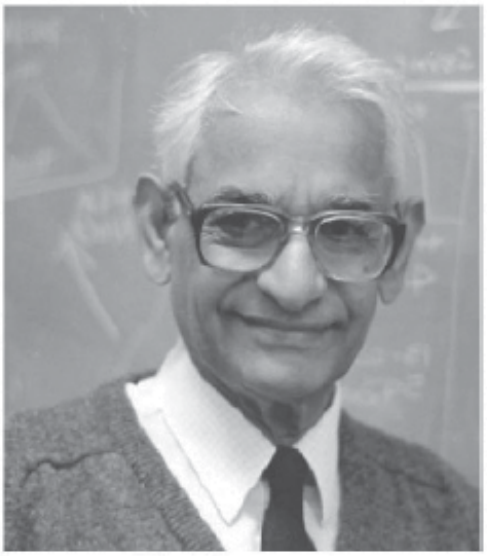

खुराना की आरंभिक शिक्षा घर पर ही हुई थी। बाद में उन्होंने मुल्तान के डीएवी हाई स्कूल में प्रवेश लिया। उन्होंने 1943 में लाहौर स्थित पंजाब विश्वविद्यालय से विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उसके बाद सन् 1945 से उन्होंने स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने अपने पी–एच.डी. कार्य के लिए यूनिवर्सिटी ऑफ लिवरपूल को चुना और सन् 1948 में वहां से पी–एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने स्विट्जरलैंड के फेडरल इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी से पोस्टडॉक्टरेट शोध कार्य किया, जहां उनकी मुलाकात एस्थर सिब्लर से हुई जो बाद में उनकी पत्नी बनीं। बाद में उन्होंने वेंकुवर में ब्रिटिश कोलंबिया अनुसंधान परिषद् में नौकरी की जहां कार्य करते हुए उन्होंने प्रोटीनों और न्यूक्लिक अम्लों पर कार्य किया, जो उनका विज्ञान जगत में प्रमुख योगदान है।

खुराना ने सन् 1960 में विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय में कार्य किया और बाद के दस वर्ष उन्होंने मैसाचुसेट्स इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी में कार्य करते हुए बिताए।

डा. खुराना को मार्शल वारेन नीरेनबर्ग तथा रॉबर्ट विलियम होली के साथ सन् 1968 में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। यह पुरस्कार उन्हें संयुक्त रूप से किए गए आनुवंशिक कूट की व्याख्या तथा प्रोटीन संश्लेषण में इसके प्रकर्य' कार्य हेतु प्रदान किया गया था। मृत्यु पर्यंत उन्होंने एमआईटी में जीवविज्ञान और रसायनविज्ञान के एल्फ्रेड पी. सीलन प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। भारत सरकार ने उन्हें सम्मानित करते हुए सन् 1969 में पद्म विभूषण से सम्मानित किया।

उन्हें चिकित्सा सम्मान के लिए अल्बर्ट लश्कर सम्मान, नेशनल मेडल फॉर साइंस, एलीस आइसलैंड मेडल ऑफ ऑनर आदि अनेक प्रख्यात सम्मानों से सम्मानित किया गया था। इन सबके बावजूद वह जीवनभर सहज बन कर प्रचार की चकाचौंध से दूर रहे।

नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद लिखी अपनी टिप्पणी में डा. खुराना ने लिखा थाः ''निर्धन होने के बावजूद मेरे पिता अपने बच्चों की शिक्षा के लिए समर्पित थे और जिस गांव में लगभग 100 लोग बसते थे, उसमें हमारा परिवार व्यवहारतः एकमात्र साक्षर परिवार था।'' अपने पिता के पद्चिन्हों पर चलते हुए डा. खुराना ने आधी सदी के दौरान हजारों विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की। वह अपनी अगली परियोजना और प्रयोग में और अधिक रुचि से कार्य करते और इसी से उनकी प्रसिद्धि बढ़ती गयी। वह पंजाब के एक छोटे से गांव के एक गरीब परिवार में जन्में थे लेकिन उनकी बुद्धिमत्ता और कार्यों ने उन्हें विज्ञान के क्षेत्र में अमर बना दिया। 9 नवंबर, 2011 को डा. हर गोविंद खुराना की कांकॉर्ड मैसाचुसेट्स में मृत्यु हुई।

5- oSdVjkeu jkeÑ".ku

वेंकटरामन रामकृष्णन का जन्म सन् 1952 में कुड्डालोर जिले के एक छोटे से गांव चिदंबरम में हुआ था। उनके अभिभावक सी.वी. रामकृष्णन और राजालक्ष्मी गुजरात में बड़ौदा की महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय में जैव रसायन के व्याख्याता थे। वेंकी, नाम से प्रसिद्ध वेंकटरामन ने बड़ौदा के कान्वेंट ऑफ जीजस एंड मैरी स्कूल से विद्यालयीन शिक्षा पूरी की। फिर वह भौतिक विज्ञान में उच्च अध्ययन के लिए अमेरिका चले गए। वहां उन्होंने अपना विषय बदलकर कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में जीवविज्ञान का अध्ययन किया।

फिर वह कैंब्रिज की एमआरसी लेबोरेट्रीज़ ऑफ मॉलिक्युलर बायोलॉजी में कार्य करने चले गए। यहां उन्होंने राइबोसोम की संरचना और उसकी जटिल कार्यप्रणाली को समझा जिसके कारण उन्हें सन् 2009 में टॉमस ई. स्टेट्ज यू.एस.ए. और अडा ई. योनथ, इजराइल के साथ संयुक्त रूप से रसायन का नोबेल पुरस्कार संयुक्त रूप से प्रदान किया। वह नोबेल पुरस्कार पाने वाले भारतीय मूल के चौथे वैज्ञानिक थे इनसे पहले सर सी. वी. रमन, हर गोविंद खुराना और सुब्रह्मण्यन् चन्द्रशेखर को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका था।

वेंकटरामन रामकृष्णन ने अपना कैरियर येल विश्वविद्यालय में पोस्ट–डॉक्टरेट फैलो के रूप में पीटर मूरे के साथ राइबोसोम पर अनुसंधान कार्य करते हुए आरंभ किया। अपने शोध कार्य को पूर्ण करने के बाद उन्होंने अमेरिका के लगभग 50 विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक पद के लिए आवेदन किया। लेकिन वह असफल रहे। इसके परिणामस्वरूप, रामकृष्णन ने सन् 1983 से लेकर 1995 तक ब्रोकेवुन नेशनल लेबोलेट्री में राइबोसोम पर अपना कार्य जारी रखा। सन् 1995 में उन्हें यूथ युनिवर्सीटी से जैवरसायन विज्ञान के प्रोफेसर पद का प्रस्ताव मिला। उन्होंने लगभग चार वर्षों तक वहां काम किया और फिर इंग्लैंड जाकर वहां मेडिकल रिसर्च कांउसिल लेबोरेट्री ऑफ मॉलिक्यूलर बायोलॉजी में कार्य आरंभ किया। यहां पर उन्होंने राइबोसोम पर व्यापक शोध कार्य किया।

सन् 1999 में उन्होंने अपने साथियों के साथ राइबोसोम के 30S उपघटक के 5.5 ''ऐंगस्ट्राम'' संकल्पना संरचना को प्रकाशित किया। उसके बाद के वर्षों में वेंकटरामन ने राइबोसोम के 30S उपघटक की पूर्ण संरचना को प्रस्तुत किया और संरचनात्मक जीवविज्ञान के क्षेत्र में सनसनी फैला दी।

वेंकटरामन को कैंब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज और रॉयल सोसायटी से छात्रवृत्ति मिली। वह अमेरिका की नेशनल एकेदमी ऑफ साइंसेज़ के मानद सदस्य हैं। चिकित्सा में उनके योगदान के लिए उन्हें सन् 2007 में लुविस–ज्यवूंट सम्मान से सम्मानित किया। सन् 2008 में उन्हें ब्रिटिश बॉयोकेमेस्ट्री सोसायटी द्वारा हैथेले मेडल प्रदान किया गया।

सन् 2010 में विज्ञान के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए, उन्हें भारत के दूसरे सबसे बड़े नागरिक सम्मान पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया।

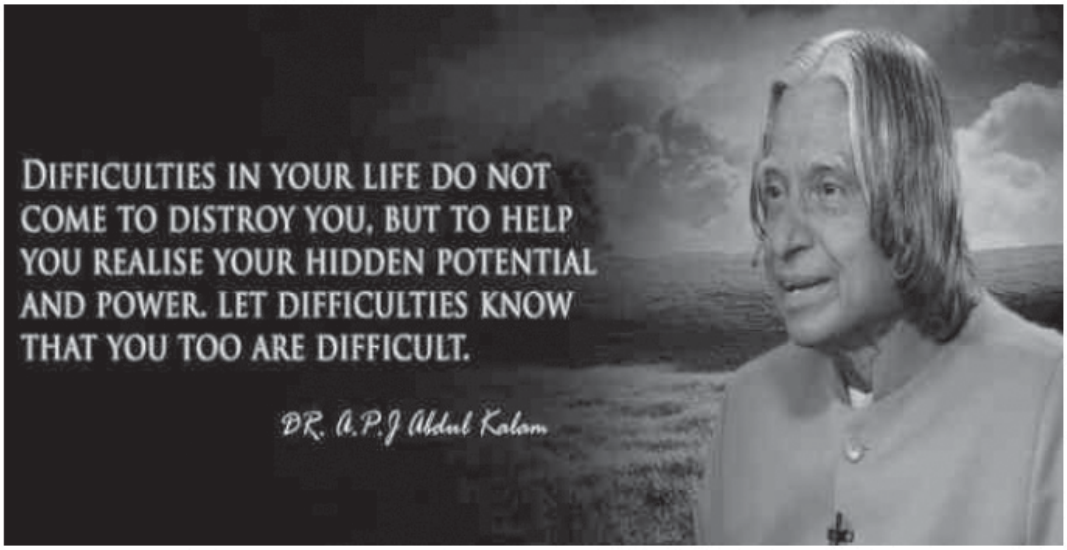

***

1. सुश्रुत

लगभग 2500 वर्ष पूर्व भारत में सुश्रुत नामक एक प्रसिद्ध शल्यचिकित्सक हुए है। सुश्रुत का शल्यचिकित्सा में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्हें शल्यचिकित्सा का जनक भी कहा जाता है। उनके द्वारा लिखित पुस्तक सुश्रुत संहिता में 300 से भी अधिक प्रकार की शल्यचिकित्सा विधियों, 120 शल्यचिकित्सा उपकरणों एवं शल्यचिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया है। गंगा नदी के तट पर रहकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और बाद में वहीं अपनी चिकित्सा कला का अभ्यास किया। यह स्थान आज उत्तर भारत में वाराणसी के नाम से जाना जाता है।

सुश्रुत के महत्वपूर्ण योगदानों में चीरा लगाने की तकनीकों का प्रदर्शन, दूसरे शरीर का निष्कर्षण, क्षारीय और तापीय दाग़ना, दांत निकालना एवं काटना आदि शामिल हैं। इसके अलावा उन्होंने पुरःस्थ (प्रॉस्टैट) ग्रंथि को निकालने एवं मूत्रमार्ग, हर्निया शल्यचिकित्सा, सीज़ेरियन आदि की भी व्याख्या की। उन्होंने हड्डियों के खिसकने के छह प्रकारों, अस्थिभंग के 12 प्रकारों की व्याख्या करने के साथ ही हड्डियों का वर्गीकरण करते हुए चोट के समय उनकी प्रतिक्रिया को भी समझाया। उन्होंने आँखो की बीमारियों के विभिन्न प्रकार के 76 संकेतों, लक्षणों, रोग के निदान, चिकित्सा/शल्य चिकित्सा एवं हस्तक्षेत्र का उल्लेख करते हुए मोतियाबिंद शल्यचिकित्सा के बारे में भी लिखा है। उन्होंने सिलाई के पदार्थ के रूप में चींटी के सिरों का उपयोग करते हुए आंतों की सिलाई की विधि का वर्णन भी किया। उन्होंने शल्यचिकित्सा के दौरान होने वाले दर्द को कम करने के लिए शराब के उपयोग को भी आरंभ किया।

सुश्रुत ने जानवरों, वनस्पतियों और खनिजों से निर्मित लगभग 650 प्रकार की दवाओं का उल्लेख किया है। सुश्रुत संहिता के अन्य अध्यायों में नवजात एवं गर्भवती महिलाओं के स्वास्थ्य संबंधी सुझावों पर जोर दिया गया है। सुश्रुत ने विष और विषाक्तत्ता के वर्गीकरण के साथ ही विषाक्तता के लक्षणों सहित उसकी प्राथमिक

एवं दीर्घकालिक उपचार संबंधी विधियों पर विस्तृत जानकारी दी है। सुश्रुत संहिता को बाद में अरबी और फारसी में अनुवादित किया गया। इन अनुवादों ने भारत से बाहर आयुर्वेद के ज्ञान का प्रसार किया।

2. भास्करा–द्वितीय

भास्करा–द्वितीय को भास्कराचार्य के नाम से जाना जाता है। इनका जन्म सन् 1114 में वर्तमान कर्नाटक राज्य के बीजापुर या विज्ज्यडाविड नामक स्थान पर हुआ था। विद्वानों के परिवार में जन्में भास्कराचार्य ने अपने पिता महेश्वर से गणित सीखा। वह 12वीं सदी के अग्रणी गणितज्ञ थे। उन्होंने अपना सबसे पहला कार्य दशमलव संख्या पद्धति के व्यवस्थित उपयोग पर किया। वह उज्जैन स्थित खगोलीय बेधशाला के प्रमुख भी रहे जो उस समय मध्य भारत का प्रमुख गणितीय केन्द्र था।

उनका मुख्य कार्य *सिद्धांत शिरोमणि* नामक ग्रंथ में संग्रहित है जिसके चार मुख्य खंड है जिनका नाम लीलावती (या पारीगणित), बीजगणित, गणिताध्याय एवं गोलाध्याय हैं जिनमें क्रमशः अंकगणित, बीजगणित, ग्रहों की गणित और वृत्त (गोला) आदि का वर्णन है। भास्कराचार्य को मुख्यतया उनके द्वारा प्रतिपादित अवकल गणित के सिद्धांतों एवं खगोल विज्ञान एवं गणना आदि में इन सिद्धांतों के उपयोग के लिए जाना जाता है। अवकल एवं समाकल गणित का श्रेय जहां न्यूटन एवं लैब्नीज़ को दिया जाता है वहीं इस बात के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है कि अवकल गणित के सिद्धांत संबंधी कुछ अग्रणी कार्य भास्कराचार्य द्वारा किया गया था। ऐसा माना जाता है कि शायद उनके द्वारा ही पहली बार अवकल और समाकल गणना प्रमेयों की व्युत्पत्ति की गयी थी।

उन्होंने आधुनिक गणितीय खोज की व्युत्पत्ति की थी जिसके अनुसार किसी संख्या में शून्य से भाग देने पर भागफल का मान अनन्त होगा। उन्होंने सातवीं सदी के विद्वान ब्रह्मगुप्त द्वारा प्रस्तुत मॉडलों का उपयोग करके अनेक खगोलीय राशियों को शुद्धता से परिभाषित किया था। उदाहरण के लिए, उन्होंने गणना करके बताया कि पृथ्वी को सूर्य की कक्षा में एक चक्कर लगाने के लिए 365.2588 दिनों की आवश्यकता होती है। आधुनिक स्वीकार्य गणना के अनुसार यह समय 365.2563 का है यानी उनकी गणना में केवल 3.5 मिनट का फर्क था। भास्कराचार्य ने 'करणकुतूहल' नामक पुस्तक लिखी जिसमें गणितीय गणनाएं थी जिनका उपयोग आज भी पंचांगों (कैलंडरों) के निर्माण में किया जाता है। भास्करा–द्वितीय एक प्रसिद्ध ज्योतिषी थे एवं उन्होंने अपने आरंभिक कार्य को लीलावती नामक ग्रंथ का रूप दिया। लीलावती उनकी पुत्री एवं प्रख्यात गणितज्ञ थी।

3. आर्यभट्ट

आर्यभट्ट प्राचीन भारत के सबसे प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं खगोलविज्ञानी थे। आर्यभट्ट की जीवनअवधि 476 से 550 ईसा की मानी जाती है, हालांकि उनके जन्म स्थान को लेकर संशय है। अनेक लोगों के अनुसार उनका जन्म वर्तमान बिहार के पटना में हुआ था जो उस समय मगध के अंतर्गत पाटिलीपुत्र नामक स्थान था। कुछ लोगों ने उनका जन्म केरल में माना है। ऐसे लोगों का मानना है कि वह गुप्त शासन के दौरान मगध में रहे थे।

उनकी प्रमुख रचना आर्यभट्टीय थी जिसके मुख्य विषय गणित और खगोलविज्ञान थे। इसी ग्रंथ से आर्यभट्ट को सबसे अधिक प्रसिद्ध मिली। आर्यभट्टीय के गणितज्ञ खंड में अंकगणित, बीजगणित और त्रिकोणमितीय विषय शामिल थे। इसमें अपरिमेय भिन्न, द्विघात समीकरण, घातांक श्रेणियों का योग और द्विज्या की तालिका आदि शामिल हैं। आर्यभट्ट को कम से कम तीन खगोलीय ग्रंथों और कुछ मुक्त पदों का रचियता माना जाता है। आर्यभट्ट प्रखर प्रतिभाशाली थे उनकी बुद्धिमत्ता एवं कार्य वर्तमान में भी अनेक गणितज्ञों को प्रभावित करते हैं। यूनान और अरब ने उनके कार्यों को अपनी भाषाओं में अनुवादित कर अपनी आवश्यकतानुसार विकसित किया।

उन्होंने लिखा कि यदि 100 में 4 को जोड़ा जाए और फिर उसे आठ से गुणा किया जाए फिर उसमें 62,000 जोड़ कर प्राप्त संख्या को 20,000 से भाग दिया जाए तो जो उत्तर मिलेगा वह किसी 20,000 व्यास वाले वृत्त की परिधि के बराबर होगा। उनकी गणना 3.1416 के बराबर थी जो पाई के वास्तविक मान (3.14159) के सन्निकट थी। उन्होंने ही प्रसिद्ध सूत्र $(a + b)^2 = a^2 + b^2 + 2ab$ दिया था।

उनका दूसरा ग्रंथ आर्य–सिद्वांत था जिसमें खगोलविज्ञान संबंधी गणनाओं का जिक्र था जिसके साक्ष्य आर्यभट्ट के समकालीनों वाराहमिहिर और उनके बाद के प्रख्यात गणितज्ञों एवं टिप्पणीकारों जिनमें ब्रह्मगुप्त एवं भास्कराचार्य–प्रथम शामिल हैं, की रचनाओं में मिलते हैं। इसमें अनेक खगोलीय उपकरणों जैसे नोमोन (शंकु यन्त्र), एक परछाई यन्त्र (छाया–यन्त्र), संभवतः कोण मापी उपकरण, अर्धवृत्ताकार और वृत्ताकार (धनुर–यन्त्र एवं चक्र–यन्त्र), एक बेलनाकार छड़ी यस्ती–यन्त्र, एक छत्र–आकर का उपकरण जिसे छत्र–यन्त्र कहा गया है और कम से कम दो प्रकार की जल घड़ियाँ–धनुषाकार और बेलनाकार आदि शामिल हैं।

आर्यभट्ट जानते थे कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। उन्होंने नौ ग्रहों की स्थिति को उनके घूर्णन के आधार पर दर्शाते हुए सूर्य से उनकी स्थिति को परिभाषित किया। उन्होंने सूर्य एवं चंद्र ग्रहण की व्याख्या करने के अलावा दिन और रात की अवधि को समझाया। इसके अलावा उन्होंने एक वर्ष की यथार्थ अवधि की गणना कर बताया कि एक वर्ष में 365 दिन होते हैं। आर्यभट्ट ने इस बात का भी पता लगाया कि पृथ्वी की परिधि 24,835 मील

(39,968 कि.मी.) है। आधुनिक समय में वैज्ञानिकों ने गणना करके इसका मान 24,900 मील (40,072 कि. मी.) बताया है। आर्यभट्ट ने सूर्य एवं चंद्र ग्रहण की वैज्ञानिक व्याख्या की। भारत ने उनके सम्मान में पहले उपग्रह को नाम आर्यभट्ट रखा।

4. जगदीश चन्द्र बोस

जगदीश चन्द्र बोस का जन्म 30 नवंबर, 1858 में मेमनसिंह गांव में (अब बांग्लादेश में) हुआ था। उनके पिता भगवान चंद्र बोस डिप्टी–मैजिस्ट्रेट थे। बोस ने अपनी आरंभिक शिक्षा गांव के विद्यालय में मातृभाषा में प्राप्त की थी। 11 वर्ष की उम्र में उन्हें कोलकाता भेजा गया जहां उन्होंने अंग्रेजी सीखी और फिर सेंट जेवियर स्कूल और कॉलेज से अपनी पढ़ाई पूरी थी। वह एक प्रखर विद्यार्थी थे। उन्होंने सन् 1879 में भौतिक विज्ञान से स्नातक की परीक्षा पास की।

सन् 1880 में बोस इंग्लैंड गए। वहां उन्होंने लंदन विश्वविद्यालय में एक वर्ष तक चिकित्साविज्ञान की पढ़ाई की लेकिन स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह वहां से कैंब्रिज चले गए जहां उन्हें छात्रवृत्ति मिली और वहां क्राइस्ट महाविद्यालय से प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन किया। सन् 1885 में वह विदेश से बीएससी और प्राकृतिक विज्ञान में ट्राइपोस (कैंब्रिज में अध्ययन के लिए एक विशेष पाठ्यक्रम) की उपाधि प्राप्त कर वापस स्वदेश लौट आए।

स्वदेश लौटकर उन्हें कोलकाता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान के सहायक प्राध्यापक का पद मिला लेकिन वहां उनका वेतन, अंग्रेज शिक्षकों की तुलना में एक तिहाई था। इस असमानता के विरोध में उन्होंने प्राध्यापक पद तो स्वीकार कर लिया लेकिन वेतन लेने से मना कर दिया। तीन साल बाद कॉलेज ने उनकी मांग मान ली और जगदीश चन्द्र बोस को उनके पद ग्रहण करने के समय से तब तक का पूरा वेतन दिया गया। शिक्षक के रूप में, जगदीश चन्द्र बोस बहुत प्रसिद्ध हुए और वो वैज्ञानिक प्रदर्शनों के द्वारा विद्यार्थियों की रुचि अध्ययन में जाग्रत करते थे। प्रेसिडेंसी कॉलेज में बोस के कुछ छात्र जैसे सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा आगे चलकर काफी प्रसिद्ध हुए।

सन् 1894 में, जगदीश चन्द्र बोस ने अपने को पूर्णतः शोध कार्य में लगाने का मन बनाया। उन्होंने प्रेसिडेंसी कॉलेज में बाथरूम से लगे एक छोटे से बाड़े को प्रयोगशाला में बदल दिया। उन्होंने परावर्तन, अपवर्तन और ध्रुवीकरण से संबंधित प्रयोग किए। उन्हें वायरलेस (बेतार) टेलीग्राफी का अविष्कारक कहना गलत नहीं होगा। सन् 1895 में, गुल्येल्मो मार्कोनी ने अपनी खोज को पेटेंट कराया उसके एक वर्ष बाद बोस ने उसकी कार्यप्रणाली को सार्वजनिक प्रदर्शित किया था। जगदीश चन्द्र बोस ने बाद में भौतिक विज्ञान से धातुओं और फिर वनस्पतियों का अध्ययन किया। उन्होंने सबसे पहले यह साबित किया कि

वनस्पतियां भी संवेदनशील होती हैं। उन्होंने एक ऐसे उपकरण का विकास किया जो वनस्पतियों की संवेदना को महसूस करता था। आचार्य जगदीश चन्द्र बोस ने विज्ञान के क्षेत्र में बहुमूल्य सेवा की।

उनके कार्य को भारत में उस समय सराहा गया जब पश्चिमी जगत ने बोस के कार्यों को महत्व दिया। उन्होंने कलकत्ता में बोस संस्थान की नींव रखी, जो मुख्यतया वनस्पतियों के अध्ययन को समर्पित है। आज यह संस्थान अन्य क्षेत्रों में भी शोध कार्य कर रहा है। 23 नवंबर, 1937 को जगदीश चन्द्र बोस की मृत्यु हो गयी।

5. आचार्य प्रफुल्ल चंद रे

प्रफुल्ल चंद्र रे का जन्म 2 अगस्त, 1861 को वर्तमान बांग्लादेश में स्थित खुलना जिले में हुआ था। उनके पिता हरिश्चंद्र रे स्थानीय जमींदार थे। नौ साल की उम्र तक प्रफुल्ल चंद्र रे ने अपनी आरंभिक पढ़ाई गांव के विद्यालय में की। सन् 1870 में उनका परिवार कलकत्ता बस गया और रे और उनके बड़े भाई को हेयर विद्यालय में भर्ती कराया गया। जब रे चौथी कक्षा में थे तब उन्हें पेचिश की बीमारी लग गयी जिसके कारण कई सालों तक उन्हें अपनी पढ़ाई रोक कर गांव के पेतृक घर लौटना पड़ा। हालांकि, उन्होंने अपना समय साहित्य अध्ययन में लगाया।

भारत में रसायनिक शोध कार्य के अग्रणी रहे प्रफुल्ल चंद्र रे ने एडिनबर्ग विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करके 1889 में प्रेसिडेंसी कॉलेज में रसायन के व्याख्याता के रूप में कार्य आरंभ किया। प्रसिद्ध फ्रांसीसी रसायनतज्ञ ब्रर्थलेट की मदद से उन्होंने आयुर्वेद संबंधी सराहनीय कार्य किया। सन् 1902 में उनकी पुस्तक हिंदू रसायनविज्ञान का प्रकाशन हुआ। सन् 1892 में, उन्होंने बंगाल केमिकल्स एण्ड फार्मास्युटिकल्स कंपनी की स्थापना की, यह भारत की पहली फार्मास्युटिकल्स कंपनी थी, जो उनके मार्गदर्शन में लगातार आगे बढ़ती गयी। उन्होंने अनेक अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान कांग्रेसों और संगोष्ठियों में भारतीय विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि के रूप में भागीदारी की। सन् 1920 में उन्हें भारतीय विज्ञान कांग्रेस संघ का अध्यक्ष चुना गया।

प्रफुल्ल चंद्र रे का मुख्य उद्देश्य विज्ञान की विभिन्न विधाओं का उपयोग करके आम जनता का उत्थान करना था। उन्होंने विज्ञान संबंधी विषयों पर अनेक लेख लिखे जिनका प्रकाशन उस समय की प्रमुख शोधपत्रिकाओं में हुआ। सन् 1922 में उत्तरी बंगाल में आए अकाल के समय उन्होंने एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपना योगदान दिया था। उन्होंने खादी का समर्थन करते हुए अनेक कुटिर उद्योगों की स्थापना की। बुद्धिवाद में दृढ़ विश्वास रखते हुए उन्होंने अनेक सामाजिक रीति–रिवाजों जैसे अस्पृश्यता आदि की घोर निंदा की। उन्होंने मृत्यु–पर्यंत सामाजिक सुधार के कार्यों को जारी रखा।

6. बीरबल साहनी

एक प्रसिद्ध पुरा–वनस्पति विज्ञानी बीरबल साहनी का जन्म 14 नवंबर, 1891 को शाहपुर जिले में हुआ

था जो अब पाकिस्तान में है। वह ईश्वरी देवी और लाला रुचि राम साहनी की तीसरी संतान थे। सरकारी कॉलेज, लाहौर और पंजाब विश्वविद्यालय से अध्ययन करने के बाद वह कैंब्रिज गए जहां के इम्मैनुएल कॉलेज से सन् 1914 में उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की। शिक्षा पूरी करने के बाद बीरबल साहनी भारत लौट आए। स्वदेश आने पर उन्होंने कुछ सालों तक वाराणासी के बनारस हिंदू विश्वविद्यालय तथा पंजाब विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्राध्यापक पद पर कार्य किया। सन् 1920 में उनकी विवाह सावित्री सुरी से हुआ, उन्होंने भी उनके कार्यों में रुचि ली और उनके कार्यों में उनका साथ दिया।

बीरबल साहनी ने भारतीय उपमहाद्वीप के जीवाश्मों का अध्ययन किया। वे लखनऊ में बीरबल साहनी पुराविज्ञान संस्थान के संस्थापक थे। पुराविज्ञान ऐसा विषय है जिसमें वनस्पतिविज्ञान और भूविज्ञान का ज्ञान आवश्यक होता है। बीरबल साहनी पहले ऐसे वनस्पति वैज्ञानिक थे जिन्होंने भारतीय गोंडवाना क्षेत्र की वनस्पतियों का बड़े पैमाने पर अध्ययन किया। साहनी ने बिहार की राजमहल पहाड़ी पर उत्खनन किया जिसे प्राचीन वनस्पतियों के जीवाश्मों का संपदा घर माना जाता था। यहां उन्होंने वनस्पतियों की कई नयी प्रजातियों को खोजा।

बीरबल साहनी वनस्पति–वैज्ञानिक के अलावा एक भू–वैज्ञानिक भी थे। सरल उपकरणों और प्राचीन वनस्पतियों संबंधी अपने विलक्षण ज्ञान से वह पुरानी चट्टानों की आयु का अनुमान लगा लेते थे। उन्होंने लोगों को बताया कि नमक रेंज जो अब पाकिस्तान में है, वह लगभग 4 से 6 करोड़ साल पुरानी है। उन्होंने मध्य प्रदेश के डेक्कन जाल को टर्शरी पीरियड के समय का यानी करीबन 6.2 करोड़ वर्ष पुराना बताया था। इससे भी अधिक साहनी की पुरातत्व में गहरी रुचि थी। सन् 1936 में उनके अनुसंधानों ने रोहतक में सिक्कों के सांचों को खोजा गया। प्राचीन भारत में सिक्कों की ढलाई तकनीक के अध्ययन के लिए उन्हें भारत की सिक्का सोसायटी ने नेल्सन राइट पदक से सम्मानित किया था।

एक अध्यापक होने के कारण साहनी ने वनस्पति विज्ञान विभाग में शिक्षण के स्तर को ऊंचा उठाया। विश्व में पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान अपनी तरह का पहला संस्थान है। 10 अप्रैल, 1949 की रात को साहनी की मौत हो गयी। उनके संस्थान की आधारशीला रखे जाने के एक सप्ताह से भी कम समय में उनकी मौत हो गयी थी। उनकी पत्नी ने उनके द्वारा आरंभ किए गए कार्य को पूर्ण किया। आज इस संस्थान को बीरबल साहनी पुराविज्ञान संस्थान के नाम से जाना जाता है।

7. पी.सी. महालनोबिस

प्रसिद्ध भारतीय सांख्यिकीविद् एवं वैज्ञानिक महालनोबिस उनके द्वारा विकसित नमूनों (मॉडलों) की नयी विधियों के लिए प्रसिद्ध हैं। सांख्यिकी के क्षेत्र में उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान उनके द्वारा

विकसित 'महालनोबिस दूरी' है। इसके अलावा उन्होंने मानवमिति (ऐन्थ्रपामिट्री) के क्षेत्र में अग्रणी कार्य किया एवं भारतीय सांख्यिकीय संस्थान की आधारशीला भी रखी।

महालनोबिस का परिवार मुख्यतया बांग्लादेश के बिक्रमपुर गांव से संबंध रखता था। उनका बचपन सामजिक सुधारक और बुद्धिजीवियों के मध्य में गुजरा। उनकी आरंभिक शिक्षा कलकत्ता के ब्रह्मों ब्वायज स्कूल में हुई। फिर उन्होंने स्वयं प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लेकर भौतिक विज्ञान को विशिष्ट विषय लेकर वहां से स्नातक की डिग्री प्राप्त की। सन् 1913 में, महालनोबिस उच्च अध्ययन के लिए इंग्लैंड गए और वहां श्रीनिवास रामानुजन् जो भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे के संपर्क में आए। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद, वह भारत लौट आए और प्रेसिडेंसी कॉलेज के प्रिंसिपल द्वारा आमंत्रित करने पर भौतिक विज्ञान की कक्षाओं में अध्यापन करने लगे। जल्द ही उन्होंने सांख्यिकी के महत्व को समझा और यह महसूस किया कि मौसम विज्ञान और मानव विज्ञान संबंधित समस्याओं को हल करने में सांख्यिकी का उपयोग काफी महत्वपूर्ण साबित हो सकता है। उनके अनेक सहयोगियों ने भी सांख्यिकी में रुचि ली जिसके परिणामस्वरूप प्रेसिडेंसी कॉलेज में एक छोटी सी सांख्यिकी प्रयोगशाला विकसित होने लगी जहां पर प्रेमाथा नाथ बनर्जी, निखिल रंजन सेन और सर आर. एन. मुखर्जी जैसे विद्वान सभी चर्चाओं में हिस्सा लेते थे। ये बैठकें और चर्चाएं भारतीय सांख्यिकीय संस्थान की औपचारिक स्थापना का आधार साबित हुईं और 28 अप्रैल, 1932 को इसका पंजीकरण किया गया। आरंभ में यह संस्थान प्रेसिडेंसी कॉलेज के भौतिकी विभाग में था लेकिन बाद में इसका विस्तार किया गया।

महालनोबिस का सबसे बड़ा योगदान विशाल स्तर पर नमूनों सर्वेक्षण से संबंधित था। वह पायलट सर्वेक्षण और नमूना विधियों की संकल्पनाकर्ताओं में अग्रणी थे। उन्होंने फसल की पैदावार मापने की विधि का विकास किया। अपने जीवन के अंतिम चरण में, महालनोबिस भारत के योजना आयोग के सदस्य चुने गए। योजना आयोग के सदस्य के रूप में उन्होंने अपने कार्यकाल में पंचवर्षीय योजनाओं में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना में महालनोबिस मॉडल को अपनाया गया जिसके कारण भारत में तीव्र औद्योगिकीकरण को मदद मिली। इसके अलावा उन्होंने भारत की जनगणना कार्यप्रणाली संबंधी त्रुटियों को भी सुधारा। सांख्यिकी के अलावा महालनोबिस के मन में संस्कृति के प्रति गहरी रुचि थी। उन्होंने महान कवि रविन्द्रनाथ टैगार के सचिव (विशेषकर विदेश भ्रमण के दौरान) के रूप में कार्य किया। उन्होंने विश्व भारती विश्वविद्यालय में भी अपनी सेवाएं दीं। महालनोबिस को विज्ञान के क्षेत्र में उनके अमूल्य योगदान के लिए देश के दूसरे सबसे बड़े नागरिक सम्मान पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया था।

28 जून, 1972 को 78 वर्ष की आयु में महालनोबिस की मृत्यु हुई। लंबी उम्र तक भी वो अपने शोध कार्यों में भागीदारी करते और अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह अच्छी तरह से करते रहे। सन् 2006 में भारत सरकार ने महालनोबिस की जन्मतिथि यानी 29 जून को राष्ट्रीय सांख्यिकी दिवस के रूप में मनाने का ऐलान किया।

8. मेघनाद साहा

रॉयल सोसायटी के फैलो रहे मेघनाद साहा एक प्रसिद्ध खगोलभौतिकविद् थे जिन्हें उनके द्वारा विकसित साहा समीकरण के लिए जाना जाता है। इस समीकरण का उपयोग तारों की रासायनिक और भौतिकीय परिस्थतियों की व्याख्या करने के लिए किया जाता है। मेघनाद साहा का जन्म 6 अक्टूबर, 1893 को बांग्लादेश में ढाका के पास सेओराताली गांव में हुआ था। उनके पिता जगन्नाथ साहा की गांव में किराने की छोटी सी दुकान थी। उनके पिता की वित्तीय हालत अच्छी नहीं थी। वह अपने गांव की प्राथमिक विद्यालय में पढ़ते और खाली समय में अपने घर की दुकान पर बैठते। माध्यमिक शिक्षा के लिए उन्हें गांव से सात मील दूर जाना पड़ता था। वह अपने घर के पास वाले डॉक्टर के घर में रहते और उनके घर का काम करते जिससे उनका खर्च निकलता। ढाका माध्यमिक विद्यालय परीक्षा में वो प्रथम स्थान पर आए और इस प्रकार उन्हें ढाका कॉलेजिएट विद्यालय में प्रवेश मिला।

साहा ने गणित को मुख्य विषय लेकर प्रेसिडेंसी कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की और पूरे कलकत्ता विश्वविद्यालय में दूसरा स्थान प्राप्त किया, पहले स्थान पर सत्येन्द्र नाथ बोस थे, जो बाद में भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए। सन् 1915 में एस. एन. बोस और मेघनाद दोनों ने एम. एस–सी. परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। मेघनाद ने अनुप्रयुक्त गणित में प्रवेश लिया और बोस ने शुद्ध गणित में। मेघनाद ने भौतिक विज्ञान और अनुप्रयुक्त गणित में शोध करने का निश्चय किया। कॉलेज के दौरान वह स्वतंत्रता संग्राम में शामिल रहे और उस समय के महान नेताओं जैसे सुभाष चन्द्र बोस और बाघा जतिन के संपर्क में रहे।

मेघनाद साहा ने खगोलभौतिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। दो वर्षों की विदेश यात्रा के दौरान साहा लंदन और जर्मनी रहे। सन् 1927 में मेघनाद साहा को लंदन की रॉयल सोसायटी के फेलो चुना गया। उन्होंने सन् 1923 में इलाहबाद विश्वविद्यालय में नौकरी आरंभ की जहां वह अगले पंद्रह सालों तक रहे। इस दौरान उन्होंने खगोलभौतिकी में कार्य करते हुए काफी नाम कमाया और वह सन् 1925 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस संघ के भौतिक विज्ञान अनुभाग के अध्यक्ष बन गए।

सन् 1938 में वह कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्ति किए गए। वहां उन्होंने कई

नए कार्य आरंभ किए जिनमें भौतिक विज्ञान के एम.एस–सी. पाठ्यक्रम में नाभिकीय भौतिकी को शामिल करना और नाभिकीय विज्ञान में एम.एस–सी. के बाद पाठ्यक्रम को आरंभ करना एवं देश में अपनी तरह का पहला सायक्लोट्रॉन के निर्माण संबंधी पहल करना शाामिल था।

साहा ने सौर विकिरणों के भाप और दबाव मापने के लिए उपकरणों का विकास और अनेक वैज्ञानिक संस्थानों जैसे इलाहबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी विभाग और कलकत्ता में नाभिकीय भौतिकी संस्थान के गठन में मदद की। उन्होंने *साइंस एंड कल्चर* नाम जर्नल का आरंभ किया और मृत्युपर्यंत उसके संपादक भी रहे। वह अनेक वैज्ञानिक समुदायों जैसे नेशनल अकादमी ऑफ साइंस (1930), द इंडियन फिजिक्स सोसायटी (1934), इंडियन इंस्ट्टियूट ऑफ साइंस (1935) और द इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टिवेशन ऑफ साइंस (1944) आदि के आयोजनों में अग्रणी भूमिका निभाते थे। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए सन् 1943 में कोलकाता में साहा इंस्ट्टियूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स की स्थापना की गयी।

एक महान वैज्ञानिक होने के साथ ही वह संस्थान निर्माता भी थे। उन्होंने सन् 1935 में कलकत्ता में इंडियन साइंस न्यूज़ एसोशिएशन एवं सन् 1950 में इंस्ट्टियूट ऑफ साइंस (1935) इंस्ट्टियूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स की स्थापना की थी। दामोदर घाटी परियोजना की मौलिक योजना को तैयार करने का श्रेय भी उन्हें दिया जाता है।

एक वैज्ञानिक होने के अलावा वह संसद सदस्य के रूप में भी चुने गए थे। भारतीय कैलेंडर सुधार संबंधी उनका कार्य काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ। वह सन् 1952 में भारत सरकार द्वारा गठित की गयी कैलेंडर सुधार समिति के अध्यक्ष थे। साहा के प्रयत्नों से ही समिति का निर्माण हो सकता था। समिति का लक्ष्य, पूर्णतया वैज्ञानिक आधार पर एक परिशुद्ध कैलेंडर का निर्माण करना था। यह कार्य काफी जटिल था लेकिन उन्होंने इसे सफलतापूर्वक पूर्ण किया। 16 फरवरी, 1956 को साहा की मृत्यु हो गयी थी।

9. सत्येन्द्र नाथ बोस

हाल ही में 'हिग्स बोसान' जो 'गॉड पार्टिकल' के नाम से प्रसिद्ध है, से संबंधित होने के कारण सत्येन्द्र नाथ बोस का नाम चर्चा में रहा। सत्येन्द्र नाथ बोस एक अद्वितीय भारतीय भौतिकविद् थे। उन्हें क्वांटम भौतिकी में किए गए उनके कार्यों के लिए जाना जाता है। 'बोस–आइंस्टीन सिद्धांत' के कारण भी उन्हें प्रसिद्ध मिली। अणु के एक प्रकार के कण का नामकरण उनके नाम पर 'बोसान' रखा गया।

सत्येन्द्र नाथ बोस का जन्म 1 जनवरी, 1894 को कोलकाता में हुआ था। उनके पिता सुरेन्द्र नाथ बोस ईस्ट इंडिया रेलवे के इंजीनियरिंग

विभाग में कार्यरत थे। सात भाई–बहनों में सत्येन्द्र नाथ बोस सबसे बड़े थे। सत्येन्द्र ने कोलकाता से हिंदू हाई स्कूल से अपनी आरंभिक पढ़ाई पूरी की। वह प्रखर विद्यार्थी थे। उन्होंने प्रेसिडेंसी कॉलेज कोलकाता से गणित विषय का अध्ययन किया। वह विश्वविद्यालय में स्नातक और स्नातकोत्तर की परीक्षाओं में प्रथम स्थान पर रहे थे। सन् 1916 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आधुनिक गणित एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान में एम.एस–सी. की कक्षाएं आरंभ की। एस. एन. बोस ने सन् 1916 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से व्याख्याता के रूप में अपना कैरियर शुरू किया था। वहां उन्होंने सन् 1916 से 1921 तक अपनी सेवाएं दी। उन्होंने सन् 1921 में, नवस्थापित ढाका विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में रीडर की नौकरी कर ली। सन् 1924 में, 'प्लैंकस गेसेट्स लिफ्ट क्वांटेस हाइपोथिसिस' विषय पर सत्येन्द्र नाथ बोस का एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख को अल्बर्ट आइंस्टीन को भेजा गया। आइंस्टीन ने इसकी सराहना करते हुए स्वयं इसका अनुवाद जर्मन भाषा में करके इसे जर्मनी के प्रसिद्ध पत्रिका 'जेइट्स स्क्रिफ्ट फॉर फिज़िक' में प्रकाशन के लिए भेजा। उस क्षेत्र में कार्य करने वाले वैज्ञानिकों द्वारा बोस की इस अवधारणा को काफी सराहा गया। बाद में उनकी यह अवधारणा वैज्ञानिकों के मध्य 'बोस–आइंस्टीन सिद्धात' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सन् 1926 में, सत्येन्द्र नाथ बोस ढाका विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनाए गए। यद्यपि उस समय तक उनकी डॉक्टरेट पूरी नहीं हुई थी। उन्हें आइंस्टीन की सिफारिश पर प्रोफेसर नियुक्त किया गया था। सन् 1929 में सत्येन्द्र नाथ बोस को भारतीय विज्ञान कांग्रेस के भौतिकी सत्र का अध्यक्ष बनाया गया। सन् 1944 में उन्हें भारतीय विज्ञान कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। सन् 1945 में, उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के खैरा प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया गया। वह कलकत्ता विश्वविद्यालय से 1956 में सेवानिवृत्त हुए। विश्वविद्यालय ने उनकी सेवानिवृत्ति पर उन्हें सम्मानित करते हुए उन्हें एमेरिटस प्रोफेसर नियुक्त किया। बाद में वह विश्वभारती विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त किए गए। सन् 1958 में उन्हें लंदन स्थित रॉयल सोसायटी के फैलो के रूप में चुना गया।

सत्येन्द्र नाथ बोस की असाधारण उपलब्धियों को देखते हुए भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया। 4 फरवरी, 1974 को कोलकाता में उनकी मृत्यु हुई।

10. सलिम अली

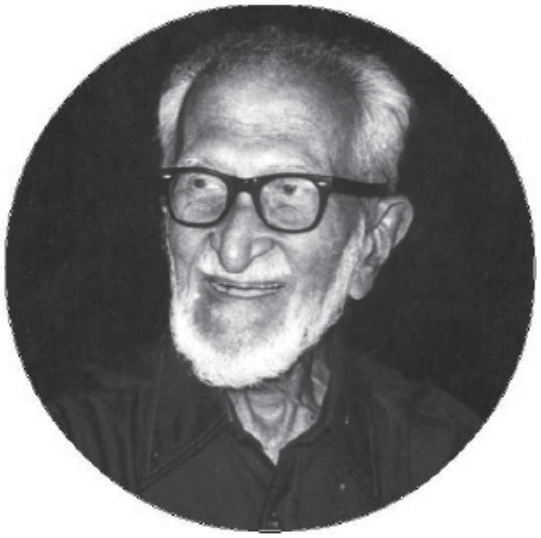

डॉ. सालिम मुईनुद्दीन अब्दुल अली या डॉ. सलिम अली का नाम पक्षियों का पर्याय है। इस प्रसिद्ध पक्षी विज्ञानी और प्रकृतिवादी का जन्म 12 नवम्बर 1896 को मुम्बई में हुआ था। उन्हें 'भारत के बर्डमैन' के रूप में जाना जाता है। वह भारत में व्यवस्थित रूप से पक्षी सर्वेक्षण करने वालों में अग्रणी व्यक्ति थे। उनके शोध कार्यों ने भारत में पक्षी–विज्ञान के विकास में काफी मदद की।

एक महान दूरदर्शी होने के कारण इन्होने पक्षियों को गंभीर विषय बनाया जबकि पहले कुछ लोगो के लिए पक्षी केवल मनोरंजन मात्र

थे। बहुत ही कम उम्र में अनाथ हो गए सलिम अली को उनके मामाजी अमिरुद्दीन तैयाबाजी ने पाला और उन्हें प्रकृति से परिचित कराया।

दस वर्ष के होने पर सलिम ने एक दिन आकाश में एक पक्षी को उड़ते हुए देखा और फिर उसे गोली लगने से गिरते हुए देखा। उनको दिल दहल गया और उन्होंने दौड़ कर उसे उठा लिया। वह एक गौरेया थी, लेकिन उसके गले पर गहरा पीला रंग था। जिज्ञासा से उन्होंने उस गौरेया को अपने मामा को बताया और उस पक्षी के बारे में ओर अधिक जानना चाहा। उत्तर देने में असमर्थ उनके मामा उन्हें, बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी (बीएनएचएस) के सचिव डब्ल्यू.एस. मिलार्ड के पास ले गए। इस किशोर बच्चे में पक्षियों के प्रति असामान्य रुचि देखते हुए मिलार्ड ने उन्हें अनेक पक्षियों को दिखाया। जब सलिम बचपन में देखे गए पक्षी के समान ही पक्षी को देखते तो वह काफी उत्सुक हो जाते। इसके बाद तो किशोर सलिम उस स्थान पर लगातार आते रहे।

विश्वविद्यालय की औपचारिक डिग्री न होने के कारण जूलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के एक पक्षी विज्ञानी पद को हासिल करने में सलिम अली असमर्थ रहे। हालांकि 1926 में, मुंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में शुरू हुए एक प्राकृतिक इतिहास खंड में गाइड के रूप में व्याख्याता नियुक्त होने के बाद उन्होंने आगे पढ़ाई करने का फैसला किया। सन् 1928 में उन्होंने जर्मनी के लिए अध्ययन अवकाश लेने का फैसला किया, जहां वो बर्लिन विश्वविद्यालय के प्राणिशास्त्र संग्रहालय में प्रोफेसर इरविन स्ट्रेसमैन के अधीन कार्य करते हुए प्रशिक्षित हुए। 1930 में भारत लौटने पर उन्होंने पाया कि गाइड व्याख्याता के पद को पैसों की कमी के कारण समाप्त कर दिया गया है। और एक उपयुक्त नौकरी खोजने में असमर्थ होने के कारण सालिम अली और उनकी पत्नी तहमीना मुम्बई के निकट किहिम नामक एक तटीय गांव में स्थानांतरित हुए। यहां पर उन्हें बया या वीवर पक्षी को नजदीक से अध्ययन करने का अवसर मिला। सन् 1930 में सलिम अली द्वारा उनके अनुसंधान और अध्ययन के प्रकाशनों ने उन्हें 'पक्षी विज्ञान' में पहचान दिलाई।

सलिम अली बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी (बीएनएचएस) की उत्तरजीविता सुनिश्चित करने में बहुत प्रभावशाली रहे। उन्होंने वित्तीय सहायता के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू को पत्र लिख कर 200 साल पुराने संस्थान को किसी तरह बचा पाए। अली के हस्तक्षेप से भरतपुर पक्षी अभयारण्य और साइलेंट वैली नेशनल पार्क को बचाया जा सका। 1990 में, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा कोयंबटूर के अनाईकट्टी में सलिम अली पक्षी–विज्ञान एवं प्रकृति विज्ञान (अली सेंटर फॉर ओर्निथोलोजी एंड नेचुरल हिस्टरी–एसएसीओएन) को स्थापित किया गया। सन् 1976 में उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया। 20 जून, 1987 को 90 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी।

11. पंचानन महेश्वरी

प्रसिद्ध जीवविज्ञानी पंचानन महेश्वरी का जन्म सन् 1904 में राजस्थान के जयपुर में हुआ था। अपने कॉलेज के दिनों में, वह एक अमेरिकी मिशनरी शिक्षक डा. डब्ल्यू डुडजीओन से काफी प्रभावित हुए। माहेश्वरी ने वनस्पतियों में टेस्ट ट्यूब निषेचन तकनीक का आविष्कार किया। उस समय तक किसी ने भी ऐसा नहीं सोचा था कि फूलदार वनस्पतियों को टेस्ट–ट्यूब द्वारा निषेचित किया जा सकता है। माहेश्वरी की तकनीक ने वनस्पति भ्रूण विज्ञान में नए रास्ते खोल दिए और आर्थिक एवं प्रयुक्त वनस्पति विज्ञान में इसके उपयोगों को नयी दिशा दी। अनेक ऐसे फूलदार पौधों में जिनमें प्राकृतिक रूप से

क्रॉस–प्रजनन नहीं होता था अब उनमें क्रॉस–प्रजनन संभव हो सका था। महेश्वरी के शिक्षक ने एक बार कहा था कि यदि उनके छात्र आगे बढ़ते हैं तो उन्हें बहुत अधिक संतुष्टि होगी। इन शब्दों ने पंचानन को प्रोत्साहित किया और वह हमेशा सोचते रहते कि वह ऐसा क्या करें जिससे उनके शिक्षक का सपना पूरा हो सके। वह बदले में अपने शिक्षक के लिए क्या करें, इस बात ने पंचानन को प्रोत्साहित किया। डुडजीओन ने उन्हें जवाब दिया था कि ''जो मैंने आपके लिए किया है वही आप अपने विद्यार्थियों के लिए कीजिए''। उनके शिक्षक के सुझाव के अनुसार, उन्होंने अनेक विद्यार्थियों को प्रशिक्षित किया। उन्होंने इलाहबाद विश्वविद्यालय से वनस्पति विज्ञान में स्नातकोत्तर की पढ़ाई पूरी की।

उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान विभाग के अंतर्गत भ्रूण विज्ञान और ऊतक संवर्धन (टिशू कल्चर) के क्षेत्र में अनुसंधान के एक महत्वपूर्ण केंद्र की स्थापना की। इस विभाग को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा वनस्पति विज्ञान में उन्नत अध्ययन के केंद्र के रूप में मान्यता दी गई थी।

माहेश्वरी की पत्नी अपने घरेलू कार्यों के अलावा उनके लिए स्लाइड्स की तैयारी कर उनके कार्यों में योगदान देती थी। 1950 में वापस उन्होंने भ्रूण विज्ञान, शरीर विज्ञान और आनुवंशिकी के बीच संबंध स्थापित किया। उन्होंने अपरिपक्व भ्रूण के कृत्रिम संवर्धन के काम को आरंभ करने की आवश्यकता पर बल दिया। इन दिनों विज्ञान के क्षेत्र में ऊतक संवर्धन (टिशू कल्चर) मील का एक पत्थर बन गया है। उनके द्वारा किए गए टेस्ट ट्यूब निषेचन और इंट्रा–डिम्बग्रंथि परागण ने दुनिया भर में उन्हें प्रसिद्धि दिलाई। उन्होंने सन् 1950 में एक अंतर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका 'सायटोमॉर्फालोजी' और एक लोकप्रिय पत्रिका 'द बोटेनिका' को आरंभ किया। उन्होंने अपनी मृत्यु पर्यंत यानी मई 1966 तक 'सायटोमॉर्फालोजी' पत्रिका का संपादन किया। उन्हें रॉयल सोसाइटी ऑफ लंदन (एफआरएस), भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (इंसा) और कई अन्य उत्कृष्ट संस्थाओं द्वारा छात्रवृत्ति से सम्मानित किया गया। उन्होंने विद्यालयों में जीव विज्ञान शिक्षण के स्तर में सुधार के लिए पुस्तकें भी लिखी। सन् 1951 में, उन्होंने इंटरनेशनल सोसायटी ऑफ प्लांट मार्फालोजिस्टस् की स्थापना की।

12. बी.पी. पाल

प्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक, डॉ. बी.पी. पाल का जन्म 26 मई, 1906 को पंजाब में हुआ था। उनका परिवार बाद में बर्मा (वर्तमान में म्यांमार) चला गया जो उस समय एक ब्रिटिश कॉलोनी थी, वहां उन्होंनें एक चिकित्सा अधिकारी के रूप में काम किया। पाल ने बर्मा के म्यामों के सेंट माइकल स्कूल में अध्ययन किया। एक मेधावी छात्र होने के अलावा पाल को बागवानी और पेंटिंग का भी शौक था।

1929 में पाल ने रंगून विश्वविद्यालय से वनस्पति विज्ञान में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। जहां

विश्वविद्यालय में विज्ञान की सभी शाखाओं में शीर्ष स्थान प्राप्त करने के लिए उन्हें मैथ्यू हंटर पुरस्कार प्रदान किया गया। उन्हें एक छात्रवृत्ति प्रदान की गई जिसके द्वारा उन्हें कैंब्रिज में अपनी स्नातकोत्तर शिक्षा को आगे बढ़ाने के लिए अनुमति दी गयी। डॉ. पाल ने प्रतिष्ठित प्लांट ब्रीडिंग संस्थान में सर फ्रैंक एंग्लेडू के साथ मिलकर गेहूं में संकर वैधता पर काम किया। इससे गेहूं संकर के वाणिज्यिक दोहन के आधार पर हरित क्रांति के डिजाइन को आधार मिला।

मार्च 1933 में, डा. पाल को बर्मा के कृषि विभाग में सहायक चावल अनुसंधान अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया। उसी वर्ष अक्टूबर में, वह बिहार के पूसा में चले गए, जहां वह इम्पीरियल कृषि अनुसंधान संस्थान में दूसरे आर्थिक वनस्पति वैज्ञानिक बने। सन् 1947 में इस संस्थान का नाम बदलकर भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (आईएआरआई) रखा गया। आईएआरआई पहले बिहार के पूसा में स्थित था। लेकिन एक तेज भूकंप ने इसकी मुख्य ईमारत को काफी नुकसान पहुंचाया जिससे सन् 1936 में इस संस्थान को नई दिल्ली में स्थानांतरित कर दिया गया। डा. पाल को नई दिल्ली स्थित आईएआरआई संस्थान का पहला भारतीय निदेशक बनाया गया। सन् 1950 में इसका नामकरण पूसा किया गया। वह मई 1965 तक इस पद पर रहे। उसके बाद वह भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) के पहले महानिदेशक बने। उन्होंने मई 1965 से जनवरी 1972 तक इस पद पर कार्य किया। इसी समयावधि में अत्याधिक सफलता के साथ हरित क्रांति को आरंभ किया गया था।

डॉ. पाल का प्रमुख योगदान हरित क्रांति के वैज्ञानिक पहलुओं के अंतर्गत गेहूं आनुवंशिकी और प्रजनन के क्षेत्र में था। उन्होंने कम पैदावार के लिए गेहूं में लगने वाले रतुआ रोग को जिम्मेदार माना। उन्होंने व्यवस्थित प्रजनन विधि द्वारा रतुआ रोग से प्रतिरोधी फसलों की किस्मों को विकसित किया। उस समय भारत एक गंभीर खाद्य संकट से जूझ रहा था और दुनिया में इस देश को भूखे लोगों के देश के रूप में जाना जाता था। डॉ. पाल ने भारत की वैश्विक छवि को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसके कारण जल्द ही भारत खाद्यान्न का निर्यातक बन गया।

डॉ. पाल गुलाब प्रजनक भी थे और उन्होंने गुलाब की अनेक किस्मों का विकास किया। वह रोज सोसायटी और बोगेनिविला सोसायटी के संस्थापक अध्यक्ष थे। इसके अलावा उन्होंने इंडियन सोसायटी ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग की भी स्थापना की। वह 25 वर्षों तक इंडियन जर्नल ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग के संपादक रहे। सन् 1972 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। उन्हें पद्म विभूषण सहित कई पुरस्कार प्रदान किए गए थे। सन् 1959 में उन्हें पद्मश्री से, सन् 1968 में पद्मभूषण से और सन् 1987 में पद्मविभूषण से सम्मानित किया गया। 14 सितंबर, 1989 में उनकी मृत्यु हो गयी।

13. होमी जहांगीर भाभा

भारतीय परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के जनक होमी जहांगीर भाभा का जन्म 30 अक्टूबर, 1909 को मुम्बई में एक संपन्न पारसी परिवार में हुआ था। उनकी आरंभिक शिक्षा मुम्बई के कैथेड्रल ग्रामर स्कूल में संपन्न हुई। फिर उन्होंने एल्फिंसन कॉलेज में प्रवेश लिया। उनके पिता और फूफा दोराबजी टाटा द्वारा प्रोत्साहित करने पर भाभा कैंब्रिज विश्वविद्यालय चले गए। भाभा वहां मे मैकेनिकल इंजीनियरिंग की उपाधि प्राप्त करके स्वदेश लौटे। स्वदेश आकर उन्होंने जमशेदपुर स्थित टाटा मिलस् में धातु वैज्ञानिक के रूप में कार्य आरंभ किया।

भाभा को अपने परिवार से देश की सेवा करने और सीखने की ललक विरासत में मिली थी। उनके परिवार का (माता और पिता दोनों का) टाटा परिवार से गहरा रिश्ता था। बीसवीं सदी के आरंभिक समय में, टाटा परिवार धातुकर्म, ऊर्जा उत्पादन एवं विज्ञान तथा इंजीनियरिंग में अग्रणी भूमिका निभा रहा था। यह परिवार महात्मा गांधी एवं अन्य राष्ट्रवादी नेताओं से प्रेरित होकर राष्ट्रभक्ति की प्रबल भावना से ओतप्रोत थे। इस परिवार की विभिन्न कलाओं विशेषकर शास्त्रीय संगीत और चित्रकारी में गहरी रुचि थी, जिसके कारण भाभा में अनोखी सौंदर्य बोध संवेदना का विकास हुआ, जिसकी झलक हमें उनके द्वारा उनके जीवन में किए गए सभी रचनात्मक कार्यों पर दिखाई देती है।

इंजीनियरिंग पूर्ण करने के बाद भाभा की रुचि **भौतिक विज्ञान** में हुई। 1930–1939 की अवधि के दौरान भाभा ने ब्रह्मंड (कॉस्मिक) किरणों पर असाधारण मौलिक शोध कार्य किए। उनके इन कार्यों के कारण मात्र 31 वर्ष की युवा उम्र में उन्हें रॉयल सोसायटी से छात्रवृत्ति मिली। भाभा सन् 1939 में भारत लौट आए और द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने के कारण भारत में ही रह गए। उन्हें बेंगलोर स्थित भारतीय विज्ञान कांग्रेस में कार्य करने के लिए चुना गया, जहां विज्ञान के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार पाने वाले भारत के पहले वैज्ञानिक सर सी.वी. रामन, भौतिकी विभाग के प्रमुख थे। आरंभ में रीडर के पद पर नियुक्त किए गए भाभा को शीघ्र ही ब्रह्मांड किरणों पर शोध के लिए प्रोफसेर पद प्रदान किया गया।

परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम में भाभा के प्रखर नेतृत्व की अवधि करीबन 22 वर्षों यानी सन् 1944 से 1966 के दौरान रही। दिसंबर 1945 में भाभा मौलिक अनुसंधान संस्थान की स्थापना भाभा के पेतृक घर की 'केनिल्ग्रोथ' नामक ईमारत में की गयी। अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी की बैठक में भाग लेने के लिए वियना जाते हुए आल्प्स पर्वत की मोंट ब्लॉट चोटी पर 24 जनवरी, 1966 को हुई विमान दुर्घटना में भाभा की असमय मृत्यु हो गई।

14. विक्रम अम्बालाल साराभाई

भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम के जनक के रूप में विख्यात विक्रम अम्बालाल साराभाई का जन्म 12 अगस्त, 1919 को इलाहबाद में एक संपन्न परिवार में हुआ था। उनके जीवन के आरंभिक दिनों में निजी विद्यालय में अध्ययन के दौरान वो वैज्ञानिक प्रवृत्ति की ओर आकर्षित हुए। अपने कस्बे के गुजराती कॉलेज में अध्ययन के बाद सन् 1937 में वह इंग्लैंड गए और वहां कैंब्रिज के सेंट जॉन कॉलेज में भौतिक विज्ञान का अध्ययन किया। वहां साराभाई ने ट्राईपोस किया। सन् 1940 के दौरान विश्व, दूसरे विश्व युद्ध का सामना कर रहा था। इसीलिए साराभाई भारत लौट आए और बेंगलोर में भारतीय विज्ञान संस्थान में शोधार्थी के रूप में जुड़ गए जहां उन्होंने कॉस्मिक विकिरणों पर अध्ययन किया।

बेंगलोर में नोबेल पुरस्कार विजेता सर सी.वी.रमन के मार्गनिर्देशन में उन्होंने बेंगलोर, पुणे और हिमालय में बेधशालाओं को स्थापित किया। जल्द ही विश्व युद्ध खत्म हो गया और वह वापिस थोड़े समय

के लिए इंग्लैंड चले गए। कैंब्रिज विश्वविद्यालय में किए गए उनके महत्वपूर्ण कार्य के लिए साराभाई को पी–एच.डी. की उपाधि प्रदान की गयी।

उनका वास्तविक कार्य 1947 में एक मौसमविज्ञानी के. आर. रामनाथन् के साथ आरंभ हुआ जिन्होंने उन्हें अहमदाबाद में भौतिकी अनुसंधान प्रयोगशाला की स्थापना में मदद की। आरंभ में अहमदाबाद के विज्ञान शिक्षा संस्थान की सोसायटी में इस संस्था ने कार्य किया। कॉस्मिक विकिरणों और वायुमंडलीय भौतिकी के विश्लेषण और अध्ययन पर वैज्ञानिकों को दो समूहों को बांटा गया। साराभाई के समूह ने अनुभव किया कि मौसम का विश्लेषण ही कॉस्मिक विकिरणों में होने वाले विचलनों के लिए पर्याप्त नहीं है, उन्होंने इसे सौर गतिविधियों से संबंधित माना। सौर भौतिकी की दिशा में उन्होंने अग्रणी कार्य किया।

इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए साराभाई को जल्द ही भारतीय वैज्ञानिक एवं अंतरिक्ष अनुसंधान परिषद् और परमाणु विभाग से वित्तीय सहायता मिली। लेकिन यह सहयोग इतना ही नहीं था। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष–1957 में भारतीय कार्यक्रमों के आयोजन को कहा। उस समय, सोवियत संघ ने स्पूतनिक–प्रथम को प्रक्षेपित किया था। भारत इस दिशा में पीछे नहीं रहना चाहता था इसीलिए साराभाई की अध्यक्षता में भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम की राष्ट्रीय समिति की स्थापना की गयी।

इस दूरदर्शी वैज्ञानिक ने परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष होमी भाभा के सहयोग से, 21 नवंबर, 1963 को अरब सागर के तट पर थुम्बा में देश के प्रथम उपग्रह प्रक्षेपण केन्द्र की स्थापना की। भाभा की असमय मौत के बाद सन् 1966 में साराभाई को भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संस्थान की स्थापना साराभाई की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है। 31 दिसम्बर, 1971 को 52 वर्ष की उम्र में सोते हुए उनकी मृत्यु हो गयी थी।

अंतरिक्ष विज्ञान में किए गए उनके अग्रणी अनुसंधान कार्यों के सम्मान में डा. विक्रम साराभाई को सन् 1962 में शांतिस्वरूप भटनागर मेडल एवं 1966 में पद्म भूषण सम्मान से सम्मानित किया गया था।

15. वर्गीस कुरियन

भारत के दुग्ध–पुरुष के नाम से जाने वाले वर्गीस कुरियन का जन्म 26 नवंबर, 1921 को केरल के कालीकट में हुआ था। उनके पिता कोचीन में सिविल सर्जन थे। उन्होंने सन् 1940 में मद्रास के लोयला कॉलेज से भौतिक विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त कर मद्रास यूनिवर्सिटी से बीई (मेकेनिकल) की उपाधि प्राप्त की। डिग्री प्राप्त करने के बाद उन्होंने जमशेदपुर स्थित टाटा स्टील टेक्नीकल इंस्टिट्यूट में नौकरी की, जहां से उन्होंने 1946 में स्नातक किया था। उसके बाद सरकारी छात्रवृत्ति पर अमेरिका की मिशीगन राज्य विश्वविद्यालय से उन्होंने धातुविज्ञान इंजीनियरिंग में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की।

उन्हें ऑपरेशन फ्लड के संस्थापक के रूप में जाना जाता है जो विश्व में डेयरी विकास का सबसे

बड़ा कार्यक्रम था। कुरियन ने सहकारी डेयरी विकास के आनंद मॉडल का आधुनिकीकरण किया, जिसके कारण भारत में श्वेत क्रांति की आधारशिला रखी गयी।

इससे विश्व में भारत सबसे अधिक दूध उत्पादन करने वाला देश बना। वह गुजरात सहकारी दूध संगठन के संस्थापक थे। इस सहकारी संगठन द्वारा अमूल ब्रांड के खाद्य को प्रबंधित किया गया। किसानों के प्रत्यक्ष नियंत्रण वाला अमूल, वैश्विक मानकों पर खरा उतरने वाला भारतीय ब्रांड बना, जिसने लाखों भारतीयों को जोड़ा। कुरियन और उनके समुह ने गाय के दुध की बजाय भैंस के दुध को संघनित करके उससे दूध पावडर बनाने की विधि को खोजने में अग्रणी भूमिका निभाई। आज देश के विभिन्न हिस्सों में 1000 से अधिक शहरों में दूध के गुणवत्ता युक्त पैक उपलब्ध हैं। और इस दूध का पाश्चुरीकरण, पैकिंग और ब्रांड सीधे किसानों के नियंत्रण में है। उन्हें सन् 1999 को पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया। सितंबर, 2012 में उनकी मृत्यु हो गयी।

16. एम.एस. स्वामिनाथन

मनकोम्बू सम्बमिनाथन स्वामीनाथन का जन्म 7 अगस्त, 1925 को तमिलनाडू के कुंभकोणम में हुआ था। स्वामीनाथन भारत में हरित क्रांति को अमलीजामा पहनाने वाले प्रमुख व्यक्ति थे। हरित क्रांति द्वारा उच्च उत्पादक फसलों की खेती ने क्रांति ला दी थी। प्रसद्धि पत्रिका टाईम द्वारा 20वीं सदी के प्रमुख 20 एशियाई व्यक्तियों की सूची में उनके नाम को शामिल किया गया है। वह एम. एस. स्वामीनाथन शोध संस्थान के संस्थापक एवं अध्यक्ष हैं।

उनके चिकित्सक पिता गांधीजी के उत्कट अनुयायी थे जिसके कारण उनमें राष्ट्रभक्ति की भावना का विकास हुआ। महाविद्यालय में उन्होंने अन्य आकर्षक पाठ्यक्रमों की बजाय कृषि का अध्ययन किया। वह लगभग एक पोलिस ऑफिसर बन गए थे, लेकिन सन् 1949 में उन्हें नीदरलैंड में आनुवंशिकी में अनुसंधान के लिए छात्रवृत्ति मिले, जिससे उनके कैरियर में महत्वपूर्ण मोड़ आया। उन्होंने कैंब्रिज विश्वविद्यालय से आनुवंशिकी में पी–एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर विस्कोन्सिन विश्वविद्यालय में आगे पढ़ाई जारी रखी। फिर उन्होंने प्रोफेसर के पद पर कार्य किया। वह इस

बात को लेकर स्पष्ट थे कि उन्हें देश के खाद्यात्र की कमी को पूरा करने के लिए देश लौटकर कार्य करना है।

उन्होंने विश्व से भुखमरी को दूर करने का सपना देखा और धारणीय विकास का समर्थन किया। उन्होंने जैवविविधता संरक्षण पर भी जोर दिया। स्वामीनाथन ने अमेरिका के कृषि वैज्ञानिक नार्मन बोरलॉग द्वारा मैक्सिको में विकसित प्रजातियों के बीजों को भारत लाकर उनका स्थानीय प्रजातियों से क्रास प्रजनन कराया जिसके कारण गेहूं की ऐसी प्रजाति प्राप्त हुई, जिनसे परंपरागत प्रजातियों से अधिक उपज होती थी। उसी समय अंतर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान (आईआरआरआई) के वैज्ञानिकों ने ऐसा ही विलक्षण कार्य चावल के साथ किया।

एशिया की आसन्न त्रासदी अब आशा के नए युग में बदल गयी जिसके कारण 1980 और 1990 के दशक के दौरान एशिया के आर्थिक विकास का रास्ता साफ हो गया। आज भारत में एक वर्ष के दौरान लगभग 70 लाख टन गेहूं होते हैं, जबकि साठ के दशक में गेहूं का उत्पादन प्रतिवर्ष 12 लाख टन था। सन् 1972 से 1979 तक वह भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक भी रहे थे। वह 1979 से 1980 के दौरान वह केन्द्रीय कृषि मंत्री बनाए गए। वो आईआरआरआई के महानिदेशक भी रहे और बाद में प्रकृति और प्राकृतिक संरक्षण के अंतर्राष्ट्रीय संघ के अध्यक्ष भी बने। सन् 1971 में सामुदायिक नेतृत्व के लिए उन्हें रेमन मेग्सेस पुरस्कार प्रदान किए। सन् 2013 में उन्हें इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता सम्मान से सम्मानित किया गया।

17. एम. के. वेणु बप्पू

मनाली कालात वेणु बप्पू का जन्म 10 अगस्त, 1927 को हैदराबाद स्थित निजामिया वेधशाला में कार्यरत खगोलविद् के यहां हुआ। भारतीय ताराभौतिकी संस्थान के निर्माण के पीछे एम. के. वेणु बप्पू ही थे। स्वतंत्र भारत में प्रकाशीय खगोल विज्ञान के पुनरुद्धार के पीछे ये ही महान खगोलविद् थे। मद्रास विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त करने के प्रश्चात बप्पू को प्रख्यात हावार्ड विश्वविद्यालय से छात्रवृत्ति मिली।

अध्ययन के कुछ ही दिनों के बाद, उन्होंने एक धूमकेतु को खोजा, जिसका नामकरण उनके बाद उनके सहयोगियों बार्क जे. बॉक और गार्डन न्यूर्किक ने उनके सम्मान में बप्पू–बॉक–न्यूर्किक रखा गया। उन्होंने 1952 में अपनी पी–एच.डी. पूरी की और पोलेमर विश्वविद्यालय में नौकरी आरंभ की। उन्होंने और कॉलिन विल्सन ने एक विशेष प्रकार के तारे की दीप्ति के बारे में एक महत्वपूर्ण अवलोकन किया और इसे बप्पू–विल्सन प्रभाव के रूप में जाना जाने लगा। वह सन् 1953 में भारत लौट आए और नैनीताल में उत्तर प्रदेश राज्य वेधशाला के निर्माण में उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई। सन् 1960 में, उन्होंने

कोडाइकनाल वेधशाला के निदेशक के रूप में पदभार संभाला और फिर इसके आधुनिकीकरण में अहम योगदान दिया। उन्होंने तमिलनाडु के कावलूर में एक शक्तिशाली दूरबीन के साथ वेधशाला की स्थापना की।

प्रशांत खगोलिय संघ द्वारा सन् 1949 में उन्हें प्रख्यात डोन्हे धूमकेतु पदक से सम्मानित किया गया। सन् 1979 में उन्हें अंतर्राष्ट्रीय खगोलीय संघ के अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित किया गया था। उन्हें बेल्जियम विज्ञान अकादमी के विदेशी मानद फेलो के रूप में चुना गया था। इसके अलावा वह अमेरिकी खगोलीय संघ के मानद सदस्य भी रहे। आज बप्पू को आधुनिक भारतीय खगोलविज्ञान का जनक माना जाता है।

18. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

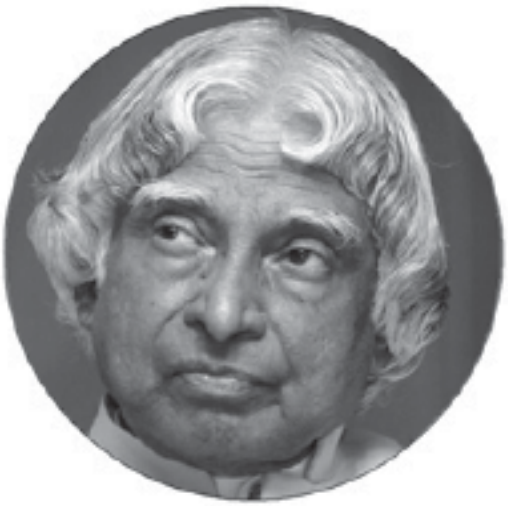

डा. अवुल पाकिर जेनुलब्दीन अब्दुल कलाम का जन्म 15 अक्टूबर, 1931 को तमिलनाडु के रामेश्वरम में हुआ था। अब्दुल कलाम विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। विश्व भर में मिसाईल पुरुष के नाम से विख्यात, डा. कलाम भारत के बहुत ही प्रसिद्ध राष्ट्रपति थे। वह भारत के ग्यारहवें राष्ट्रपति थे।

डा. कलाम को अपने अभिभावक से ईमानदारी और अनुशासन के गुण विरासत में मिले जिन्होंने पूरा जीवन उनकी मदद की। उन्होंने मद्रास तकनीकी विश्वविद्यालय से वैमानिकी इंजीनियरिंग की उपाधि प्राप्त की। राष्ट्रपति बनने से पहले, उन्होंने रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (डीआरडीओ) में वैमानिकी अभियंता के रूप में कार्य किया। कलाम के योगदानों में बैलेस्टिक मिसाइलों और अंतरिक्ष रॉकेट प्राद्योगिकी का विकास प्रमुख है। उन्होंने सन् 1998 में भारत द्वारा किए गए दूसरे परमाणु परिक्षण में संगठनात्मक, तकनीकी और राजनैतिक भूमिका का निर्वाह किया।

वह भारतीय प्रबंधन संस्थान (आईआईएम), अहमदाबाद एवं आईआईएम, इंदौर में विजिटिंग प्रोफेसर रहे। वह भारतीय अंतरिक्ष संस्थान, तिरुवनंतपुरम के कुलपति भी रहे। इसके अलावा वह अनेक संस्थानों से जुड़े रहे। डा. कलाम ने परियोजना निदेशक के तौर पर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हुए भारत के पहले स्वदेशी उपग्रह प्रक्षेपण वाहन (एसएलवी–तृतीय) को विकसित किया जिससे जुलाई 1980 में रोहिणी उपग्रह को पृथ्वी की कक्षा में सफलतापूर्वक स्थापित किया गया और इस प्रकार भारत को अंतरिक्ष क्लब का सदस्य बनाया गया। वह इसरो के प्रक्षेपण वाहन कार्यक्रम, विशेषकर पीएसएलवी के विन्यास के विकास के लिए भी जिम्मेदार रहे। डा. कलाम अग्नि और पृथ्वी मिसाइलों के विकास और संचालन से भी जुड़े रहे। उनकी पुस्तकों में विंग्स ऑफ फायर, इंडिया 2020, अ विज़न फॉर दी न्यू मिलेनियम, माई जर्नी एवं इग्नाइटेड मांडडः इनलीशिंग द पॉवर विदिन इंडिया प्रमुख हैं। इन पुस्तकों को अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवादित किया गया है।

डा. कलाम भारत के बहुत ही असाधारण वैज्ञानिकों में से एक थे। उन्हें 30 से भी अधिक विश्वविद्यालयों और संस्थाओं द्वारा मानद डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की गयी थी। उन्हें पद्म भूषण (1981), पद्म विभूषण (1990) और देश का सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न (1997) प्रदान किए गए। 27 जुलाई, 2015 को उनकी मृत्यु शिलांग में हुई।

19. सेम पित्रोडा

सेम पित्रोडा के नाम से विख्यात सत्यनारायण गंगाराम पित्रोडा का जन्म 4 मई, 1942 को ओडिशा के तिटलागढ़ में हुआ था। उनके अभिभावक मूलतः गुजराती थे जो गांधीवादी विचारधारा के समर्थक थे। इसलिए पित्रोडा को गांधी जी के विचारों को समझने के लिए गुजरात भेजा गया। उन्होंने वड़ोदरा के वल्लभ विद्यानगर स्कूल से गुजराती भाषा में अपनी आरंभिक शिक्षा पूरी की। इसके बाद उन्होंने महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान और इलेक्ट्रानिकी में स्नातकोत्तर की पढ़ाई पूर्ण की। इसके बाद वह अमेरिका चले गए और शिकागों में इलिनोइस संस्थान से इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की।

वह एक प्रौद्योगिकीविद्, प्रर्वतक, उद्यमी और नीतिनिर्माता हैं। वह जन सूचना बुनियादी ढांचा एवं नवाचार विषय में प्रधानमंत्री (डा. मनमोहन सिंह) के सलाहकार रहे हैं। उन्हें भारत के दूरसंचार क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार माना जाता है। सन् 1984 में, प्रधानमंत्री राजीव गांधी के प्रौद्योगिकी सलाहकार के रूप में, डॉ. पित्रोदा ने भारत में न केवल दूरसंचार क्रांति की शुरुआत की बल्कि दूरसंचार से संबंधित कई मिशनों के माध्यम से प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए समाज की विकास के लिए इसका उपयोग साक्षरता, डेयरी, पानी, टीकाकरण, तिलहन आदि क्षेत्रों में किया।

सेम पित्रोडा ने राष्ट्रीय ज्ञान आयोग के अध्यक्ष (2005–2008) के रूप में भी कार्य किया है। इस आयोग को भारत में ज्ञान आधारित संस्थानों और बुनियादी ढांचे में सुधार के लिए सीधे, प्रधानमंत्री के समक्ष नीति सिफारिशें प्रस्तुत करनी थीं। डॉ. पित्रोडा के पास करीब 100 प्रमुख प्रौद्योगिकी पेटेंट है। वह अनेक स्टार्ट–अप में शामिल रहे हैं। विश्व भर में उन्होंने अनेक व्याख्यान दिए हैं। वह सन् 1964 से उनकी पत्नी और दो बच्चों के साथ अधिकतर शिकागो स्थित इलिनोइस स्थान पर रहते हैं।

20. अनिल काकोडकर

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डा. अनिल काकोडकर का जन्म 11 नवंबर, 1943 को मध्यप्रदेश के बड़वानी में हुआ था। उनकी माता कमला काकोडकर और पिता पी. काकोदकर दोनों गांधीवादी थे। उन्होंने मुंबई में

अपनी स्कूली शिक्षा पूर्ण कर रुपारेल कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। सन् 1963 में काकोदडर ने मैकेनिकल इंजीनियरिंग में डिग्री प्राप्त करने के लिए बंबई विश्वविद्यालय के वीरमल जीजाबाई तकनीकी संस्थान में प्रवेश लिया। सन् 1964 में, अनिल काकोडकर ने भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र (बीएआरसी), मुंबई में नौकरी आरंभ की।

वह भारत सरकार के परमाणु ऊर्जा विभाग में सचिव और परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष भी रहे। भारत के परमाणु कार्यक्रम में अग्रणी भूमिका निभाने से पहले वह 1996 से 2000 की अवधि के दौरान ट्रांबे स्थित भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के निदेशक भी रहे थे।

भारत के शांतिपूर्ण परमाणु परीक्षणों के योजनानिर्माताओं के समूह में अनिल काकोडकर भी शामिल थे। इन परीक्षणों को सन् 1974 और 1998 के किया गया था। उन्होंने देश के दाबित भारी पानी रिएक्टर प्रौद्योगिकी के स्वदेशी विकास का भी नेतृत्व किया। अनिल काकोडकर ने कलपक्कम में दो रिएक्टरों और रावतभाटा में पहली इकाई के पुनर्सुधार में उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

वर्ष 1996 में अनिल काकोडकर बीएआरसी के निदेशक बने। होमी भाभा के बाद इस पद पर आसीन होने वाले वह सबसे कम उम्र के निदेशक थे। सन् 2000 से 2009 तक डॉ. अनिल काकोडकर ने भारत के परमाणु ऊर्जा आयोग का नेतृत्व किया। डा. अनिल काकोडकर ने भारत के परमाणु परीक्षणों की संप्रभुता की मांग को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने भारत की आत्मनिर्भरता के लिए परमाणु ऊर्जा के लिए, ईंधन के रूप में थोरियम के उपयोग करने का दृढ़ता से समर्थन किया।

21. जी. माधवन नायर

डा. जी. माधवन नायर का जन्म 31 अक्टूबर, 1943 को केरल के तिरुवनंतरपुरम में हुआ था। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम (इसरो) के पूर्व अध्यक्ष को चंद्रयान मिशन के लिए जाना जाता है। चंद्रयान, चंद्रमा पर भेजा गया भारत का पहला मानवरहित मिशन था।

नायर ने सन् 1966 में केरल विश्वविद्यालय से इलेक्ट्रिकल और संचार इंजीनियरिंग में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उसके बाद वह प्रशिक्षण के लिए मुंबई स्थित भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र (बीएआरसी) गए। सन् 1967 में उन्होंने थुम्बा इक्वेटोरियल रॉकेट प्रक्षेपण केन्द्र (टीईआरएलएस) में नौकरी आरंभ की। इसरो में अपने छह साल के कार्यकाल के दौरान उन्होंने 25 सफल मिशन पूर्ण किए। उन्होंने बड़े पैमाने पर समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए टेली–शिक्षा और टेली–मेडिसिन जैसे कार्यक्रमों में गहरी रुचि ली। नतीजतन 31,000 से अधिक कक्षाओं को एडुसैट नेटवर्क के तहत जोड़ा गया और 315 अस्पतालों में टेलीमेडिसिन की सुविधाएं प्रदान की गईं जिनमें से 269 सुदूर/ग्रामीण/जिला अस्पतालों

में एवं 10 मोबाईल इकाईयां और 46 उच्च विशेषज्ञता वाले अस्पताल थे।

उन्होंने गांवों में गरीब लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार के लिए उपग्रह संयोजकता के माध्यम से ग्रामीण संसाधन केंद्रों (वीआरसी) की योजना शुरू की। वर्तमान में 430 से अधिक वीआरसी केन्द्रों द्वारा किसानों को भूमि के उपयोग, भूमि आच्छादन, मिट्टी और भूमिगत जल की संभावनाओं जैसे विभिन्न पहलुओं पर जानकारी प्रदान करने के अलावा उनके प्रश्नों के आधार पर महत्वपूर्ण निर्णय लेने में समर्थ बनाया जा रहा है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, द्विपक्षीय सहयोग के लिए कई अंतरिक्ष एजेंसियों और देशों विशेष रूप से फ्रांस, रूस, ब्राजील, इजरायल, आदि के साथ वार्ता के लिए माधवन नायर ने भारतीय प्रतिनिधिमंडलों का नेतृत्व करते हुए पारस्परिक रूप से लाभप्रद अंतरराष्ट्रीय समझौतों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1998 के बाद से डॉ. जी माधवन नायर ने बाह्य अंतरिक्ष (यूएन–सीओपीओएस) के शांतिपूर्ण उपयोग पर गठित संयुक्त राष्ट्र समिति की विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उपसमिति के भारतीय प्रतिनिधिमंडल को नेतृत्व किया। डा. नायर को सन् 2009 में भारत के दूसरा सर्वोच्च नागरिक सम्मान पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया।

22. विजय भटकर

डॉ. विजय पांडुरंग भटकर भारत के सबसे प्रशंसित वैज्ञानिकों और आईटी क्षेत्र में भारत के अग्रणी व्यक्तियों में से एक हैं। वह भारत के पहले सुपर कंप्यूटर 'परम' के प्रणेता और सुपरकंप्यूटिंग में भारत की राष्ट्रीय पहल सी–डैक के संस्थापक कार्यकारी निदेशक के रूप में जाने जाते हैं। उन्हें कई राष्ट्रीय संस्थानों के निर्माण का श्रेय दिया जाता है, जिनमें सी–डैक, ईआर एंड डीसी, आईआईआईटीएम–केरल, आईटूआईटी, ईटीएच, ईटीएच रिसर्च लैब, एमकेसीएल और इंडिया इंटरनेशनल मल्टीवर्सिटी आदि प्रमुख हैं।

भारत के परम सुपर कंप्यूटर की शृंखला के वास्तुकार के रूप में, डा. भटकर ने भारत के लिए 'जिस्ट' बहुभाषी प्रौद्योगिकी सहित अनेक असाधारण प्रौद्योगिकीयां विकसित कीं। 11 अक्टूबर

1946 को जन्में, भटकर ने सन् 1965 में नागपुर के विएनआईटी से इंजीनियरिंग में स्नातक की डिग्री प्राप्त की। उसके बाद उन्होंने बड़ौदा की एमएस यूनिवर्सिटी से स्नातकोत्तर किया और फिर सन् 1972 में आईआईटी दिल्ली से इंजीनियरिंग में पी–एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

वह भारत सरकार के कैबिनेट की वैज्ञानिक सलाहकार समिति के सदस्य, सीएसआईआर के सदस्य और महाराष्ट्र एवं गोवा राज्यों के ई–गर्वेनेंस समिति के अध्यक्ष हैं।

डा. भटकर आईईईई, एसीएम, सीएसआई, आईएनएई और प्रमुख वैज्ञानिक, इंजीनियरिंग और प्रोफेशन सोसायटी ऑफ इंडिया के फैलो हैं। उन्हें पद्मश्री और महाराष्ट्र भूषण पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। अन्य प्रमुख पुरस्कारों में संत ज्ञानेश्वर विश्व शांति पुरस्कार, लोकमान्य तिलक पुरस्कार, एचके फिरोदिया और डेटाक्वेस्ट लाइफटाइम अचीवमेंट पुरस्कार आदि शामिल हैं। उन्हें पीटर्सबर्ग पुरस्कार के लिए भी नामांकित किया गया था। वह आईआईटी, दिल्ली के एक प्रतिष्ठित पूर्व छात्र हैं।

डॉ. भटकर ने 12 पुस्तकों और 80 शोध और तकनीकी शोधपत्र लिखे हैं। उनके वर्तमान अनुसंधान के क्षेत्रों में एक्ट्रस्केल, सुपरकंप्यूटिंग, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, मस्तिष्क–मन चेतना और विज्ञान एवं आध्यात्मिकता का संश्लेषण शामिल हैं। वर्तमान में व इंडियन इंटरनेशनल मल्टीवर्सिटी के कुलपति, ईटीएच रिसर्च लैब, आईटूआईटी के प्रमुख मेंटर, आईआईटी–दिल्ली के बोर्ड अध्यक्ष और विज्ञान भारती के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।

23. कल्पना चावला

कल्पना चावला का जन्म 17 मार्च, 1962 को हरियाणा के करनाल जिले में हुआ था। भारत के पहले पायलट जे.आर.डी. उनके प्रेरणास्रोत थे। उनके मन में उड़ान भरने की गहरी इच्छा थी। उन्होंने अपनी आरंभिक पढ़ाई करनाल के टैगोर विद्यालय से की और बाद में पंजाब विश्वविद्यालय से वैमानिकी अभियांत्रिकी का अध्ययन किया। अपने वैमानिकी सपनों को उड़ान देने के लिए वह अमेरिका गयी। टेक्सास विश्वविद्यालय से सन् 1984 में वैमानिकी अभियांत्रिकी में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के चार सालों के बाद उन्होंने कोलोरोडो विश्वविद्यालय से वैमानिकी अभियांत्रिकी में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की थी। उसी साल उन्होंने नासा के अमेस रिसर्च सेंटर में कार्य करना आरंभ किया। चावला ने अमेरिका की नागरिकता ली और जीन–पेरी हेरिसन से शादी की जो एक स्वतंत्र उड़ान प्रशिक्षक थे। उनकी उड़ान, लंबी पैदल यात्रा, ग्लाइडिंग और पढ़ने में गहरी रुचि थी। उन्हें उड़ान, एयरोबेटिक्स, ट्रेल–व्हील एयरोप्लेनस् से बहुत लगाव था।

सन् 1994 में चावला नासा के अंतरिक्ष कार्यक्रम में शामिल हो गई और अंतरिक्ष के लिए अपने पहले मिशन पर अंतरिक्ष शटल कोलंबिया की

उड़ान एसटीएस–87 में छह अंतरिक्ष यात्रियों के एक दल का हिस्सा बनीं जिसने 19 नवंबर, 1997 को उड़ान शुरू की। अपनी पहली उड़ान के दौरान वह अंतरिक्ष में 375 घंटे से अधिक रही, उन्होंने पृथ्वी की कक्षा के 252 से अधिक चक्कर लगाते हुए 65 लाख मील की यात्रा की। जहाज पर, वह मैल्फंगक्शनिंग स्पार्टन सैटेलाइट तैनाती की प्रभारी थी। दिलचस्प बात यह है कि अंतरिक्ष में पहली बार जाने वाली भारत में जन्मीं महिला होने के साथ ही वह ऐसी पहली भारतीय–अमेरिकी महिला थी।

एक मिशन के विशेषज्ञ और प्राथमिक रोबोट भुजा ऑपरेटर के रूप में, चावला चालक दल के उन सात सदस्यों में से एक थी जो 2003 में कोलंबिया अंतरिक्ष शटल दुर्घटना में मारे गए थे।

24. सुनीता विलियम्स पंड्या

19 सितंबर 1965 को अमेरिका में ओहियो में डॉ. दीपक और बोनी पंड्या के घर जन्मी सुनीता विलियम्स पंड्या ने महिला अंतरिक्ष यात्री के रूप में, तीन बार अंतरिक्ष यात्रा करने के साथ ही, सबसे अधिक समय (195 दिन) तक अंतरिक्ष में उड़ान भरने और अनेक बार (चार) अंतरिक्ष में चहलक़दमी करने के रिकार्ड के साथ अंतरिक्ष में चहलक़दमी में कुल मिलाकर 29 घंटे और 17 मिनट का समय बिताया।

विलियम्स के पिता की जड़ें भारत में गुजरात से जुड़ी है। इसलिए उन्होंने अपने पिता के परिवार से मिलने के लिए भारत के अनेक दौरे किए हैं। विलियम्स ने मैसाचुसेट्स में नीघम हाई स्कूल से आरंभिक शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने सन् 1983 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। सन् 1987 में उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका नौसेना अकादमी से भौतिक विज्ञान में विज्ञान स्नातक की डिग्री प्राप्त करने की ठानी। फिर सन् 1995 में फ्लोरिडा प्रौद्योगिकी संस्थान से इंजीनियरिंग प्रबंधन में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। 47 वर्षीय विलियम्स जुलाई 2012 में अंतरिक्ष के अपने अभियान के लिए रवाना हुई। स्टेशन के अभियान में शामिल 32 सदस्यी चालक दल पर वह एक फ्लाइट इंजीनियर थी जो अंतरिक्ष स्टेशन पर पहुंच कर अभियान की तैतींसवीं कमांडर बनी।

सुनीता को दौड़, तैराकी, बाइकिंग, ट्रायथलॉन, विंडसर्फिंग, स्नोबोर्डिंग और धनुष शिकार काफी पसंद है। उन्होंने ओरेगेन के एक संघीय पुलिस अधिकारी माइकल जे विलियम्स से शादी की। ये दोनों 20 वर्षों से अधिक समय से शादीशुदा हैं और अपने कैरियर के आरंभिक दिनों में इन दोनों ने हेलीकाप्टरों को उड़ाए है।

वह भगवान गणेश की भक्त हैं। जब वह अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन पर जाती हैं तो अपने साथ भगवत गीता की एक प्रति और गणेश की एक मूर्ति रखती हैं। वह जुलाई 2012 की यात्रा में वह अपने साथ वैदिक उपनिषद्ों का अंग्रेजी अनुवाद भी ले गयी थी।

25. सबीर भाटीया

सबीर भाटीया का जन्म 30 दिसंबर को चंडीगढ़ में हुआ था। भाटीया बैंगलोर में पल–बढ़े और उनकी आरंभिक शिक्षा पुणे स्थित बिशप स्कूल और बाद में सेंट जोसेफ बॉयज हाई स्कूल में हुई। सन् 1988 में वो अमेरिका चले गए और फिर उन्होंने राजस्थान बिट्स पिलानी से विदेश हस्तांतरण के बाद कैलिफोर्निया प्रौद्योगिकी संस्थान से स्नातक की डिग्री प्राप्त की। उन्होंने स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय से इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त की।

स्नातक की पढ़ाई के बाद, सबीर ने एक हार्डवेयर इंजीनियर के रूप में एप्पल कंप्यूटर और फॉयरपॉवर सिस्टम्स इंक में काम किया। वहां काम करते हुए वह इस बात को समझ कर आश्चर्यचकित रह गए कि एक वेब ब्राउजर के माध्यम से इंटरनेट पर किसी भी सॉफ्टवेयर का उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने अपने सहयोगी जैक स्मिथ के साथ मिलकर 4 जुलाई 1996 को हॉटमेल की स्थापना की।

इक्कीसवीं सदी में, 36.9 करोड़ से अधिक पंजीकृत उपयोगकर्ताओं के साथ हॉटमेल दुनिया की सबसे बड़ी ई–मेल प्रदाता कंपनियों में से एक बन गया। अध्यक्ष और सीईओ के रूप में, उनके नेतृत्व में हॉटमेल ने तेजी से विकास किया और सन् 1998 में माइक्रोसॉफ्ट द्वारा इसका अधिग्रहण किया गया। हॉटमेल अधिग्रहण के बाद लगभग एक साल से कुछ अधिक समय तक भाटिया ने माइक्रोसॉफ्ट में काम किया। और फिर अप्रैल 1999 में उन्होंने माइक्रोसॉफ्ट छोड़ एक नए उद्यम, आरजू इंक को शुरू किया जो एक ई वाणिज्य फर्म है।

भाटिया ने जेएक्साएसएमएस नाम से निःशुल्क संदेश सेवा आरंभ की। उन्होंने अनुसार जेएक्साएसएमएस ''एक ऐसी एसएमएस सेवा होगी जैसे हॉटमेल ने ई–मेल के लिए की थी''। उन्होंने दावा किया कि यह एक ऐसी प्रौद्योगिकी हो सकती है, जिसके कारण ऑपरेटरों को अपने नेटवर्क पर एसएमएस की संख्या में कमी होने पर राजस्व का नुकसान होगा लेकिन डेटा योजना खरीदने वाले उपयोगकर्ताओं को इससे लाभ होगा।

सफलता ने भाटिया को काफी प्रशंसा दिलाई। उद्यम पूंजी फर्म ड्रेपर फिशर जुरवेत्सन ने उन्हें "वर्ष 1997 के उद्यमी" के रूप में सम्मानित किया। एमआईटी ने उन्हें उन 100 युवाओं नवाचारियों में शामिल किया जिन्होंने नवीन आविष्कारों के माध्यम से प्रौद्योगिकी पर सबसे अधिक प्रभाव डाला और उन्हें टीआर100 पुरस्कार प्रदान किया।

सबीर एक स्नातक छात्र के रूप में एटा कापा में शामिल हुए।

26. अन्ना मणी

अन्ना मणी एक भारतीय भौतिकविज्ञानी और मौसमविज्ञानी थीं। वह भारतीय मौसम विभाग की उपमहानिदेशक भी रहीं।

अन्ना मणी का जन्म 23 अगस्त, 1918 को केरल के पीरमेडु में हुआ था। बाल्यकाल से ही वह खूब पढ़ाई में बहुत रूचि रखती थीं। आरंभ में वह चिकित्सा के क्षेत्र में जाना चाहती थी लेकिन भौतिक विज्ञान विषय पसंद होने के कारण उन्होंने भौतिक विज्ञान का अध्ययन करने का निश्चय किया। उन्होंने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज से भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान में स्नातक (ऑनर्स) की उपाधि प्राप्त की।

इसके बाद उन्होंने प्रोफेसर सी. वी. रामन के मार्गदर्शन में कार्य करते हुए हीरों और माणिक्यों के प्रकाशीय गुणधर्मों पर शोध कार्य किया। उन्होंने पांच शोध पत्र लिखे, लेकिन भौतिक विज्ञान में स्नातकोत्तर की उपाधि नहीं होने के कारण उन्हें पी–एच.डी. की उपाधि प्रदान नहीं की गयी। उसके बाद भौतिकी में अध्ययन के लिए वह इंग्लैंड चली गयीं, लेकिन अंततः उन्होंने लंदन के इम्पीरियल कॉलेज से मौसमविज्ञान उपकरणों का अध्ययन किया। सन् 1948 में भारत लौटने पर उन्होंने पुणे स्थित भारतीय मौसम विभाग में नौकरी की। सन् 1976 में वह भारतीय मौसम विभाग के उपमहानिदेशक पद से सेवानिवृत्त हुईं। मौसम उपकरणों के साथ–साथ सौर विकिरणों, ओजोन और पवन ऊर्जा आदि पर उनके अनेक शोध पत्र प्रकाशित हुए। वह गांधीजी के विचारों की समर्थक थीं। सन् 1994 में वे स्ट्रोक से पीड़ित रही और 16 अगस्त 2001 को तिरूवनन्तपुरम में उनका निधन हुआ। उनके प्रमुख प्रकाशनों में विंड एनर्जीः रिसोर्स सर्वे इन इंडिया, सोलर रेडिएशन ओवर इंडिया और हैंड बुक फॉर सोलर रेडिएशन डाटा फॉर इंडिया हैं।

27. श्रीमती जानकी के. अम्माल

जानकी अम्माल एड्वालेथ कक्कट एक भारतीय वनस्पतिविज्ञानी थीं जिन्होंने कोशिका आनुवांशिकी और पादप भूगोल में वैज्ञानिक शोध कार्य किया था। उनके सबसे उल्लेखनीय कार्य गन्ना और बैंगन से संबंधित थे। उन्होंने केरल के वर्षा वनों से औषधीय और आर्थिक मूल्य के विभिन्न बहुमूल्य पौधों को एकत्र किया था।

जानकी अम्मला का जन्म सन् 1897 में केरल के तेल्लीचेरी में हुआ था। उनके पिता दीवान बहादुर एड्वालेथ कक्कट कृष्णन मद्रास प्रांत में उप–न्यायाधीश थे। तेल्लीचेरी से स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद वह मद्रास चली गयी जहां क्वीन मैरी कॉलेज से उन्होंने स्नातक की डिग्री प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने सन् 1921 में प्रेसीडेंसी कॉलेज से विशेष विषय के रूप में वनस्पति विज्ञान में डिग्री प्राप्त की। अम्माल ने मद्रास के वीमेन्स क्रिश्चियन कॉलेज में अध्यापन का कार्य किया। सन् 1925 में उन्होंने अमेरिका के

मिशिगन विश्वविद्यालय से बार्बर स्कॉलर के रूप में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त की। भारत लौटने पर उन्होंनें फिर से वीमेन्स क्रिश्चियन कॉलेज में अध्यापन का कार्य किया। अम्माल, प्रथम ओरिएंटल बार्बर रिसर्च फेलो के तौर पर, पुनः मिशिगन चली गयीं जहाँ से 1931 में उन्होंने डी.एस–सी. की उपाधि प्राप्त की। वे वनस्पति विज्ञान की प्रोफेसर के रूप में लौटीं और उन्होंने सन् 1931 से 1934 तक त्रिवेन्द्रम के महाराजा कॉलेज ऑफ साईंस में अध्यापन का कार्य किया। सन् 1934 से 1939 के दौरान उन्होंने कोयम्बटूर के गन्ना प्रजनन संस्थान में आनुवंशिकीविद् के रूप में कार्य किया।

अम्माल ने कई अंतरप्रजातिय संकर विकसित किए जिनमें सैकेरम एक्स जी, सैकेरम एक्स एरिन्थेस, सैकेरम एक्स इम्नेरेटा और सैकेरम एक्स सोरगहम आदि प्रमुख है। अम्माल ने सैकेरम ऑफीसिनैरम यानी गन्ने पर कोशिका आनुवांशिकी अध्ययन संबंधी अग्रणी कार्य करते हुए वास्तव में सैकेरम एवं संबंधित वंशों पर कोशिका–आनुवंशिकी अध्ययन की नीवं रखी। गन्ना और संबंधित घास प्रजातियों जैसे बैम्बूसा (बम्बू) को सम्मिलित करके कई अंतरजातीय एवं अंतरवंशीय संकर किस्मों का विकास किया।

सन् 1940 से 1945 के दौरान उन्होंने लंदन के जॉन इन्नेस हॉर्टिकल्चरल संस्थान में एक सहायक कोशिका विज्ञानी का कार्य किया। इसके बाद सन् 1945 से 1951 के दौरान उन्होंने विस्केल स्थित रॉयल हॉर्टिकल्चरल सोसायटी में कोशिका विज्ञानी के रूप में कार्य किया। उन्होंने सन् 1945 में सी. डी. डोलिंगटोन के साथ संयुक्त रूप से लिखी गयी 'द क्रोमोसोम एटलस ऑफ कल्टिवेटेड प्लांटस्' पुस्तक में विभिन्न प्रजातियों पर किए गए कार्यों के बारे में लिखा। जवाहर लाल नेहरू के निमंत्रण पर, सन् 1951 में वह भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण (बीएसआई) के पुनर्निर्माण के लिए भारत लौट आईं। उन्हें 14 अक्टूबर 1952 को बीएसआई में विशेष कार्य अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया था। बाद में उन्होंने बीएसआई के महानिदेशक का पदभार संभाला।

सेवानिवृत्ति के बाद, अम्माल ने औषधीय पौधों और मानवजाति वनस्पतिविज्ञान पर विशेष ध्यान केंद्रित कर शोध कार्य जारी रखा। नवंबर 1970 में वे मद्रास में बस गयीं और मद्रास विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के उन्नत अध्ययन केंद्र में अवकाश प्राप्त वैज्ञानिक के रूप में कार्य करने लगीं। उन्होंने मद्रास के पास स्थित मदुरावोयाल में स्थापित इस केंद्र की क्षेत्रीय प्रयोगशाला में अपनी मृत्यु पर्यंत यानी 07 फरवरी, 1984 तक कार्य किया।

अम्माल को सन् 1935 में भारतीय विज्ञान अकादमी का और सन् 1957 में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी फैलो चुना गया था। सन् 1956 में मिशिगन विश्वविद्यालय ने उन्हें एलएल.डी. की मानद उपाधि ा प्रदान की। सन् 1977 में भारत सरकार द्वारा उन्हें पद्म श्री की उपाधि प्रदान की गयी। भारत सरकार ने वन एवं पर्यावरण मंत्रालय द्वारा उनके सम्मान में वर्गीकरण विज्ञान में राष्ट्रीय पुरस्कार की स्थापना की गयी।

***

11 भारत के परंपरागत, गैर परंपरागत और स्वच्छ ऊर्जा स्रोत

विकास के लिए ऊर्जा एक अनिवार्य आवश्यकता है। शोधकर्ताओं के अनुसार किसी समाज में प्रति व्यक्ति जितनी अधिक ऊर्जा उपयोग करते हैं उनके जीवन की गुणवत्ता उतनी बेहतर होगी। हमारी प्रजाति के इतिहास में जब भी हमनें अपनी जीवन शैली में सफलता प्राप्त की है, तब हमारी ऊर्जा की खपत भी काफी बढ़ी है चाहे खेती करने के उद्देश्य से लोगों द्वारा गांव में बसना आरंभ किया हो या फिर औद्योगिकी क्रांति के आरंभ के समय से।

एक विकासशील देश के रूप में, भारत ऊर्जा के उपयोग में और इसके विकास में सहायक के रूप में, ऊर्जा की बढ़ती मांग से संबंधित संक्रमण की स्थिति में है। ऊर्जा की बढ़ती मांग और ऊर्जा सुरक्षा के लिए चिंता को देखते हुए अब हमें वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों को तलाशने की आवश्यकता है। हमारे पास कोयले का प्रचुर भंडार है और हमारी ऊर्जा जरूरतों का 50 प्रतिशत से अधिक कोयला से पूरा होता है। लेकिन हमारे पास पर्याप्त पेट्रोलियम भंडार नहीं हैं, इसलिए हमें अपनी पेट्रोलियम जरूरतों का 70 प्रतिशत से अधिक आयात करना पड़ता हैं। तेल के विदेशी स्रोतों पर हमारी निर्भरता को कम करना भी एक और महत्वपूर्ण कारण है जो हमें ऊर्जा के नए विकल्प तलाशने को प्रेरित कर रहा है।

यह उचित समय है जब हमें नवीकरणीय और ऊर्जा के गैर परंपरागत स्रोतों की ओर बढ़ना चाहिए। हालांकि यह अनुमान लगाना मुश्किल है कि कब दुनिया से जीवाश्म ईंधन समाप्त हो जाएंगे, उस समय हमारे हाथ में कुछ नहीं रहेगा। कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि ये संसाधन दो दशकों तक ही उपलब्ध रहेंगे जबकि अन्य लोगों का कहना है कि अगले दो सदियों तक के लिए इनकी पर्याप्त मात्रा है। भविष्य में ऊर्जा के भरोसेमंद सूत्रों के लिए हमें कोयला और पेट्रोलियम से परे ऐसे ऊर्जा स्रोतों के विकास की आवश्यकता है जो पुरी तरह से नये हों या हमारे द्वारा भूला दिए गए पुराने स्रोत हों।

अक्सर 'नवीकरणीय या अक्षय' और 'गैरपरंपरागत' शब्दों को गलती से एक–दूसरे के स्थान पर उपयोग कर लिया जाता है। एक नवीकरणीय ऊर्जा संसाधन वह हैं जिनके भंडार को समय–समय पर फिर से भरा जा सकता है। ऊर्जा के विश्वसनीय रूप लकड़ी, कोयला, जैव अपशिष्ट आदि सभी नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत हैं। पुरातात्विक खुदाई से पता चलता है

कि किस प्रकार प्राचीन काल में धातु की भट्टियों को जंगलों के संसाधनों के उपयोग से हजारों सालों तक जलाया रखा जाता था। लेकिन यदि यह नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत होता है तों यह गैरपरंपरागत होगा और इसकी बार–बार सफाई की आवश्यकता नहीं होगी।

गैर परंपरागत ऊर्जा स्रोत वो हैं जिनका ऐतिहासिक रूप से उपयोग नहीं किया गया है। और उनके उपयोग के लिए अभी भी तकनीकें विकसित की जा रही हैं और वैज्ञानिकों द्वारा उनके उपयोग की प्रक्रिया को और अधिक कुशल बनाने के लिए लगातार काम किया जा रहा है। पनबिजली, सौर फोटोवोल्टिक संयंत्र और परमाणु ऊर्जा इसके उदाहरण हैं। हम सभी को यह याद रखना चाहिए कि कोयला या पेट्रोलियम ऊर्जा के रातों–रात निर्मित होने वाले सार्वत्रिक स्रोत नहीं हैं। उन्नीसवीं सदी के आरंभ से वैज्ञानिक बुद्धिमत्ता और अनुसंधान के कारण ही आज ये विश्वसनीयता के साथ बड़े पैमाने पर उपयोग किए जा रहे हैं। इसलिए गैर–पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों के विकास को भी उसी लगन के साथ अनुसंधान और धैर्य की आवश्यकता होगी।

एक गैर–परंपरागत ऊर्जा स्रोत के हमेशा स्वच्छ और नवीकरणीय होने की जरूरत नहीं है। उदाहरण के लिए भारत के पास एक सुविकसित परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम हैं और यहां ब्रीडर रिएक्टरों के लिए ईंधन के रूप में थोरियम की काफी मात्रा उपलब्धता भी है। हालांकि एक परमाणु संयंत्र से बिजली उत्पादन के दौरान प्रदूषक उत्सर्जित नहीं होते हैं। समस्या छोड़ी गयी परमाणु ईंधन छड़ के साथ शुरू होती है। हालांकि वे अब बिजली उत्पादन के लिए लंबे समय तक इस्तेमाल नहीं की जा सकती, लेकिन ये ईंधन छड़ों अभी भी रेडियोधर्मी होती हैं। जिसके कारण इनके निपटान में समस्या होती है। अब तक, इन ईंधन छड़ों को गहरी खदानों या बोर छेद के अंदर दफन करके इनका निपटारा किया जाता है ताकि इनके विकिरण जीवित प्राणियों को प्रभावित नहीं कर सकें। लेकिन ऐसा माना जाता है कि इन रेडियोधर्मी तत्वों में से कुछ हजारों साल के लिए सक्रिय रह सकते हैं, उम्मीद है कि इनके बेहतर निपटान की प्रौद्योगिकी जल्द विकसित की जा सकेंगी। हालांकि यह सोचना भी खौफनाक है कि एक परमाणु ऊर्जा संयंत्र में हुई दुर्घटना के पड़ोसी क्षेत्रों तक क्या खतरे हो सकते हैं। इसलिए इन खतरों के प्रति गंभीर चिंतन करके परमाणु ऊर्जा संयंत्रों के निर्माताओं द्वारा इन्हें परंपरागत ऊर्जा संयंत्रों की तुलना में अधिक मजबूत और सुरक्षित बनाने के भरपूर प्रयास किए जाते हैं।

भारत ऊर्जा के सभी तीनों रूपों नवीकरणीय, गैरपरंपरागत ऊर्जा और स्वच्छ ऊर्जा के विकास की अपार संभावनाएं रखता है। लेकिन अधिकतर शोधकर्ताओं का अनुमान है कि गैरपरंपरागत ऊर्जा स्रोतों की ओर जाने का कारण जीवाश्म ईंधन की समाप्ति की बजाय जीवाश्म ईंधनों के द्वारा पर्यावरण को होने वाला नुकसान प्रमुख है। यहां पर हमारी प्राथमिकता मुख्यतया स्वच्छ और अक्षय स्रोतों पर होंगी।

स्वच्छ एवं नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत

पनबिजली के क्षेत्र में भारत की संभावनाएं सीमित हैं और इसका अधिकतम उपयोग भी किया जा चुका है। वर्तमान में, सूक्ष्म जल विद्युत परियोजनाओं में अधिक रुचि है। जिसके कारण विशाल बांधों की बजाय छोटी–छोटी नदियों पर छोटे जल विद्युत टर्बाइनों का उपयोग किया जा सकेगा जो प्रत्येक गांव या नदी तट की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ होंगी। इस तरह ऐसे टर्बाइनों की शृंखला नदियों से लगे गांवों की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है।

हमारे देश के लिए अक्षय ऊर्जा क्षमता की सबसे अधिक संभावना पवन ऊर्जा के विकास में निहित है। देश के बड़े हिस्से में पवन ऊर्जा सर्वेक्षणों का कार्य अभी भी प्रगति पर है। हमारे पास इसकी संभावना अनुमान से भी अधिक है। 2016 के मध्य तक 17 गीगावॉट पवन ऊर्जा उत्पादन क्षमता को स्थापित किया जाएगा।

उष्णकटिबंधों के पास स्थित होने के कारण भारत में सूर्य प्रकाश की प्रचुरता है। मानसून के कारण बहुत कम क्षेत्रों जैसे गुजरात और राजस्थान के कुछ हिस्सों में ही नियमित रूप से बारिश होने के कारण सूरज की निर्बाध रोशनी से सौर ऊर्जा का उत्पादन किया जाता है। वर्तमान में, सभी सौर ऊर्जा परियोजनाओं की प्रकृति फोटोवोल्टिक है जबकि चेन्नई और बेंगलुरू जैसे शहरों में गर्म पानी, जल शोधन, और घरों और होटलों की अन्य तापीय आवश्यकताओं के लिए लघु पैमाने पर सौर तापीय संयंत्रों को स्थापित और परिचालित किया जा रहा है। भविष्य में राजस्थान के क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर सौर ताप विद्युत संयंत्रों की स्थापना की योजना है। इस तरह के संयंत्र सूर्य की ऊर्जा का उपयोग पानी को भाप बनाने और भाप का उपयोग विद्युत उत्पादन के लिए टरबाइन चलाने के लिए करेंगे। निश्चित रूप से, सौर ऊर्जा के विकास के लिए हमेशा की तरह बाधाओं के रूप में हमारे सामने आरंभिक निवेश और विस्तृत भूमि क्षेत्र की आवश्यकता होगी।

ऊर्जा उत्पादन का एक अन्य व्यावहारिक स्रोत जैविक कचरे का ऊर्जा में रूपांतरण है। इस दिशा में कार्य करते हुए देश भर के कई गांवों में पायलट बायोगैस परियोजनाओं द्वारा कुछ सफलता मिली है। शोधकर्ताओं द्वारा कार्बनिक पदार्थों, अपशिष्टों और ऐसे ही अन्य स्रोतों द्वारा नवीन तरीकों से विद्युत उत्पादन की तकनीकों के विकास में कार्य कर रहे हैं।

विद्युत उत्पादन के अलावा ऊर्जा उपयोग का सबसे विस्तृत क्षेत्र परिवहन है। इस क्षेत्र में कई नए ईंधन स्रोतों के विकास की संभावनाओं को तलाशना है ताकि आयातित पेट्रोल पर हमारी निर्भरता खत्म हो सके। वैकल्पिक ईंधनों में वर्तमान में हम तरलीकृत पेट्रोलियम गैस (एलपीजी), संपीड़ित प्राकृतिक गैस (सीएनजी) एवं हाइड्रोजन और सीएनजी के मिश्रण का उपयोग कर रहे हैं। भविष्य की योजनाओं में पेट्रोल दहन वाले इंजनों में हाइड्रोजन का उपयोग किया जाना शामिल है। जटरोफा, करंज और यहां तक कि शैवाल जैसे पौधों से प्राप्त जैवईंधनों का उपयोग डीजल में 20 अनुपात 80 के रूप में मिलाकर किया जा

रहा है। वैकल्पिक ईंधन का विकास इस तरह किया जाना चाहिए कि उन्हें वर्तमान वाहनों में कोई विशेष परिवर्तन किए बिना उपयोग किया जा सके। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे वैकल्पिक ईंधनों का जीवाश्म ईंधन की तुलना में वातावरण पर न्यूनतम प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

नए ऊर्जा स्रोतों की खोज और विकास के समांतर हमारी दूसरी प्राथमिकता उपलब्ध संसाधनों का आर्थिक उपयोग किया जाना शामिल है। ऐसा नहीं है कि किसी वैकल्पिक ईंधन का उपयोग शीघ्र ही जीवाश्म ईंधन के उपयोग को समाप्त कर देगा। यदि ऐसा भी होता है तब भी, बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ, हमारी ऊर्जा की मांग भी इतिहास की तुलना में ज्यादा तेजी से बढ़ रही हैं। समय की मांग है कि ऊर्जा और अन्य सभी अपशिष्टों का हम दक्षता से उपयोग करें। हमें और अधिक कुशल रेफ्रिजरेटरों और एयर कंडीशनरों की आवश्यकता है। हमें अधिक कुशल प्रकाश व्यवस्था के साथ ही ऐसी स्ट्रीट लाइटों की आवश्यकता है जो आसपास के प्रकाश की मात्रा के अनुसार चालू और बंद हो सके है। हमें ऐसे दक्ष ऊर्जा संयंत्रों की आवश्यकता है जो कोयले से उत्पादन तो करे लेकिन उनसे कम प्रदूषण हो। हम लगातार इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में प्रयास कर रहे हैं ताकि हम दीर्घकालीन ऊर्जा–सुरक्षा को प्राप्त कर सकें।

एक पवन चक्की

***

12 विज्ञान और इसकी विभिन्न शाखाएं

मनुष्य कई मायनों में अन्य जीवों से अलग है। इसकी सोचने, संवाद स्थापित करने और भाषा के उपयोग की क्षमता महत्वपूर्ण है। इससे इसे वह कौशल प्राप्त होता है जिसकी मदद से यह ज्ञान को एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में स्थानांतरित करता है। यह क्षमता इसे अलग–अलग प्रश्नों के व्यवस्थित विश्लेषण के विकास के लिए अधिक या कम जिम्मेदार बनाती है। किसी भी सवाल का व्यवस्थित विश्लेषण विज्ञान कहलाता है। विज्ञान प्रयोगशालाओं या कक्षाओं तक ही सीमित नहीं है। आपकी माँ रसोई घर में खाना पकाने की प्रक्रिया के दौरान जो करती है, वह वर्षों के प्रयोगों और सावधानीपूर्वक किए गए अवलोकनों का नतीजा है और यह एक प्रयोगशाला में किसी वैज्ञानिक द्वारा किए गए प्रयोग से अधिक अलग नहीं है।

जब भी हम किसी भी प्रश्न को एक विशेष, तर्कसंगत ढंग से विश्लेषण करते है तो हमें कुछ विचार और जवाब मिलते हैं। इसके बाद विज्ञान के लिए दूसरी अग्निपरीक्षा यह होती है कि परिणामों को दोहराया और पुनः प्रस्तुत किया जा सके। भारत की किसी प्रयोगशाला में किसी व्यक्ति द्वारा किये गये काम से भी हमें वही परिणाम मिलना चाहिए जो कोई और व्यक्ति द्वारा समान उपकरणों और इनपुट के माध्यम से किसी दूसरे स्थान पर, मान लो जापान में, किया गया हो। यह सोचने पर आसान लगता है कि वैज्ञानिक लेखन के समय लेखक के व्यक्तिगत विचारों का क्या असर होता है। असल में, जब कोई सामग्री प्रतिष्ठित वैज्ञानिक प्रकाशनों में वितरित की जाती है तो उसे कई स्वतंत्र शोधकर्ताओं द्वारा जाँचा जाता है और उन तथ्यों पर संबंधित सभी शोधकर्ताओं की सहमति प्राप्त पर तर्कसंगत विचार प्रक्रिया द्वारा उस पर निर्णय लिया जाता है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि 'गलत विज्ञान' और गलत दावों को किसी भी अवधि के लिए स्थापित नहीं किया जा सकता है।

वह व्यक्ति जिसने पहिए का आविष्कार किया, वह व्यक्ति जिसने आग की खोज की, वह जनजाति जिसने कृषि की खोज की, वे सभी अपने–अपने तरीकों में वैज्ञानिक थे। यूनान के आरंभिक समय से लेकर गैलीलियो और न्यूटन जैसे लोगों के समय तक जिन्हें आज हम वैज्ञानिक कहते हैं उन्हें दार्शनिकों या प्रकृतिवादियों के रूप में जाना जाता था। आर्किमिडीज एक दार्शनिक थे और गैलीलियो और डार्विन प्रकृतिवादी थे। वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के साथ विज्ञान की शाखाओं में बहुत सख्त विभाजन होता चला गया। आर्किमिडीज और अरस्तू जैसे लोगों ने ज्ञान की सभी शाखाओं में, बिना उन्हें भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र या जीव विज्ञान के विभाजन के, अपना योगदान दिया। इस प्रवृत्ति को गैलीलियो, लियोनार्डो दा विंसी, योहानेस केप्लर, और न्यूटन जैसे दार्शनिकों के बीच भी देखा जा सकता है। इन लोगों ने भी किसी एक निश्चित क्षेत्र या शाखा को अध्ययन का विषय नहीं बनाया था। उन्होंने प्रकृति

को जैसा देखा वैसे उसका उपयुक्त स्पष्टीकरण देते हुए उसका विश्लेषण किया। कभी–कभार जब उन्हें मानव इंद्रियों की सीमा को विस्तारित करने की आवश्यकता महसूस हुई तो उन्होंने दूरबीन या सूक्ष्मदर्शी जैसे उपकरणों का आविष्कार किया। उन दिनों में, आप बेंजामिन फ्रेंकलिन जैसे लोगों को भी देख सकते हैं जो एक राजनेता और एक राजनयिक होने के साथ ही प्रकृति के एक कुशल पर्यवेक्षक थे। उन्होंने साबित किया कि विद्युत तड़ित विद्युत आवेश के निर्वहन की एक मिसाल है। उन्होंने बाइफोकल लेंस का आविष्कार भी किया था।

विज्ञान और गणित हमेंशा करीब से अंतःसंबंधित रहे हैं। गणित विज्ञान की सार्वभौमिक भाषा है, जिसे विज्ञान की किसी भी शाखा में उपयोग किया जा सकता है। इतिहास में कई बार, लोगों को सिर्फ वैज्ञानिकों या सिर्फ गणितज्ञों के रूप में वर्गीकृत करने में मुश्किल आयी है। स्वयं न्यूटन की प्रसिद्धि दोनों विषयों में थी, उनकी फिलोसोफी नेचुरेलिस प्रिन्सिपिया मेथेमेटिका पर अक्सर गणितीय पाठ के रूप में विचार किया जाता था। गॉस, यूलर, बर्नोनली, पास्कल जैसे अनेक नाम हैं जिन्होंने गणित में महत्वपूर्ण खोजें की और उनको प्राकृतिक विज्ञान में उपयोग करके प्राकृतिक दुनिया संबंधी हमारी समझ को विस्तार दिया। वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि होने और विज्ञान के अध्ययन को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों का हिस्सा बनाने पर यह देखा गया कि एक व्यक्ति के लिए विभिन्न विषयों को आत्मसात करना असंभव हो जाएगा। ऐसे में लोगों को इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि भौतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान, रसायन विज्ञान जैसे विषयों के लिए विशेषज्ञता की जरूरत है। अतीत में देखते हैं तो हमारे समक्ष फैराडे जैसे लोग हैं, जिन्होंने भौतिकी और रसायन विज्ञान में उत्कृष्ट योगदान दिया है। उनके दो प्रमुख योगदानों में विद्युतचुम्बकीय नियम और विद्युत अपघटन संबंधी नियम हैं।

हमारे सामने लुई पाश्चर का भी उदाहरण है जिन्होंने भौतिक विज्ञान और गणित में विशेषज्ञता के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की, लेकिन उनका मुख्य काम रसायन विज्ञान के क्षेत्र में रहा, हालांकि उन्होंने यह भी पता लगाया कि ज्यादातर बीमारियों की वजह सूक्ष्म कीटाणु हैं। बाद में, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान और प्राणीशास्त्र नामक शाखाओं में बंटा जिनमें क्रमशः पौधों और जानवरों का अध्ययन किया जाता है। आखिरकार रसायन विज्ञान विषय लेने वालों को अपने भौतिकी सहयोगियों को भी छोड़ना पड़ता है। इन तीनों के बीच एक तरह के कमजोर बंधन के रसायन के विषय के आधार पर विज्ञान के व्यापक मतभेद किए गए हैं। समय के साथ, और अधिक विशिष्ट विषयों जैसे कार्बनिक रसायन विज्ञान, खगोल भौतिकी, और पैलियोबॉटनी (जीवाश्म पौधों का अध्ययन) का विकास हुआ। बढ़ती समझ और ज्ञान के साथ, विशेषज्ञता के स्तर में भी वृद्धि हो रही है और दिनोंदिन इसका दायरा संकरा होता जा रहा है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध विज्ञान गल्प लेखक आइसक ओसिमोव ने एक बार कहा था कि ''हम दुनिया में रहते हुए हमारे ज्ञान को बढ़ा रहे हैं, ऐसे में लोग अपने चुनिंदा विषयों में और अधिक विशिष्ट होते जाएंगे ऐसे में विज्ञान की सभी विधाओं के बारे में कुछ जानने वाले लोग केवल विज्ञान गल्प लेखक ही होंगे।

हाल के वर्षों में, हालांकि, अलग–अलग शाखाओं के बीच गहरी समझ के साथ अंतःसंबंध स्थापित किए जाने की आवश्यकता महसूस की गई है। एक व्यक्ति के लिए ज्ञान के दो विभिन्न विषयों की समझ के लिए विषय सामग्री अभी भी काफी व्यापक है। लेकिन यह महससू किया जा रहा है कि प्रकृति से संबंधित सवालों के अच्छे हल के लिए या फिर हमारी प्रजातियों के समक्ष उपस्थित नयी चुनौतियों का

सामना करने और विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों से प्राप्त ज्ञान को साझा करने के लिए अच्छे से समन्वय करने के लिए आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, एक अस्पताल में एमआरआई मशीन पर विचार करें। इस मशीन के काम करने की सुनिश्चिता और निदान में इसका उपयोग करने के लिए गणितज्ञों, भौतिकविदों, इंजीनियरों, सॉफ्टवेयर प्रोग्रामरों और चिकित्सकों द्वारा समन्वित प्रयास की आवश्यकता होगी। विज्ञान की विभिन्न शाखाएं आपस में कार्य करते हुए श्रेष्ठ शोध प्रदान करके अंतःविषय प्रयास करते हैं। दो या दो से अधिक अंतःविषयों के कुछ दिलचस्प उदाहरणों में जैव सूचना विज्ञान, बायोमैकेनिक्स, क्वांटम कंप्यूटिंग, और आणविक जीव विज्ञान आदि हैं। कुछ क्षेत्रों जैसे ग्लोबल वार्मिंग, सतत विकास, भूमि प्रबंधन और आपदा राहत में बहुविषय अनुसंधान कार्य शामिल होते हैं।

वैज्ञानिकों के बीच में मौजूद एक अन्य महत्वपूर्ण विभेद उनके संबंधित क्षेत्रों में उनके कार्य करने की पद्धति से संबंधित है। समस्याओं का अध्ययन कर रहे सैद्धांतिक शोधकर्ताओं द्वारा समाधान की परिकल्पना प्रस्तुत कर गणित का उपयोग करके समस्या के रूप में उसके मॉडल की कोशिश करने के लिए प्रयास किया जाता है। इनके अलावा हमारे सामने प्रयोगवादी भी होते हैं जो सैद्धांतिक शोधकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत अभिकल्पना के सत्यापदन के लिए या फिर अध्ययन किए जाने वाले विषय के बारे में और अधिक जानने के लिए, आवश्यक प्रयोग के डिजाइन का विकास करते हैं। कंप्यूटर के उपयोग में वृद्धि के कारण कम्प्यूटेशनल दृष्टिकोण नामक एक नवविकसित दृष्टिकोण का विकास हुआ है, जहां कंप्यूटर पर एक प्रणाली का अनुकरण करके या फिर सिस्टम द्वारा प्रदर्शित कुछ प्रयोगों का अनुकरण करके उसके समीकरणों को हल करने के लिए प्रयास किया जाता है। विषयों का एक दिलचस्प विभेदन अध्ययन के उनके पैमाने स्वाभाविक रूप से हो जाता है। हमारे पास ऐसे वैज्ञानिक हैं जो आकाशगंगाओं के रूप में अध्ययन के जटिल विषयों को चुनते हैं और ऐसे वैज्ञानिक भी हैं जो आण्विक कणों जैसे छोटे कणों को भी चुनते हैं। इन दो चरम सीमाओं के बीच में, आप विभिन्न आकार के परास की कल्पना कर सकते हैं जिन्हें वैज्ञानिक अपनी रुचि के अनुसार चुनते हैं। इसके अलावा आपके पास सूक्ष्मजीवविज्ञानी भी हैं जो सूक्ष्मजीवों या जीवन को स्थायित्व एवं विस्तार प्रदान करने वाले आधारभूत कणों का अध्ययन करते हैं। यह विविधता लगातार बढ़ती जा रही है।

***

13 आयुर्वेद और औषधीय वनस्पतियां

आयुर्वेद और विभिन्न उपचारी विधियां

आयुर्वेद, जिसका शाब्दिक अर्थ 'लंबे जीवन का ज्ञान' है वह भारत में लगभग 5000 साल पहले आरंभ हुई एक वैकल्पिक विधि है। भारत में आयुर्वेद समय की कसौटी पर परखी हुई विज्ञान आधारित स्वास्थ्य पद्धति है। चिकित्सा के विश्वकोष माने जाने वाले 'सुश्रुत संहिता' और 'चरक संहिता' ग्रंथों ने आयुर्वेद के मूलभूत स्वरूप का विकास किया है। सदियों से, आयुर्वेदिक चिकित्सकों ने विभिन्न बीमारियों के इलाज के लिए शल्य चिकित्सा प्रक्रियाओं और औषधियों का विकास किया है। भारत का दक्षिणी राज्य केरल अपने आयुर्वेदिक उपचार केन्द्रों के लिए दुनिया भर में प्रसिद्ध है। केरल में आयुर्वेद का उपयोग विकल्प के तौर पर नहीं बल्कि एक मुख्यधारा की उपचार प्रक्रिया के रूप में किया जा रहा है।

आयुर्वेद आहार, जीवनशैली, व्यायाम और शरीर की सफाई के माध्यम से शरीर में 'वात', 'पित्त' और 'कफ' का संतुलन बहाल करने के साथ ही मन, शरीर और आत्मा के स्वास्थ्य पर ध्यान देता है। अब मोटापा, त्वचा, शरीर शुद्धि, तनाव प्रबंधन, स्पॉन्डिलाइटिस, गठिया, सोरायसिस, अनिद्रा, कब्ज, पार्किंसंस रोग, कंधे की अकड़न, टेनिस कोहनी जैसी विभिन्न समस्याओं के इलाज में आयुर्वेद बहुत लोकप्रिय है। यहां हम कुछ लोकप्रिय आयुर्वेदिक उपचार विधियों के बारे में जानकारी दे रहे हैं ।

अभ्यंगम: अभ्यंगम तेल मालिश का एक विशेष प्रकार है और यह मोटापा और मधुमेह गैंग्रीन (शरीर के कुछ भागों में रक्त परिसंचरण की कमी के कारण विकसित होने वाली स्थिति) के उपचार में बहुत उपयोगी है। विशेष रूप से तैयार आयुर्वेदिक हर्बल तेलों के संयोजन के साथ मालिश की जाती है और शरीर के महत्वपूर्ण उत्तेजक बिंदुओं पर इससे मालिश की जाती है। इस तरह का उपचार त्वचा के सामान्य स्वास्थ्य के लिए अच्छा होने के साथ ही जल्दी उम्र बढ़ने से रोकता है। इससे मांसपेशियों में दर्द और वेदना से राहत मिलती है। यह भी पता चलता है कि श्वेत रक्त कणों और रोग प्रतिकारकों का उत्पादन भी बढ़ता है जो शरीर को विषाणुओं और बीमारियों के खिलाफ अधिक प्रतिरोधी बनाता है।

धारा: धारा उपचार प्रक्रिया में, एक विशेष लयबद्ध विधि से हर्बल तेलों, औषधीय दूध, छाछ, आदि को ललाट (माथा) पर दिन में 45 मिनट के लिए टपकाया जाता है। यह प्रक्रिया 7 से 21 दिनों तक दोहरायी है। अनिद्रा, मानसिक विकार, नसों की दुर्बलता, स्मृति हानि, और कुछ त्वचा रोगों के लिए इस तरह का उपचार आदर्श माना जाता है।

तड़का धारा में, सिर की मालिश देने के बाद, माथे और मस्तिष्क के ऊपर टंगे बर्तन से औषधीय छाछ को एक निरंतर प्रवाह से ललाट पर टपकाया जाता है। रूसी, सोरायसिस, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, बालों के झड़ने, और त्वचा की अन्य समस्याओं के साथ ही मस्तिष्क के रोगों के उपचार के लिए यह विधि अच्छी मानी जाती है। सिरोधारा में, सिर को एक अच्छी मालिश देने के बाद, माथे और मस्तिष्क के ऊपर टंगे बर्तन से अविरल धारा के रूप में हर्बल तेल को ललाट और सिर के ऊपर टपकाया जाता है। यह थकान और तनाव से राहत प्रदान करने और नींद लाने के लिए उत्तम माना जाता है।

शिरावस्ती: शिरावस्ती में रोगी के सिर पर एक टोपी लगाई जाती है और फिर गुनगुने औषधीय तेल को इसमें डाल कर आधे घंटे के लिए छोड़ दिया जाता है। अनिद्रा, चेहरे का पक्षाघात एवं मस्तिष्क की अकड़न सहित नाक और गले का सूखापन एवं सिर दर्द में यह उपचार प्रभावी सिद्ध होता है।

पिजहिचिल: पिजहिचिल में लगभग एक घंटे तक पूरे शरीर पर एक लयबद्ध शैली में गर्म हर्बल तेल लगाया जाता है। इस प्रक्रिया में जोरदार पसीना आता है जिससे गठिया, अंगों का पक्षाघात एवं यौन रोग सहित तंत्रिका संबंधी समस्याओं जैसी कई बीमारियों का उपचार किया जाता है।

विरेचन: रेचक दवाओं के प्रयोग के माध्यम से पेट और आंत की सफाई एवं अपशिष्ट निकासी की विधि विरेचन कहलाती है। यह आंतों से अतिरिक्त विषाक्त पित्त पदार्थों को समाप्त करती है। पाचन तंत्र के साफ और विष मुक्त होने पर पूरे शरीर को फायदा होता है। यह भूख बढ़ाने एवं भोजन के ठीक से अवशोषण में फायेदमंद साबित होता है।

काव्यवस्थी: काव्यवस्थी में, शरीर को गर्म औषधीय तेल के साथ उपचारित किया जाता है। एक औषधीय लेई की परत बनाकर, रोगी की पीठ पर तेल को 30 से 45 मिनट के लिए लगाया जाता है। यह पीठ दर्द और कशेरुकी के निचले क्षेत्र में होने वाले दर्द जैसी कई अन्य समस्याओं के लिए कारगार माना जाता है।

औषधीय पौधे

आयुर्वेद और औषधीय पौधे एक–दूसरे के पर्याय हैं। ग्रामीण भारत में, 70 फीसदी आबादी पारंपरिक दवाओं या आयुर्वेद पर निर्भर होती है। कई औषधीय जड़ी–बूटियों और मसालों जैसे प्याज, लहसुन, अदरक, हल्दी, लौंग, इलायची, दालचीनी, जीरा, धनिया, मेथी, सौंफ, अजवाईन, मोटी सौंफ, तेजपत्ता, हींग और काली मिर्च को भारतीय पद्धति से खाना बनाने में उपयोग किया जाता है। औषधीय दवाओं में इन सभी का उपयोग या तो आहार में या फिर दवा के रूप में किया जाता है। इनमें से कुछ औषधीय पौधों को भारतीय डाक टिकटों पर भी चित्रित किया गया है।

राष्ट्रीय औषधीय पादप बोर्ड के अनुसार, भारत में 15 कृषि जलवायुविक क्षेत्र और 17,000–18,000 फूलदार पौधों की प्रजातियों उपलब्ध हैं। एक अनुमान के अनुसार इनमें से लगभग 6000–7000 प्रजातियों का औषधीय उपयोग किया जाता है। औषधीय पौधों की लगभग 960 प्रजातियों का व्यापार किया जाता है, जिनमें से 178 प्रजातियों की वार्षिक खपत लगभग 100 मीट्रिक टन से अधिक होने का अनुमान है।

औषधीय पौधे न केवल पारंपरिक दवा और औषधीय उद्योग के लिए एक प्रमुख स्रोत हैं, बल्कि यह भारतीय आबादी के एक बड़े वर्ग को आजीविका और स्वास्थ्य सुरक्षा प्रदान करते हैं। भारत औषधीय पौधों का सबसे बड़ा उत्पादक है। आयुष उद्योग का घरेलू व्यापार लगभग 80–90 अरब का है। भारतीय औषधीय पौधों और उनके उत्पादों के निर्यात से लगभग 10 अरब रुपए की राशि प्रतिवर्ष प्राप्त होती है।

पारंपरिक और वैकल्पिक स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में वैश्विक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप, वैश्विक औषधीय व्यापार में वृद्धि हो रही है। वर्तमान में जो वैश्विक औषधीय व्यापार, लगभग 120 अरब अमेरीकी डॉलर का है उसके सन् 2050 तक सात खरब अमरीकी डॉलर तक पहुंच जाने की उम्मीद है। हालांकि वर्तमान में वैश्विक व्यापार में भारत की हिस्सेदारी काफी कम है।

इस अध्याय में भारत के कुछ सबसे लोकप्रिय औषधीय पौधों के बारे में जानकारी दी जा रही है।

गुग्गुलु भारत के शुष्क और अर्धशुष्क क्षेत्रों विशेषकर राजस्थान में पायी जाने वाली एक झाड़ी है। इसका उपयोग तंत्रिका विज्ञान की स्थिति, कुष्ठ रोग, त्वचा रोग, दिल की बीमारियों, मस्तिष्क एवं संवहनी रोग और उच्च रक्तचाप जैसे विभिन्न प्रकार के रोगों के उपचार में किया जाता है।

ब्राह्मी एक ऐसी औषधी है जो जमीन पर मांसल तने और पत्तियों के साथ फैलती है। यह भारत के सभी आर्द्र और नमी वाले स्थानों में पायी जाती है। ब्राह्मी का उपयोग मस्तिष्क के रोगों के इलाज और स्मरण शक्ति को बढ़ाने के लिए किया जाता है। ब्राह्मी को अन्य तत्वों के साथ मिला कर बने मिश्रण का उपयोग गठिया, मानसिक विकार, कब्ज, और श्वसनीशोध (ब्रोंकाइटिस) के उपचार में किया जाता है। यह मूत्रवर्धक भी होती है।

आंवला या भारतीय करौंदा के पर्णपाती वृक्ष पूरे भारत में पाए जाते हैं। इसके वृक्ष मध्यम आकार के होते है। हल्के पीले रंग के इनके फल अपने विभिन्न औषधीय गुणों के लिए जाने जाते हैं। इसका उपयोग पाचक, वातहर, रेचक, ज्वरनाशक और शक्तिवर्धक औषधि के रूप में किया जाता है। पेट दर्द की समस्याओं, पीलिया, रक्तस्राव, पेट फूलना आदि रोगों के ईलाज में इसका प्रयोग किया जाता है।

आंवला या भारतीय करौंदा

अश्वगंधा को भारत के शुष्क भागों में एक छोटे या मध्यम आकार की झाड़ी से प्राप्त किया जाता है। यह तंत्रिका संबंधी विकारों के इलाज के साथ ही कामोद्दीपक के रूप में प्रयोग किया जाता है। सामान्य कमजोरी और गठिया के इलाज के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।

अर्जुन वृक्ष चिकित्सा की दो पद्धतियों आयुर्वेदिक और यूनानी प्रणाली में एक प्रतिष्ठित स्थान रखता है। आयुर्वेद के अनुसार यह भंग, अल्सर, हृदय रोग, मतली, मूत्र निर्वहन, अस्थमा, ट्यूमर, श्वेतदाग, एनीमिया, अत्यधिक पसीना, आदि रोगों के इलाज में उपयोगी है।

घृतकुमारी या ग्वारपाटा (एलोवेरा) एक प्रसद्धि औषधीय पौधा है। इसमें पाए जाने वाले 20 से अधिक खनिज मानव शरीर के लिए आवश्यक हैं। मानव शरीर के अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक 22 अमीनो एसिडों में से आठ को अतिआवश्यक माना गया है जिनके बिना शरीर का निर्माण नहीं हो पाता है। घृतकुमारी इन सभी आवश्यक आठ अमीनो एसिडों को रखता है। इसके अलावा 14 गौण अमीनो एसिड में से इसमें 11 अमीनो एसिड पाए जाते हैं। घृतकुमारी में विटामिन ए, बी1, बी2, बी6, बी12, विटामिन सी और विटामिन ई पाए जाते हैं। त्वचा पर इसके सकारात्मक प्रभाव के कारण भारत में युवा इसे सौंदर्यवर्धक मानते हैं।

नीम अपने रक्त शुद्धिकारक गुणों के लिए प्रसिद्ध है। कई वैद्य नीम के पत्ते चबाने, सूखे पत्ते के कैप्सूल लेने और कड़वा काढ़ा पीने का सुझाव देते हैं। यह जठरांत्र प्रणाली को मजबूती प्रदान करने के साथ जिगर के लिए फायदेमंद होती है। इससे शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली प्रबल होती है। नीम जीवाणु और फफूंदीय संक्रमण एवं परजीवी को नष्ट करने में बेहद कारगर होती है। इसके प्रतिजैविक गुणों द्वारा मस्सा और मुंह के छालों का इलाज किया जाता है।

तुलसी एक बहुप्रचलित औषधीय पौधा

आधुनिक भारत में आयुर्वेद के विकास का इतिहास

भारत की जनता को आयुर्वेद के किसी परिचय की जरूरत नहीं है। हाल तक, आयुर्वेद का उपयोग सभी परिवारों द्वारा किया जाता है और यह देश में स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली की एक मुख्यधारा के रूप में उपयोगी है। मार्च 1995 में, भारतीय चिकित्सा पद्धति और होम्योपैथी विभाग बनाया गया। बाद में, नवंबर

2003 में इस विभाग को आयुष (आयुर्वेद, योग, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी) विभाग के रूप में, भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन कर दिया गया। आयुष विभाग के प्राथमिक उद्देश्य में आयुर्वेद, योग और प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी आदि चिकित्सा प्रणालियों में शिक्षा और अनुसंधान के विकास पर जोर देना है। विभाग द्वारा आयुष शिक्षा का स्तर, गुणवत्ता नियंत्रण और दवाओं के मानकीकरण के उन्नयन पर जोर देने के साथ ही औषधीय पादप सामग्री की उपलब्धता में सुधार, शोध और अनुसंधान के अलावा घरेलू और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इस पद्धति की प्रभावोत्पादकता के बारे में जनमानस को जागरूक करना है। वर्तमान में लगभग सभी राज्य सरकारों द्वारा आयुष विभाग के माध्यम से परंपरागत भारतीय चिकित्सा पद्धति को चिकित्सा की मुख्यधारा बनाने की दिशा में प्रयास किए जा रहे हैं।

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (2005–2012) भारत सरकार का एक प्रमुख कार्यक्रम है। एनआरएचएम 18 राज्यों में, जहां सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी मूलभूत सुविधाएं कमजोर हैं एवं स्वास्थ्य संकेतकों में बहुत कमी है, उन पर विशेष ध्यान केंद्रित करते हुए देश भर की ग्रामीण आबादी को प्रभावी स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करता है। इसके विभिन्न लक्ष्यों के अलावा संबंधित सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली में आयुर्वेद के क्षेत्र से स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं को पुनःजीवित करते हुए संबंधित चिकित्सा की आयुष प्रणालियों को मुख्य धारा में शामिल करना है।

सरकारी और कई गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) के प्रयासों के साथ, आयुर्वेद लगातार धीरे–धीरे वापस अपनी पूर्व सम्मानजनक स्थिति में आ रहा है। बस जनमानस की जागरूकता पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। आयुष विभाग के सहायोग से गैरसरकारी संगठन विज्ञान भारती द्वारा आयोजित विश्व आयुर्वेद कांग्रेस और आरोग्य एक्सपो ने आयुर्वेद का प्रचार करते हुए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को बड़े पैमाने पर इसकी ओर आकर्षित किया है। 2002 में आरंभ होने वाली विश्व आयुर्वेद कांग्रेस ने प्रत्येक दो वर्ष में आयोजित की जाती रही है। वर्ष 2014 में नई दिल्ली में आयोजित हुए इस कार्यक्रम के छह संस्करण पूरे हो गए हैं। विश्व आयुर्वेद कांग्रेस के छठे आयोजन के समापन समारोह को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने संबोधित किया था। उनके संबोधन के तीन घंटों के बाद ही केंद्र सरकार ने आयुष मंत्रालय के गठन की घोषणा कर दी। इसके प्रत्येक आयोजन में आरोग्य एक्सपो में आयुर्वेदिक उत्पाद, उपचार के तरीकों और शैक्षिक संस्थानों को एक प्रदर्शनी के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रदर्शनी के माध्यम से लाखों नागरिकों में जागरूकता का प्रचार किया जाता है। आज, भारत सरकार सक्रिय रूप से आयुर्वेद को विभिन्न देशों में भी बढ़ावा दे रही है।

***

14 भारत में कृषि, जैवप्रौद्योगिकी और नैनोप्रौद्योगिकी

कृषि

भारत एक कृषि प्रधान देश है। 68 साल पहले की यह स्थिति आज भी सही है लेकिन अंतर केवल इतना है कि अब कृषि हमारी अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा हिस्सा नहीं रही है। आज हमारी अर्थव्यवस्था जिस स्थिति में है उसमें हमारी राष्ट्रीय आय का बड़ा हिस्सा सेवा क्षेत्र से आता है। लेकिन हमारे कामकाजी आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा कृषि और उससे संबंधित गतिविधियों में कार्यरत है। अधिकांश भारतीयों की आजीविका आज भी हमारे देश की भूमि पर निर्भर है। हमारे देश के लिए दो महत्वपूर्ण पहलू हैं जो कृषि क्षेत्र को देश के लिए महत्वपूर्ण बनाते हैं। एक तो हमारे देश की बढ़ती आबादी का पेट भरने से संबंधित है ताकि हमें खाद्यात्र आयात पर निर्भर नहीं रहना पड़े। दूसरा हमारी अर्थव्यवस्था की बुनियादी ताकत से संबंधित है। अल्पकालिक विकास को मूल्य संवर्धन (सेवा क्षेत्र की तरह) पर आधारित आर्थिक अर्थव्यवस्था से प्राप्त किया जा सकता है जबकि अर्थव्यवस्था के दीर्घकालिक प्रगति और इसके मजबूत आधार के लिए उत्पादन करने वाले प्राथमिक क्षेत्रों (जैसे कृषि) की भूमिका महत्वपूर्ण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत के समक्ष कृषि क्षेत्र से संबंधित अनेक समस्याएं उपस्थित थीं जिनमें सिंचाई सुविधाओं की कमी, भूमि का असमान वितरण और उत्पादन में सुधार करने के लिए प्रौद्योगिकी का लगभग नगण्य उपयोग एवं फसलों से संबंधित कई बीमारियां आदि मुख्य थीं। उस स्थिति में, देश अपनी विशाल आबादी का पेट भरने के लिए अनाज के आयात पर निर्भर था। यह स्थिति उस समय और भी भयवाह हो गयी जब कृषि उत्पादन में स्थिरता आ गयी। उस समय भुखमरी से होने वाली मौतें आम बात थीं। उस समय यह बात अच्छे से समझ में आ गयी थी कि हम हमारी आबादी को खिलाने के लिए हमेशा आयातित अनाज पर निर्भर नहीं रह सकते। सबसे पहले यह बात स्पष्ट थी कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के बदलते रहने से हम वर्ष भर अनाज आयात पर निर्भर नहीं रह सकते थे। दूसरे, अनाज के आयात से, हम उनकी कीमतों में बढ़ोतरी की दर को जाँचते नहीं थे। 1960 के दशक में हालांकि, यह स्थिति भारत के लिए अद्वितीय नहीं था, तीसरी दुनिया के बहुत से देश स्वतंत्र तो हो गए थे लेकिन उन्हें अपने देशवासियों को खिलाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा था। ऐसा मानना है कि ऐसे समय में, हरित क्रांति की शुरूआत ने दुनिया की एक तिहाई आबादी की जान बचाई थी। इसका श्रेय डॉ. नॉर्मन बोरलॉग को दिया जाता है। 1963 में, उन्होंने भारत में गेहूं की अधिक उपज देने वाली किस्मों की शुरुआत की। यह समय हमारे कृषि क्षेत्र के लिए एक निर्णायक मोड़ था उसके बाद से हम निरंतर आगे बढ़ते रहे हैं। उपज फसल किस्मों के उपयोग के साथ–साथ कृषि उत्पादन में सुधार के लिए अनेक उपायों को अपनाया गया। इस कार्य में प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. एम. एस. स्वामीनाथन ने भारतीय वैज्ञानिक दल की अगुआई करते हुए प्रमुख भूमिका निभाई। दूसरे उपायों में सिंचाई सुविधाओं का विकास, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों,

एवं पीड़कनाशियों का व्यापक उपयोग, भूमि सुधार और चकबंदी के अंतर्गत किए गए सुधार कार्य, भूमि जोतने, फसल बोने एवं फसल कटाई के बाद के कार्यों में यांत्रिक उपकरणों का उपयोग, आसानी एवं सरलता से कृषि ऋण की उपलब्धता और कृषि यंत्रों को चलाने के लिए ग्रामीण विद्युतीकरण सुविधाओं का विकास किया गया था।

इसके साथ ही, सरकार ने भी कृषि विश्वविद्यालयों और अनुसंधान प्रयोगशालाओं की स्थापना में निवेश किया, ताकि हमारे स्वयं के प्रयासों द्वारा और प्रक्रियाओं को समझते हुए विकास की अगली लहर आ सके। इस निर्णय से गेहूं और धान फसलों की विविध किस्मों के विकास में बहुत अधिक प्रयास किए

हरित क्रांति का प्रभावी परिणाम हुए

जिससे हमारी जलवायु और बाढ़ एवं सूखे जैसी विषम स्थिति के लिए जिम्मेदार मानसून की अनियमिकता का सामना किया जा सके।

दुर्भाग्य से, हरित क्रांति के बाद लंबे समय के लिए, कृषि के लिए हमारे दृष्टिकोण में बहुत कम परिवर्तन आए जिसके परिणामस्वरूप उपज प्रभावित हुई। हालांकि ये वही उच्च उपज फसलें थीं जिनकी हमनें पहले बात की थी। हमने महसूस किया है कि पिछले कुछ दशकों के दौरान कुल उत्पादन भूमि क्षेत्र में गिरावट आई है, लेकिन हमारी जनसंख्या पहले की तरह ही बढ़ती जा रही है जिसके कारण हमारे कृषि उत्पादों को भी उसी वृद्धि दर को हासिल करना होगा। दुर्भाग्य से ऐसा खेतों में रसायनों के लगातार और अंधाधुंध प्रयोग से संभव हो पाया है। किसान अब किसी भी प्राकृतिक उपाय या फसल चक्र पर निर्भर नहीं रहे हैं। कृत्रिम रसायनों के लंबे समय के उपयोग से उत्पादन अपनी अधिकतम क्षमता तक पहुँच गया है जबकि खरपतवारों, कीटों, और पीड़कों ने इनके खिलाफ प्रतिरोधी हासिल कर ली है।

यह समय एक दूसरी हरित क्रांति के लिए आदर्श है। पिछले एक दशक से, कृषि वैज्ञानिकों द्वारा रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के जैविक विकल्प खोजने पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है और कुछ हद तक इसमें सफलता भी मिली है। सिंचाई सुविधाओं में भी सुधार किया गया है और लोगों को भूमिगत जलस्तर को स्थिर बनाए रखने के प्रति जागरूक बनाया गया है। ऐसी योजनाओं ने खेती की मानसून पर निर्भरता को कम किया है। मानसून उत्पादन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला कारक है। विश्वसनीय ऊर्जा आपूर्ति के लिए ग्रामीण विद्युतीकरण के प्रयास किए जा रहे है। इसके अलावा भूजल पुनर्भरण के लिए वर्षा जल संचयन तकनीकों का प्रयोग किया जा रहा है। ऐसी योजनाएं बनाई जा रही है जिसमें हमारे खेती की मानसून पर निर्भरता कम हो, ताकि उत्पादन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले कारक को समाप्त किया जा सके। बिजली की आपूर्ति और भूजल रिचार्जिंग एवं वर्षा जल संचयन आदि तकनीक का उपयोग करने के साथ ग्रामीण विद्युतीकरण पूरा करने पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। कृषि वैज्ञानिकों के साथ परामर्श करके, किसान निर्णय लेने में समर्थ होते हैं कि उन्हें किस तरह के रासायनिक पदार्थों का उपयोग करना है, उनका कितना उपयोग करना है और उनके स्थान पर किन कार्बनिक तत्वों का उपयोग करें जो भूमि को बिना नुकसान पहुंचाए अच्छी उपज दें। इससे हमारे खेतों में रसायनों के अंधाधुंध उपयोग की मात्रा में कमी आयी है जिनके कारण खेतों के आसपास के इलाकों और जल संसाधन संदूषित हो रहे थे। इसके साथ ही मृदा परीक्षण और स्थानीय परिस्थितियों के लिए क्षेत्र मूल्यांकन की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिससे शोधकर्ता भी किसानों को बेहतर सुझाव प्रदान करने में समर्थ हो रहे हैं। इससे खेती की प्रक्रिया को अधिक वैज्ञानिक बनाया गया है और किसानों का खर्च भी कम हो रहा है क्योंकि अब किसान उर्वरकों या कीटनाशकों की विशिष्ट मात्रा का ही उपयोग कर रहे हैं।

जैवप्रौद्योगिकी और नैनोप्रौद्योगिकी

वर्तमान में जैव प्रौद्योगिकी और नैनोप्रौद्योगिकी के क्षेत्र पर बहुत अधिक उम्मीदें हैं। जैव प्रौद्योगिकी जीवित जीवों के अनुप्रयोगों के साथ मानव स्वास्थ्य को उन्नत बनाने की पहल है। जब हम भारत में जैव प्रौद्योगिकी की बात करते हैं, तब हमारा मुख्य ध्यान केवल स्वास्थ्य और कृषि क्षेत्रों में इसके उपयोग को लेकर होता है। दवा क्षेत्र में, इसका उपयोग बेहतर और सस्ती दवाओं, कैंसर जैसे रोगों के लिए नयी पद्धतियों का विकास, टीकाकरण और निदानिकी के लिए किया जाता है। खेती में, इससे पौधों के जीनों में हेर–फेर करके, जैव कीटनाशियों और जैवउर्वरकों एवं खाद्य संरक्षकों और प्रसंस्करण के द्वारा उच्च उत्पादक बीजों के विकास की अपेक्षा रहती है। खाद्य संरक्षण का महत्व इसलिए भी है क्योंकि एक साल में हमारे देश में अपर्याप्त भंडारण सुविधाओं के कारण खाद्य उत्पादन का लगभग 30 प्रतिशत खत्म हो जाता है।

दूसरे स्तर पर, नैनोप्रौद्योगिकी केवल सरकार से वित्त पोषित अनुसंधान पर ही निर्भर है। लेकिन अब इससे काफी उम्मीदें जुड़ी हैं। नैनोप्रौद्योगिकी बहुत छोटे पैमाने की एक तकनीक है – एक मानव बाल की मोटाई से एक हजार छोटे स्तर की। इस तरह के पैमाने पर, हालांकि पदार्थ की मूल प्रकृति में बदलाव नहीं होता लेकिन संरचनात्मक स्तर पर परिवर्तन करके पदार्थों को मजबूत और अधिक कुशल उत्प्रेरक बनाकर दवाओं के लिए तेजी से असरदार बनाया जा सकता है। नैनोप्रौद्योगिकी का सीधा लक्ष्य कृषि उत्पादकता बढ़ाने से संबंधित है, जिसके लिए आनुवांशिक सुधार, प्रदूषित जल स्रोतों का उपचार और फसलों को कीटों और पीड़कों के हमलों से प्रतिरोधी बनाने का प्रयास किया जाता है। भविष्य में, हमारे

पास नैनोकणों पर आधारित कीटनाशक होंगे, जिनकी केवल थोड़ी सी मात्रा ही एक हेक्टेयर क्षेत्रफल वाले खेत पर छिड़कने के लिए पर्याप्त होगी।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने से पहले कई बाधाओं विशेषकर मानवीय स्वास्थ्य पर नैनोप्रौद्योगिकी और जैव प्रौद्योगिकी के दीर्घकालीन उपयोग के आकलन को पार करना होगा। आज भारत सही रास्ते पर जा रहा है और इसका भविष्य आशाजनक दिखता है।

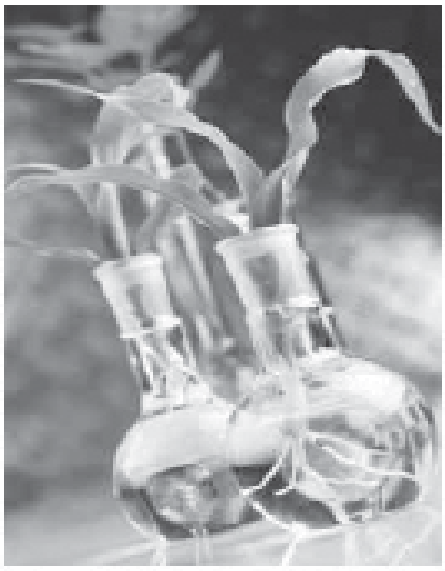

***

15 भारत में खगोल विज्ञान

भारत में खगोल विज्ञान के विकास ने वैदिक काल से आज तक का लंबा सफर तय किया है और अब हम इसरो के माध्यम से खगोल विज्ञान में अंतरिक्ष की खोज और अनुसंधान की ओर बढ़ रहे हैं।

जब भारतीय खगोल विज्ञान का ज़िक्र आता है तब जो तस्वीर सबसे पहले हमारे ज़हन में उभरती है वह जंतर–मंतर की है। यह 18वीं सदी में जयपुर के राजा सावाई जय सिंह द्वारा बनवाया गया था। खगोलीय अवलोकनों के लिए इस्तेमाल होने वाले ये भारी–भरकम उपकरण मौलिक रूप से भारतीय खगोल विज्ञान ग्रंथों पर आधारित थे। कैलेण्डर में संशोधन कर और सारणी का ज़्यादा सटिक संग्रह बनाकर प्रमुख तारों और ग्रहों की गति की भविष्यवाणी कर सकने के लिए पांच जंतर–मंतरों का निर्माण किया गया था। ये आंकड़े ज़्यादा सटिक समय नापने, ग्रहण की भविष्यवाणी में सुधार और पृथ्वी के सापेक्ष तारों और ग्रहों की स्थिति की बेहतर निगरानी में उपयोगी रहे थे। इन उपकरणों की डिज़ाइन बीते दिनों में खगोलविद्ों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरणों पर आधारित थी। ये उपकरण पैमाने पर बहुत बड़े रहे हैं माना जाता है कि इनका उद्देश्य सटिकता बढाने के लिए किया गया है। वहां कोई भी विश्व की सबसे बडी धूपघड़ी पा सकता है और सचमुच प्रति सेकण्ड सूरज की छांव को खिसकते हुए देखा जा सकता है। रिकार्ड यह भी बताते हैं कि यहां दूरबीनों (टेलिस्कोप) का निर्माण किया था और इस तरह के अवलोकनों में उनका इस्तेमाल किया गया था। इस तरह की सटीकता उस समय के कुछ उल्लेखनीय सटीक परिणाम को प्रस्तुत करने में मददगार बनीं और यहां तक कि हमारे समकालीन यूरोपीय भी इस विषय में हमसे बहुत पीछे थे।

एक और महत्वपूर्ण बात जो जंतर–मंतर के बारे में जानने को मिलती है कि जिस राजा ने इन पांचों का निर्माण करवाया था। वे केवल एक बना सकते थे और उसके परिणाम से खुश रह सकते थे। उन्होंने पांच वैधशालाओं का निमार्ण कराया, क्योंकि इस प्रकार किसी एक वैधशाला द्वारा दिए गए परिणाम को दूसरी वैधशाला से जांचा–परखा जा सकता था। स्पष्ट रूप से एक उपकरण पर रीडिंग लेने की इस तरह की सत्यापन विधि से मानवीय त्रुटि को कम किया जा सकता है। साथ ही ये पांच वेधशालाएं पांच अलग–अलग शहरों में स्थित हैं। इस प्रकार पृथ्वी के अलग–अलग हिस्सों से कोई भी आकाशीय पिण्डों की स्थिति की रीडिंग की जांच कर सकता है और दुबारा इस पूरे परिणाम की पुष्टि भी कर सकता है। यह हमारे अतीत के खगोलविद्ों के दिमाग में वैज्ञानिक जांच प्रक्रिया की मज़बूत पकड़ को व्यक्त करता है।

जंतर–मंतर को बनाने के पीछे के विचार आर्यभट्ट, वाराहमिहिर, भास्कराचार्य और अन्य द्वारा लिखे गए प्राचीन ग्रंथों से आए थे। प्राचीन भारतीय खगोलीय का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ पांचवीं और पंद्रहवीं शताब्दी

– जो कि भारतीय खगोलविज्ञान का शास्त्रीय युग था, के मध्य में संकलित किया गया था। इन कार्यों के बीच और अधिक परिचितों में आर्यभट्ट, आर्यभट्टसिद्धांता, पंच–सिद्धांतिका और लघुभा कार्यम जैसे महान लोगों के कार्य थे। प्राचीन भारतीय खगोलविद कई मामलों में उल्लेखनीय माने जाते हैं। यहां तक कि उनकी उपलब्धियां तब और चौंका देती हैं जब यह पता चलता है कि उन्होंने किसी भी प्रकार के दूरबीन का इस्तेमाल नहीं किया था। वे सौर–मंडल की सूर्य–केंद्रित सिद्धांत को लाए, ग्रहों के लिए गोलाकार की बजाय दीर्घवृत्ताकार कक्षाएं होती है, एक साल की लंबाई और पृथ्वी के आयाम की युक्तिपूर्वक सटिक गणना और यह विचार की रात के आकाश में दिखाई देने वाले अनगिनत तारों के समान सूर्य भी एक तारा ही है।

मध्यकाल के दौरान कहीं न कहीं खगोल विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति हो रही थी और खगोल विज्ञान और ज्योतिषी का मिश्रण बन कर उभरी थी। ज्योतिष के साथ इस संगठन ने भारतीय खगोल विज्ञान को पटरी से उतार दिया और अंधविश्वासों ने उस पर हावी होना शुरू कर दिया था। सचमुच में लोगों की दिलचस्पी रात के आसमान में अवलोकनों को बनाने में और इस कला में सुधार करने में रह गई थी। हालांकि लोगों ने यह समझना बंद कर दिया था कि इन अवलोकनों का क्या मतलब है। उपनिवेशवाद के साथ यूरोपीय स्कूल ऑफ एस्ट्रोनॉमी हमारे अपने द्वारा विस्थापित हैं। भारत की आज़ादी के पहले सामांता चंद्राशेखर अंतिम श्रेष्ठ खगोल विज्ञानी थे। उनकी किताब सिद्धांत दर्पण और यहां तक कि साधारण यंत्रों के इस्तेमाल से सटिक अवलोकनों ने उन्हें अंग्रेज़ों तक में प्रशंसा दिलाई।

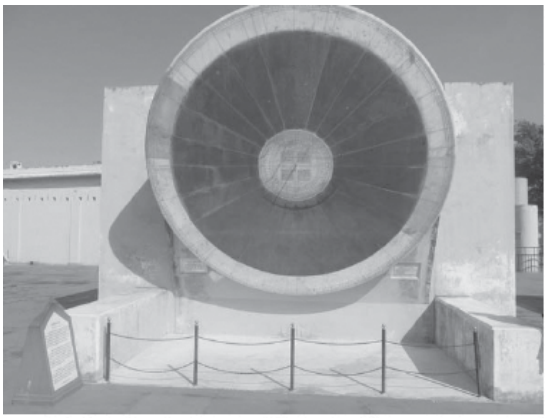

जयपुर वॉल्व यंत्र आपको सूरज की अर्धगोलाकार स्थिति बताता है।

वर्तमान युग में, भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम भौतिकी के क्षेत्र में दो बडे दिग्गजों होमी जहांगीर भाभा और विक्रम साराभाई द्वारा दिए गए योगदान पर खड़ा है । यह उनके अथक प्रयास थे जिसकी वजह से परमाणु ऊर्जा विभाग के अंतर्गत अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में काम करने की पहल की गई थी।

इस अवधि के दौरान भारत ने कुछ उल्लेखनीय खगोलविद् और खगोलभौतिकविद् निकले। खगोल भौतिकी में दो विश्व प्रसिद्ध नाम मेघनाद साहा और सुब्रमण्यन चंद्रशेखर थे। अवलोकन खगोलविज्ञान में हमारे पास डॉ. वेणु बापू थे, आज कि तारीख तक केवल भारतीयों में इनके नाम पर धुमकेतू का नाम है। डॉ. बापू को 1979 से 1982 तक अंतर्राष्ट्रीय खगोलीय संघ के अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित किया गया था।

इन्होंने ही भारत में अवलोकन खगोलविज्ञान को पुनर्जीवित किया था और उसे ऊंचाईयों तक ले गए। वर्तमान में पुणे के समीप खोदाद में स्थित विशालकाय मीटर–तरंग रेडियो टेलिस्कोप विश्व में अपनी तरह का सबसे बडा है। कावालुर वेधशाला का नाम डॉ. बापू के नाम पर है जो कि पूर्वी गोलार्ध में से एक है जो सबसे अच्छे यंत्रों से लैस है।

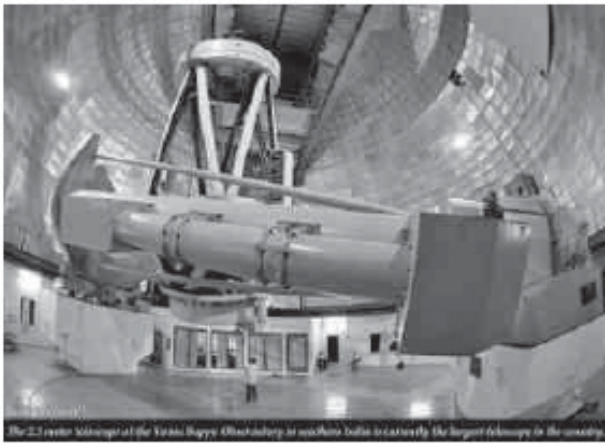

कावालूर वेधशाला

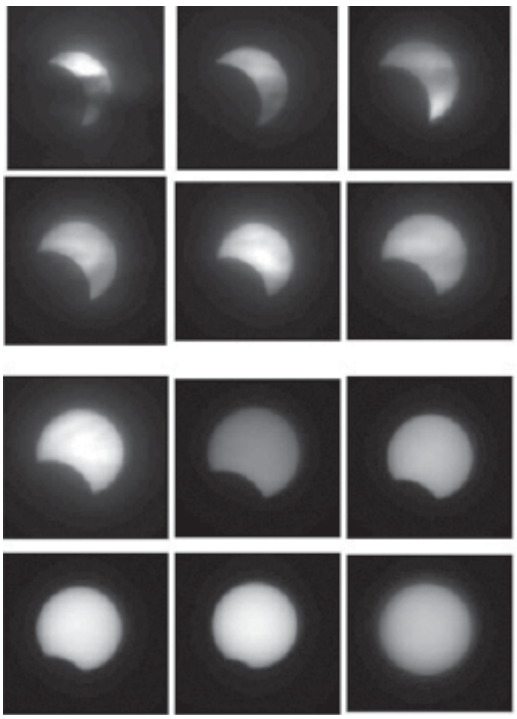

कावालूर वीबीओ द्वारा लिए गए आंशिक सूर्य ग्रहण के चित्र

जंतर–मंतर, भारत की प्राचीन खगोल विज्ञान वेधशालाएं और उनके कुछ यंत्र ऐतिहासिक भारतीय खगोल विज्ञान वेदांगा या वेदों के किसी एक ''सहायक विषयों'' के अध्ययन के सहयोग से विकसित हुआ एक रूप है। प्राचीनतम ज्ञात वेदांगा ज्योतिष ग्रंथ का समय 1400–1200 ईस्वी पूर्व का माना जाता है।

पांचवीं–छहठी शताब्दी में आर्यभट्ट जिसका आर्यभट्टीय उस समय के शिखर ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता था तब भारतीय खगोल विज्ञान चरम पर था। बाद में, भारतीय खगोल विज्ञान मुस्लिम खगोल विज्ञान, चीन के खगोल विज्ञान, यूरोप के खगोल विज्ञान और अन्य से भी काफी प्रभावित था। इस शास्त्रीय युग के दूसरे ज्ञाता जिन्होंने आर्यभट्ट के काम को विस्तार दिया उनमें ब्रह्मगुप्त, वारामिहिर और लाला शामिल थे।

एक पहचान खगोलीय परंपरा मध्ययुगीन काल में अठारहवीं सदी में भी सक्रिय रही, विशेष रूप से केरल के स्कूल ऑफ खगोलविज्ञान और गणित को संगमसंग्राम माधवन (1350–1425 ईस्वी) द्वारा स्थापित किया था।

खगोलविज्ञान के शास्त्रीय युग की शुरूआत गुप्त काल के अंत यानी पांचवीं से छठी शताब्दी में शुरू हुई थी। पंकासिद्धांतिका (वारामिहिर 505 ईस्वी) ने नोमोन या शंकु के तरीके का इस्तेमाल कर परछाई की तीनों स्थितियों का पता लगाकर मध्यान्ह दिशा के निर्धारण की विधि का अनुमान लगाया था।

एक बार महाराज मुहम्मद शाह के दरबार का दौरा करते समय जयपुर के महाराजा जय सिंह द्वितीय ने राजा की यात्रा की शुरूआत के लिए सबसे लाभदायक खगोल–सम्बंधी तारीख की गणना करने पर एक ज़ोरदार बहस सुनी। महाराज के लिए इस बहस ने खगोल विज्ञान के क्षेत्र में शिक्षा की ज़रूरत को बताया। और इससे सटिक गणना करने वाली वेधशाला बनाई जा सकी। इस ज़रूरत से जंतर–मंतर या मापन–यंत्र का जन्म हुआ।

जंतर–मंतर की संरचना में शामिल पत्थर, ईंटें और मार्बल में से प्रत्येक को खगोल विज्ञान के पैमाने और डिज़ाइन के अंतर्गत खास मकसद के लिए बनाए गए थे। मौलिक रूप से दिल्ली, जयपुर, मथुरा, उज्जैन और वाराणसी की वेधशालाएं बनाई गई थी और केवल मथुरा को छोडकर आज तक उनका अस्तित्व मौजूद है।

खगोल विज्ञान के लिए इस्तेमाल होने वाली नोमोन जिसे शंकु के नाम से जानते हैं को प्रयुक्त उर्ध्वाधर रॉड की छाया क्षैतिज तल में प्रमुख दिशाओं, अवलोकन बिन्दु के अक्षांश और अवलोकन के समय का पता लगाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। वारामिहिर, भास्कर, ब्रह्मगुप्त इन यंत्रों के कार्यों का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन समय में चूडी की तरह गोल अवलोकन में इस्तेमाल होता था और इसके कार्यों का ज़िक्र आर्यभट्ट (476 ईस्वी) में मिलता है। गोलादिपिका एक विस्तृत ग्रंथ गोलक के साथ 1380–1460 के बीच में परमेश्वर द्वारा रचा था। संभवतया सातवीं शताब्दी से या उसके बाद से चंद्र के तारों के जमघट का पता इसी गोलक द्वारा लगाया गया था। वहां एक खगोलीय ग्लोब भी था जिसे बहते पानी में घुमाया गया था।

इस सहज खगोलीय गोलक का आविष्कार मुगल भारत में हुआ था खासतौर से लाहौर और कश्मीर में जिसे प्रभावी खगोलीय यंत्रों में से माना जाता है और यह धातु विज्ञान व इंजीनियरिंग के उल्लेखनीय

कारनामों में से है। इस गोलक के पहले और बाद में बीसवीं शताब्दी में भी धातु–वैज्ञानिकों का विश्वास है कि बिना किसी निर्बाध के एक धातुई गोलक तकनीकी रूप से संभव नहीं था और यहां तक कि आधुनिक तकनीक के साथ भी इसका निर्माण संभव नहीं है।

जयपुर स्थित लघु सम्राट यंत्र

छोटी धूपघड़ी या लघु सम्राट यंत्र का इस्तेमाल समय की गणना करने के लिए किया जाता था। एक तरफ से, दीवार 27 डिग्री के कोण से झुकी हुई है जो कि जयपुर के अक्षांश के बराबर है। यह स्पर्श रेखा के पैमाने के क्रम, सूर्य के झुकाव कोण का पता लगाने के लिए थे।

सम्राट यंत्र

सम्राट यंत्र को विशाल धूपघड़ी में वर्णित किया जा सकता है। सचमुच में इसका मतलब है कि यह सभी यंत्रों का राजा है। यह केवल सभी यंत्रों में से बड़ा ही नहीं है बल्कि इसके निर्माण में बहुत अधिक शुद्धता और श्रेष्ठता भी है।

राशि वलय (राशि चिन्ह)

यह 12 यंत्रों का एक समूह है जिसके साथ वृत्त–खंड क्रम के दोनों ओर क्रम में लगे हैं। किताबों में इस तरह के निर्माण के उद्देश्य का वर्णन है कि ये 12 यंत्र सीधे आकाशीय अक्षांश और देशांतर का निर्धारण करते हैं। आकाशीय अक्षांश और देशांतर के अवलोकन की विधि वैसी ही है जैसी सम्राट यंत्र में वर्णित है, और सम्राट के वृत्त–खंड के समान ही ये भूमध्यरेखा को दर्शाता है, अवलोकन के समय राशिवलय का वृत्त–खंड ग्रहण को दर्शाता है। इन यंत्रों का निर्माण वैज्ञानिक तरीकों से किया गया है कि इन 12 में से एक उस वक्त इस्तेमाल होता है, जब प्रत्येक राशि स्थानीय भूमध्यरेखा में पहुंचती है।

राम यंत्र

राम यंत्र सूर्य की ऊंचाई को मापता है, शंकु क्षेत्र द्वारा पड़ी छाया की ऊंचाई के हिसाब से (अंधकारित ऊपरी बाईं तरफ का स्तंभ मध्य बाईं ओर)। इस चित्र में सूर्य द्वारा चमक का प्रतिबिंब मध्य भाग में स्थित पैमाना ग्रिड से हट जाता है। सूर्योदय और सूर्यास्त में छाया इस यंत्र के चारों ओर चलते हुए कम और ज़्यादा होती है। जब आकाश में सूर्य ऊंचाई और निचाई पर होता है तो उसके अनुसार छाया ऊंचाई और निचाई पर होती है ।

मिश्र यंत्र

दिल्ली की वेधशाला की एक खासियत है मिश्र यंत्र, जो कि किसी अन्य दूसरी वेधशालाओं में नहीं है। वास्तव में यह जंतर–मंतर की ऐसी अकेली संरचना है जिसका निर्माण जय सिंह द्वितीय ने नहीं करवाया था। मिश्र यंत्र को जय सिंह द्वितीय के बेटे महाराजा माधो सिंह द्वारा जोड़ा गया था। उन्होंने अपने पिता के प्रयासों को आधुनिकीकरण की दिशा में जारी रखा।

पांच अलग–अलग यंत्रों से मिश्र यंत्र बना, जिसमें छोटे–पैमाने वाले सम्राट या धूपघड़ी शामिल हैं। मिश्र यंत्र के आसपास दो स्तंभ हैं जो कि साल के सबसे छोटे और सबसे लंबे दिनों का संकेत देते हैं। यह विशाल यंत्र पूरे विश्व के शहरों की संख्या, जहां दोपहर होती है उनको भी दिखाता है।

कुछ प्रमुख प्राचीन भारतीय खगोलविद्

लगाथा (ईस्वी पश्चात पहली सदी): इन्होंने सबसे पहला खगोल विज्ञान ग्रंथ लिखा जिसका नाम वेदांगा ज्योतिका है। इसमें खगोलविज्ञान संबंधी कई विवरण मिलते हैं जिन्हें सामान्यतया सामाजिक और पारंपरिक क्रियाकलापों में इस्तेमाल किया जाता था। वेदांगा ज्योतिका में आनुभविक अवलोकन के लिए वर्णित खगोल विज्ञान संबंधी गणना, कैलेंडर अध्ययन और स्थापित नियम थे। 1200 ईस्वी में लिखे गए ग्रंथ में व्यापक रूप से धार्मिक रचनाएं थीं। वेदांगा ज्योतिका का सम्बंध भारतीय ज्योतिष शक्ति के साथ था। और इसमें समय और मौसम से सम्बंधित कई प्रमुख पहलुओं पर विस्तृत जानकारी है, इसमें चंद्र मास, सौर मास और आधिमास के चंद्र मास द्वारा समायोजन भी शामिल हैं। युगों और ऋतुओं का भी वर्णन है। 27 तारामंडल, ग्रहण, सात ग्रह और 12 राशि चक्र के संकेत भी इस समय तक ज्ञात थे।

आर्यभट्ट (476–550 ईस्वी): आर्यभट्ट आर्यभट्टीय और आर्यभट्टसिद्धांता के लेखक थे। स्पष्ट रूप से आर्यभट्ट ने उल्लेख किया था कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है जिसके कारण स्पष्ट रूप से तारों की गति पश्चिम की ओर जाती हुई प्रतीत होती है। आर्यभट्ट ने यह भी बताया कि चंद्रमा के चमकने के पीछे का कारण सूर्य के प्रकाश का परावर्तन है। आर्यभट्ट के अनुनायी प्रमुख रूप से दक्षिण भारत में हैं जहां पर उनके सिद्धांत विशेष तौर पर दूसरों के बीच, पृथ्वी के प्रतिदिन के घूर्णन का अनुगमन किया जाता है और एक संख्या के दूसरे काम इसी सिद्धांत पर आधारित थे।

ब्रह्मगुप्त (598–668 ईस्वी): ब्रह्मास्पूता–सिद्धांत (सही तौर पर ब्रह्मा के समय स्थापित हुआ था) भारतीय गणित और खगोलविज्ञान दोनों के साथ काम करता है। ब्रह्मगुप्त ने ग्रहों के तात्कालिक गति की गणना, लंबन के लिए सही समीकरण और ग्रहणों की गणना की। भारतीय विचार के गणित पर आधारित खगोलविज्ञान के काम को अरब देश में शुरू किया। उन्होंने यह भी अनुमान लगाया कि द्रव्यमान के साथ सभी आकाशीय पिण्ड पृथ्वी को आकर्षित करते हैं।

वारामिहिर (505 ईस्वी): वारामिहिर एक भारतीय खगोल विज्ञानी और गणितज्ञ थे जिन्होंने ग्रीक, इज़िप्ट और रोमन खगोलीय विज्ञान के कई सिद्धांतों का भी अच्छी तरह अध्ययन किया था। पंकासिद्धांतिका उनका एक ग्रंथ है और चित्रकारी का संग्रह कई स्रोतों से लिया गया है।

भास्कर प्रथम (629 ईस्वी): महाभास्कर्य, लघुभास्कर और आर्यभाट्यभाष्य (629 ईस्वी) में लेखक ने खगोलीय विज्ञान कार्य किए थे जो कि आर्यभट्ट की समीक्षा थी। भास्कर ने देशांतर के लंबन का निर्धारण, परिकल्पित तरीका, विषुवों और आयनकालों की गति, और सूर्य के किसी भी वृत्त–खंड को किसी भी दिए हुए समय के बारे में बताता है।

लाल्ला (8वीं सदी ईस्वी): लाल्ला उइस्याधिवरधिहधा के लेखक हैं जिन्होंने आर्यभट्ट की धारणाओं को ठीक किया। लाल्ला का शिष्याधिवर्धिदधा में खुद को दो हिस्सों में विभाजित किया है – ग्रहाधियाय में ग्रहों की गणना, ग्रहों के सही निर्धारण का माध्य, पृथ्वी की दैनिक गति से सम्बंधित तीन समस्याएं, ग्रहणों, ग्रहों का उदय और अस्त, चंद्रमा की विभिन्न कलाएँ ग्रहों और नक्षत्रों का मिलन, और सूर्य व चंद्रमा की पूरक स्थितियां शामिल हैं। दूसरे हिस्से में, गोलाधिय (अध्याय चौदह से बाईस) में ग्रहों की गति का चित्रात्मक वर्णन, खगोलीय यंत्रों के सुधार व त्रुटिपूर्ण सिद्धांतों की अस्वीकृति पर ज़ोर देता है। लाल्ला ने सिद्धांततिलका का भी लेखन किया था।

भास्कर द्वितीय (1114 ईस्वी): सिद्धांतासिरोमानी और करनकुतुहला (खगोलीय आश्चर्यों की गणना) का लेखन और ग्रहों की स्थितियों के अवलोकनों के बारे में रिपोर्ट किया। उन्होंने संगम, ग्रहणों, भू–विवरण, भूगोल, गणित खगोलीय यंत्रों का इस्तेमाल अपने शोध में किया जो कि उज्जैन में स्थित वेधशाला में स्थित है। वे इसके प्रमुख थे।

श्रीपति (1045 ईस्वी): श्रीपति एक खगोलविज्ञानी और गणितज्ञ थे। उन्होंने ब्रह्मगुप्त स्कूल का अनुगमन किया और सिद्धांतशेखर (स्थापित सिद्धांतों के शिखर) के लेखक रहे, इसमें उन्होंने 20 अध्यायों में कई नई अवधारणाओं को बतलाया जिसमें चांद की दूरी में असमानता भी शामिल है।

महेन्द्र सूरी (14 सदी ईस्वी): महेन्द्र सूरी यंत्र–राजा (यंत्रों के राजा, जिसे 1370 ईस्वी में लिखा गया था) एस्ट्रोलोब (वेधयंत्र) पर एक संस्कृत कार्य था। इसे 14वी सदी में तुगलक राज–वंश के दौरान फिरोज़ शाह तुगलक (1351–1388 सीई) ने भारत में पेश किया था। लगता है कि सूरी फिरोज़ शाह तुगलक के शासन में जैन खगोलविज्ञानी थे।

नीलकंठन सोमयाजी (1444–1544 ईस्वी)

1500 में नीलकंठन सौम्याजी जो कि केरला स्कूल ऑफ खगोलविज्ञानी और गणितज्ञ थे ने अपने तंत्रसंगाह में बुध और शुक्र ग्रहों के आर्यभट्ट मॉडल को संशोधित किया था। यहां तक कि योहानस केप्लर के समय 17वीं सदी तक इन ग्रहों के लिए इनकी समीकरणें केन्द्र में सबसे सटीक बनी रहीं थी। नीलकंठन सौम्याजी ने अपने आर्यभट्टयभाष्य जो कि आर्यभट्ट आर्यभट्य पर एक समीक्षा थी, उसमें आंशिक रूप से सूर्य केंद्रित ग्रहों के मॉडल के लिए खुद का कम्प्यूटेशन तंत्र विकसित किया था, इसमें बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि की कक्षा सूर्य, जो कि पृथ्वी की कक्षा में तब्दील हो जाती है। वे ज्योतिर्यमिमामसा के लेखक भी रहे, उन्होंने खगोलीय प्रेक्षण और खगोलीय अवलोकनों की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जिससे कम्प्यूटेशन के लिए सही मानकों को प्राप्त किया जा सका।

अच्यूता पिसरदी (1550–1621 ईस्वी):

स्पूतनिर्णय (सही ग्रहों का निर्धारण) मौजूदा विचारों के दीर्घवृत्ताकार सुधार का विवरण। स्पूतनिर्णय को बाद में रासीगोलसपूतानिति (राशिचक्रों के क्षेत्र के देशांतर कम्प्यूटेशन) में विस्तृत किया गया। दूसरा कार्य करानोटामा है जो कि ग्रहणों, सूर्य और चंद्रमा के बीच पूरक संबंध, और सही ग्रहों और माध्य की उत्पत्ति के साथ समझौता करते हैं। उपरागकरियाक्रम (कम्पूटिंग ग्रहणों की विधि), अच्यूत पिसरदी ने ग्रहणों की गणना के तरीकों में सुधार का सुझाव दिया।

***

16 अंतरिक्ष में भारतः एक उल्लेखनीय उपलब्धि

एक स्वप्न और उसका पूर्ण होना

हजारों वर्षों से मानव रात में आकाश को देखकर उसके रहस्यों को समझने का प्रयास करता रहा है। अंतरिक्ष में उड़ान भरने और खगोलिय पिंडों की दूरियों को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। लंबे समय से पोषित इस सपने को वास्तविकता में बदलने के लिए मानव ने ऐसे शक्तिशाली एवं समर्थ रॉकेट विकसित किए जो उपग्रहों और मानव को अंतरिक्ष में ले जा सकते हैं। अंतरिक्ष तक पहुँचने के बाद, विकसित रॉकेट उपग्रहों, रोबोट अंतरिक्ष यान या मनुष्य को ले जाने वाले अंतरिक्ष यान को पृथ्वी चक्र या हमारे सौर मंडल के अन्य स्थानों तक ले जाने में समर्थ हैं। अंतरिक्ष अन्वेषण के लिए मानव द्वारा अनेक युक्तियों को प्रक्षेपित करने के साथ ही मनुष्यों द्वारा पृथ्वी पर जीवन को सरल और सुरक्षित बनाने के प्रयास भी किए गए हैं। इस प्रकार, अंतरिक्ष की उपयोगिता सही मायने में क्रांतिकारी सिद्ध हुई है।

सबसे पहले हम 'अंतरिक्ष' शब्द को समझते हैं। आज जब हम अंतरिक्ष अनुसंधान या अंतरिक्ष उड़ान की बात करते हैं तो अंतरिक्ष शब्द से पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर का क्षेत्र परिभाषित होता है। आज, कई वैज्ञानिकों का मानना है कि पृथ्वी की सतह से लगभग 100 किलोमीटर की ऊंचाई पर अंतरिक्ष शुरू होता है। इस प्रकार, सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, तारे और आकाशगंगाएं सहित सभी खगोलीय पिंड अंतरिक्ष में हैं। अंतरिक्ष में कृत्रिम उपग्रह पृथ्वी के आसपास घूमते हैं। आज जिस विशाल अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन में मानव रह रहा है वह भी अंतरिक्ष में पृथ्वी के चक्कर काट रहा है।

भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम की विशिष्टता

भारत विश्व के कुछ उन गिने–चुने देशों में जिन्होंने जनमानस के कल्याण के लिए अंतरिक्ष अन्वेषण और उसके उपयोग करने की चुनौती स्वीकार की है। इसके लिए, देश ने ऐसी विभिन्न प्रौद्योगिकियों का विकास किया है जिनको कुछ अन्य देशों ने विकसित किया है।

अंतरिक्ष के क्षेत्र में भारत की उपलब्धियां डॉ. विक्रम साराभाई की दूरदर्शीता का परिणाम है। साराभाई एक महान स्वप्नदर्शी होने के साथ ही उन सपनों को साकार करने की राह सुझाते थे। भारत के तीव्र और समग्र विकास में अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी की शक्ति में उनका दृढ़ विश्वास था।

डॉ. साराभाई के बाद भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम के प्रमुख के रूप में कार्य करते हुए प्रो. सतीश धवन ने स्वदेशी प्रयासों के माध्यम से अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के विकास में अहम योगदान दिया। उन्होंने देश के अंतरिक्ष कार्यक्रम की जरूरतों को पूरा करने के लिए भारतीय उद्योगों की भागीदारी पर जोर दिया। प्रो. सतीश धवन के उत्तराधिकारियों के रूप में प्रो. यू. आर. राव, डा. के. कस्तूरीरंगन, डॉ. जी माधवन नायर

और डॉ. राधाकृष्णन ने अपने स्वयं के अद्वितिय प्रयासों से भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम को अहम स्थान पर पहुंचाया।

विक्रम साराभाई

आरंभ

आज भारत को कई अंतरिक्ष गतिविधियों के संचालन के बाद विश्व के कुछ प्रमुख देशों में से एक माना जाता है। हालांकि, भारत सरकार द्वारा भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम को सन् 1962 में अंतरिक्ष अनुसंधान पर भारतीय राष्ट्रीय समिति के गठन के साथ मामूली तौर पर शुरू किया था। 21 नवंबर, 1963 में तिरुवनंतपुरम के निकट थुम्बा से 28 फुट लंबे एक अमेरिकी ध्वनि रॉकेट 'निक आपचे' के प्रक्षेपण के साथ औपचारिक तौर पर अंतरिक्ष संबंधी कार्यक्रम आरंभ हुए। इसके द्वारा ऊपरी वायुमंडल में हवाओं के अध्ययन के लिए एक छोटा सा फ्रेंच पेलोड (वैज्ञानिक उपकरण) ले जाया गया था। ध्वनि रॉकेट एक छोटा अनुसंधान रॉकेट था जो ऊपरी वायुमंडल और अंतरिक्ष के अध्ययन करने के लिए उपकरणों को ले गया था। यह प्रक्षेपित उपग्रह नहीं था।

लगभग 50 साल बाद, 9 सितंबर, 2012 को भारत ने अपने 100वें अंतरिक्ष मिशन का जश्न मनाया। इस ऐतिहासिक मिशन को भारत के ध्रुवीय उपग्रह प्रक्षेपण यान (पीएसएलवी–सी 21) द्वारा पूरा किया

'निक आपचे' का प्रक्षेपण

गया जिसके द्वारा एक फ्रांसीसी और एक जापानी उपग्रह, जिनका कुल भार लगभग 750 किलो था, को पृथ्वी की कक्षा में स्थापित किया गया। इससे भारत की अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी की यात्रा की झलक मिलने के साथ ही अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी में भारत की महारत के बारे में पता लगता है।

1960 के दशक के दौरान, भारत ने मुख्यतया ध्वन्यात्मक रॉकेटों के माध्यम से अंतरिक्ष अनुसंधान को पूर्ण किया। लेकिन, देश ने संचार उपग्रहों के माध्यम से जमीनी स्टेशन स्थापित करके विभिन्न उपयोगी प्रयोगों को संचालित किया।

पीएसएलवी–सी 21 भारत का 100वां प्रक्षेपित अंतरिक्ष अभियान था

भारत की अंतरिक्ष क्षमता

भारत के अंतरिक्ष विभाग के माध्यम से देश के अंतरिक्ष कार्यक्रम को लागू करने की जिम्मेदारी अंतरिक्ष एजेंसी भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन पर है जिसे व्यापक रूप से 'इसरो' के नाम में जाना जाता है। इसकी स्थापना सन् 1969 में की गयी थी। इसी वर्ष मनुष्य ने पहली बार चंद्रमा पर कदम रखा था।

वर्तमान में इसरो के विभिन्न केन्द्र पूरे भारत में फैले हुए हैं। इनमें से एक तिरुवनंतपुरम में स्थित विक्रम साराभाई अंतरिक्ष केंद्र (वीएसएससी) है जो विशाल उपग्रहों को लांच करने में एवं सक्षम रॉकेटों की डिजाइन करने में समर्थ हैं। इसी शहर में तरल प्रणोदन प्रणाली केंद्र (एलपीएससी) स्थित है जो तरल रॉकेट इंजनों का विकास करने के साथ ही अधिक कुशल और अत्यधिक जटिल क्रायोजेनिक रॉकेट इंजन विकसित करता है।

बैंगलोर को भारत के अंतरिक्ष शहर के रूप में भी जाना जाता है। यहां पर भारतीय उपग्रहों के निर्माण करने वाली संस्था इसरो उपग्रह केंद्र (आईएसएसी) सहित अंतरिक्ष संबंधित अनेक सुविधाएं प्रदान करने वाली संस्थाएं कार्यरत हैं। प्रसिद्ध अंतरिक्ष यान चंद्रयान–1, जिसने चंद्रमा पर पानी की निर्णायक खोज की है उसे भी यहीं बनाया गया था। हालांकि, इसरो का मुख्यालय और भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम का परिचालन करने वाला अंतरिक्ष विभाग भी बैंगलोर में ही स्थित है। इसरो के अहमदाबाद स्थित अंतरिक्ष अनुप्रयोग केंद्र द्वारा उपग्रहों के लिए इस तरह के पेलोड विकसित किए जाते है।

नेशनल रिमोट सेंसिंग सेंटर (एनआरएससी) इसरो का एक अन्य महत्वपूर्ण केंद्र है। यह हैदराबाद में स्थित है। यह भारत के दूरसंवेदी उपग्रहों द्वारा भेजे गए चित्रों को रेडियो तरंगों के रूप में प्राप्त करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है।

एनआरएससी ऐसे चित्रों को सटीक बनाने और उनका विवरण स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए उन चित्रों को संसाधित (प्रोसेस) करता है। केंद्र उन चित्रों को व्यवस्थित ढंग से संग्रहित करते हुए उन्हें भारत में वितरित करता है।

बंगाल की खाड़ी में श्रीहरिकोटा द्वीप पर इसरो का सतीश धवन अंतरिक्ष केंद्र स्थापित है। यह स्थान भारत के अंतरिक्ष बंदरगाह के नाम से विख्यात है। श्रीहरिकोटा, चेन्नई के उत्तर में लगभग 80 किमी दूर आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले में स्थित है। यहीं से भारत में निर्मित 38 रॉकेटों को अंतरिक्ष की ओर प्रक्षेपित (अप्रैल 2013 तक) किया गया है। यहां पर विशाल उपग्रह प्रक्षेपण वाहनों को इकट्ठा करने के साथ ही उन्हें प्रक्षेपित करने और ट्रैक करने की सुविधा मौजूद है।

उपग्रह युग में

1970 के दशक में, भारत ने अपने पहले उपग्रह आर्यभट्ट के प्रक्षेपण के साथ अंतरिक्ष में एक विशाल छलांग लगाई। प्रसिद्ध भारतीय खगोलशास्त्री के नाम पर प्रक्षेपित इस उपग्रह का प्रक्षेपण के दौरान वजन लगभग 360 किलोग्राम था।

आर्यभट्ट कई तलों (बहुतल) के साथ एक बड़े बॉक्स की तरह दिखता था। उपग्रह की पूरी सतह को सोर सैलों से ढका गया था जो सूर्य प्रकाश के संपर्क में आने पर विद्युत उत्पादित करते थे। उपग्रह की तरह एक परिष्कृत उपकरण के निर्माण में शामिल चुनौतियों को समझने के लिए आर्यभट्ट का निर्माण किया गया था। फिर भी, यह एक वैज्ञानिक उपग्रह था, क्योंकि यह सूर्य, दूर के खगोलीय पिंडों और पृथ्वी के आयनमंडल का अध्ययन करने वाले तीन वैज्ञानिक उपकरणों को ले गया था। 19 अप्रैल, 1975 को सोवियत संघ के एक रॉकेट द्वारा आर्यभट्ट को पृथ्वी से 600 किलोमीटर ऊंची एक कक्षा में स्थापित किया गया। आर्यभट्ट ने भारत के उपग्रह कार्यक्रम की आधारशिला रखी। भारतीय वैज्ञानिकों ने आगे बढ़ते हुए भास्कर 1 उपग्रह के निर्माण का कार्य शुरू किया। इस उपग्रह का लक्ष्य पृथ्वी के अवलोकनों से संबंधित था।

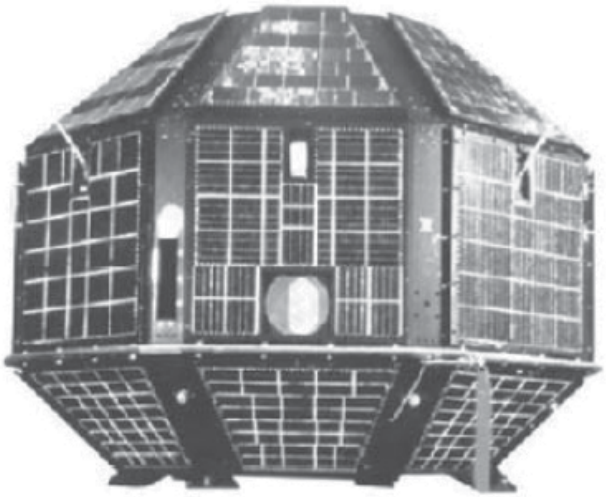

आर्यभट्ट उपग्रह

जून 1979 में भास्कर उपग्रह को भी सोवियत संघ के एक रॉकेट द्वारा कक्षा में स्थापित किया गया। यह पृथ्वी की सतह की तस्वीरें लेने के लिए अपने साथ एक टीवी कैमरा भी ले गया। इसके अलावा, यह अपने साथ एक 'माइक्रोवेव रेडियोमीटर' भी ले गया था जो पृथ्वी का अध्ययन करने वाला एक उपकरण था। इसी तरह एक अन्य उपग्रह, भास्कर द्वितीय को

सोवियत संघ के रॉकेट द्वारा 1981 में प्रक्षेपित किया गया था। भास्कर कार्यक्रम से प्राप्त अनुभवों ने भारतीय सुदूर संवेदन (इंडियन रिमोट सेंसिंग–आईआरएस) उपग्रह कार्यक्रम के लिए नींव तैयार की।

भू–समकालिक कक्षा पृथ्वी की, सतह से 36,000 किलोमीटर की ऊंचाई पर स्थित होती है, जो निश्चित रूप से, पृथ्वी से चंद्रमा की दूर का लगभग दसवां हिस्सा है। इस ऊंचाई पर स्थित उपग्रह पृथ्वी का एक पूरा चक्कर 24 घंटे में लगाता है, इतने ही समय में पृथ्वी अपने अक्ष पर एक पूरा चक्कर भी लगाती है। क्योंकि पृथ्वी अपनी ही धुरी के चारों ओर घूमने में 24 घंटों का समय लेती है इसीलिए उपग्रह की गति पृथ्वी की कक्षा के साथ मिलायी जाती है। इस प्रकार इसका नाम 'भू–समकालिक कक्षा' है। इस तरह भूमध्य रेखा के ऊपर स्थित कक्षा में स्थापित किए गए उपग्रह को भूस्थिर उपग्रह कहा जाता है।

1970 के दशक के अंतिम समय और 80 के दशक में, इसरो के वैज्ञानिकों ने रोहिणी श्रृंखला के उपग्रहों का निर्माण करते हुए उपग्रहों के निर्माण में अतिरिक्त अनुभव प्राप्त किया। रोहिणी उपग्रहों को भारत के पहले स्वदेशी प्रक्षेपण यान एसएलवी–3 द्वारा प्रक्षेपित किया गया था।

विकास के एक माध्यम के रूप में उपग्रह

1980 के दशक के आरंभिक दौर में, कृत्रिम पृथ्वी उपग्रहों के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय उपग्रह–1बी (इनसैट–1बी) द्वारा भारत में टेलीविजन प्रसारण और दूरसंचार क्षेत्रों में अभूतपूर्व वृद्धि दर्ज की गयी। इनसैट–1 श्रृंखला का दूसरा उपग्रह था। अपने पूर्ववर्ती इनसैट–1ए की विफलता की वजह से भारतीय अंतरिक्ष वैज्ञानिक इसे लेकर बहुत ज्यादा चिंतित थे, लेकिन इनसैट–1 बी ने बहुत ही कम और अकल्पनीय समय में भारत में दूरसंचार, टेलीविजन प्रसारण और मौसम की भविष्यवाणी आदि क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन किया।

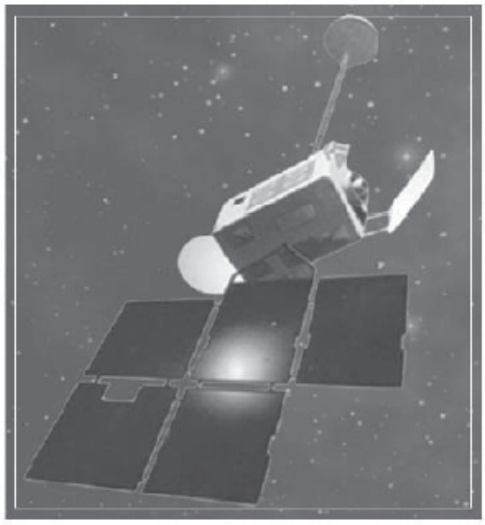

इनसैट–1बी

इनसैट–1बी द्वारा देश भर में टेलीफोन, टेलीग्राफ और फैक्स जैसी आवश्यक दूरसंचार सुविधाओं के विस्तार में तेजी लायी गयी। भारत की ग्रामीण आबादी तक आसानी से ऐसी सुविधाओं की पहुँच ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर जबरदस्त प्रभाव डाला था। इनसैट–1 बी के माध्यम से, पहाड़ों, दुर्गम और अलग–थलग समझे जाने वाले क्षेत्रों जैसे उत्तर और उत्तरपूर्वी भारत सहित अंडमान और लक्षद्वीप जैसे द्वीपीय प्रदेशों को तेजी से राष्ट्रीय मुख्यधारा में लाया जा सका।

स्वदेश निर्मित इनसैटों की सेवाओं का विस्तार

स्वदेश में निर्मित इनसैट–2 उपग्रहों की सेवाएं आरंभिक उपग्रह इनसैट–1 की तुलना में डेढ़ गुनी एवं भार लगभग दोगुना था। इनसैट–1 की तरह यह भी दूरसंचार एवं टीवी प्रसारण के लिए ट्रांसपोंडर और मौसम

की निगरानी के लिए उपकरणों को ले गया। इसके अलावा, यह विशेष ट्रांसमीटरों द्वारा भेजे गए संवेदन संकट संकेतों एवं खतरे में फंसे हुए व्यक्तियों द्वारा प्रेषित संकेतों को भी ले गया था।

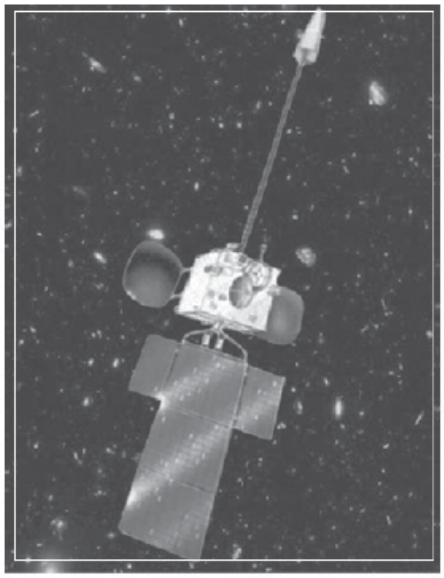

इनसैट–2ए

कुछ ही वर्षों में इनसैट–2 शृंखला के तीन और उपग्रहों को प्रक्षेपित किया गया। उनमें 'मोबाइल सेवा ट्रांसपोंडर' भी प्रक्षेपित किए गए थे जो उपग्रह और उपयोगकर्ताओं के बीच संचार की सुविधा प्रदान करते थे।

इन उपग्रहों के अलावा विशेष रूप से उल्लेखनीय उपग्रह जीसैट–3 या एडुसैट है, जो शैक्षिक क्षेत्र के लिए समर्पित उपग्रह है। इस उपग्रह ने इसरो के दूर शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से ग्रामीण छात्रों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आज, देश में एडुसैट नेटवर्क के माध्यम से 56,000 कक्षाएं चल रही हैं।

एडुसैट

इनसैट एवं जीसैट उपग्रहों द्वारा प्रदान की जाने वाली अन्य सेवाओं में टेलीमेडिसिन सेवा प्रमुख है। इसरो के टेलीमेडिसिन कार्यक्रम के अंतर्गत उपग्रह के माध्यम से दृश्य–श्रृव्य सुविधाओं की मदद से ग्रामीण अस्पतालों के रोगियों को शहरी क्षेत्रों के सुपर स्पेशियलिटी अस्पतालों के चिकित्सकों द्वारा परामर्श संपन्न कराया जाता है।

जीसैट उपग्रहों की शृंखला का एक और दिलचस्प पहलू जीसैट–8 और 10 हैं, जिन्हें क्रमशः 2011 और 2012 में प्रक्षेपित किया गया था, जिनमें 'गगन' नामक ट्रांसपोंडर था जो नेविगेशन संकेतों का प्रसारण करता है। अमेरिका के नेविगेशन उपग्रहों की जीपीएस शृंखला द्वारा प्रसारित नेविगेशन संकेतों को गगन कार्यक्रम द्वारा दक्ष एवं विश्वसनीय बनाने के साथ संकेतों की उपलब्धता को बढ़ाया गया। संचार उपग्रहों के अलावा, भारत ने बड़ी संख्या में दूसरे प्रकार के उपग्रहों का निर्माण भी किया। इनको सुदूर संवेदन उपग्रह कहा जाता है। वास्तव में, सुदूर संवेदी उपग्रहों के क्षेत्र में आज भारत दुनिया के शीर्ष देशों में शामिल है।

आकाश की आंखें

तो, ये दूरसंवेदी उपग्रहों क्या होते हैं? वो क्या करते हैं? वे समाज के लिए किस तरह उपयोगी होते हैं?

इन्हें समझने के लिए, सबसे पहले हम 'रिमोट सेंसिंग' यानी सुदूर संवेदन शब्द को समझना आरंभ करते हैं। जब हम रिमोट सेंसिंग कहते हैं, तो इसका मतलब है कि यह बिना किसी भौतिक संपर्क के एक वस्तु या एक घटना के बारे में जानकारी इकट्ठा करने का तरीका है। पृथ्वी से सैकड़ों किलोमीटर की ऊंचाई पर चक्कर लगा रहे उपग्रहों में बहुत ही उच्च संवेदनशील दूरसंवेदी कैमरे या रेडार लगे होते हैं। ऐसे उपग्रहों को दूरसेंवदी उपग्रह यानी रिमोट सेंसिंग उपग्रह के रूप में जाना जाता है। इनके द्वारा लिए गए चित्रों को रेडियो तरंगो के माध्यम से भूमिकेंद्रों तक पहुंचाते हैं। ऐसे चित्रों को जिनके विभिन्न रंगों को काली या सफेद में लिया जाता है, उनमें बहुत अधिक विवरण होता है। प्रशिक्षित वैज्ञानिक इन चित्रों को कम्प्यूटर के माध्यम से विश्लेषित और संसाधित कर उनसे बहुत सी बातों को समझने का प्रयास करते हैं। सुदूर संवेदन उपग्रहों से प्राप्त चित्रों के अन्य उपयोगों में भूजल उपलब्धता, चट्टानों के रंग के माध्यम से खनिज जमाव, पर्यावरण आंकलन, प्रदूषण स्तर एवं बंजर भूमि का विकास आदि शामिल है।

ज्ञान के लिए जिज्ञासा

संचार उपग्रह, मौसम उपग्रह और दूरसंवेदी उपग्रह ऐसे उपग्रह हैं जिन्होंने हमारे जीवन को आसान और सुरक्षित एवं दिलचस्प बनाया है। इसके अलावा, इसरो के वैज्ञानिकों द्वारा बनाए गए वैज्ञानिक उपग्रहों द्वारा मानव की ज्ञानपिपाषा को शांत करने सहित विशेष रूप से हमारे ब्रह्मांड को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

चंद्रयान–1 नामक उपग्रह ने और अधिक सटीक होने के साथ ही अंतरिक्ष यान की कुशलता से भारतीय वैज्ञानिकों के कौशल को वैश्विक ख्याति दिलाई। क्योंकि चंद्रयान–1 स्थायी रूप से पृथ्वी का गोल चक्कर लगाने के बजाय अन्य खगोलीय पिंड की ओर भी गया था, इसलिए इसे एक उपग्रह कहने की बजाय एक अंतरिक्ष यान कहना अधिक उपयुक्त होगा है।

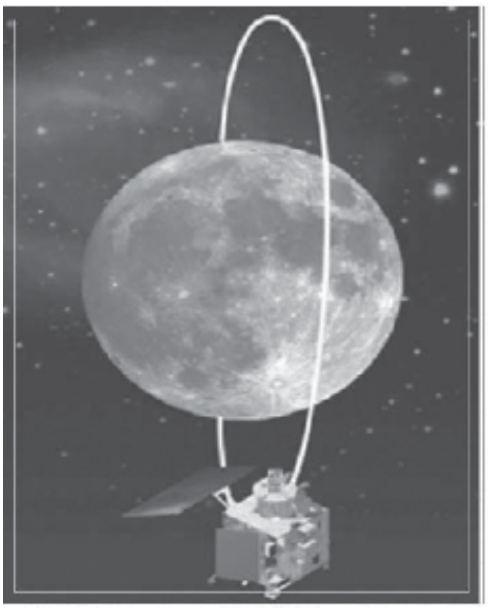

कक्षा में परिक्रमा लगाते चंद्रयान–1 का काल्पनिक दृश्य

चंद्रयान–1 ने कम लागत में सार्थक विज्ञान गतिविधियों में भारत की क्षमता, एक सहकारी अंतरिक्ष उद्यम में नेतृत्व करने का सामर्थ्य और निर्धारित समय के भीतर आवश्यक प्रौद्योगिकी को विकसित करने की क्षमता सहित कई चीजों का प्रदर्शन किया। चंद्रयान–1 ने विश्व को भारत की ओर ध्यान देने का गौरव और भारत को सम्मान दिलाने के साथ ही देश के अंदर विद्यार्थी समुदाय को विज्ञान की ओर आकर्षित किया। चंद्रयान–1 न केवल भारतीय अंतरिक्ष

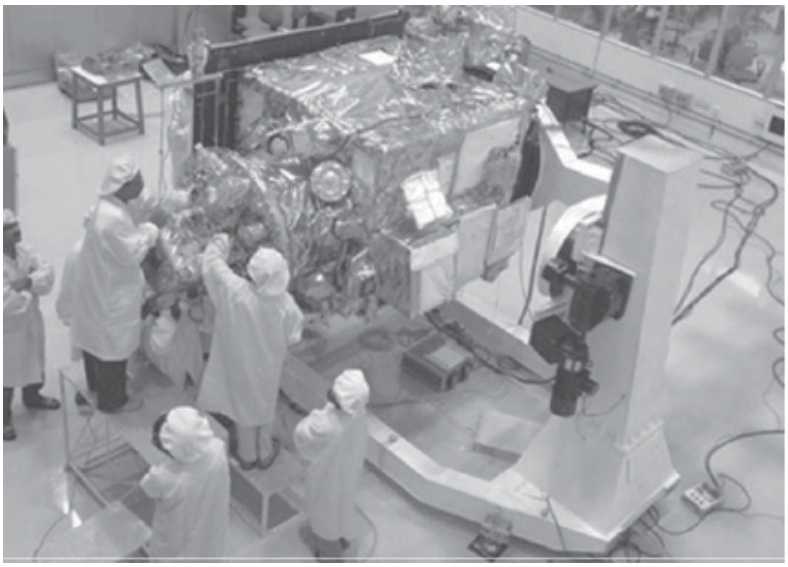

चंद्रयान–1 अंतरिक्ष यान परीक्षण चरणों से गुजरता हुआ

कार्यक्रम के इतिहास में मील का पत्थर बन गया बल्कि इसने भारत के ही इतिहास में भी एक प्रमुख स्थान हासिल किया।

चंद्रयान–1 के मुख्य उद्देश्यों में से एक है चंद्रमा के बारे में ज्ञान का विस्तार करना, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी में आगे विकास करना विशेष रूप से उपग्रह या अंतरिक्ष यान के 'उपकरणों' का लघुरूपण करना और भारत के युवा वैज्ञानिकों की एक पीढ़ी को शोध कार्य के लिए चुनौतीपूर्ण अवसर उपलब्ध कराना था।

एक इसरो वैज्ञानिक चंद्रयान–1 के मून इम्पेक्ट प्रोब का निरीक्षण करते हुए

चंद्रयान–1 से संचार स्थापित करने वाला 32 मीटर एंटीना

चंद्रयान ने दूसरे खगोलीय पिंड पर पहुंचने की सफलता को साबित करने के अलावा, चंद्रयान–1 ने चित्रों सहित बहुत अधिक मात्रा में वैज्ञानिक आंकड़ों को एकत्र किया। चंद्रयान–1 ने चंद्रमा पर पानी के अणुओं का पता लगाया था। यह वास्तव में एक ऐतिहासिक खोज थी।

चंद्रयान–1 को चंद्रमा पर भेजने से पहले वैज्ञानिक चंद्रमा पर पानी की उपस्थिति को लेकर आश्वस्त नहीं थे। तो यह भारत का चंद्रयान–1 ही था जिसने चंद्रमा पर पानी को खोजा। इसके अलावा वैज्ञानिक चंद्रमा की विभिन्न सतहों की ऊंचाई और गहराई को समझने में भी समर्थ हो सके। चंद्रयान–1 अंतरिक्ष में भारत की सफलता का एक प्रतीक बन गया है।

अंतरिक्ष से वापिस लाना

इसरो की एक और उल्लेखनीय उपलब्धि अंतरिक्ष से किसी वस्तु को सुरक्षित रूप से वापस लाने से संबंधित है। इस संबंध में किए गए प्रयोग को स्पेस कैप्सूल रिकवरी एक्सपेरीमेंट–1 (एसआरई–1) कहा जाता था। 10 जनवरी, 2007 को पीएसएलवी के माध्यम से 550 किलो वजनी एसआरई–1 को प्रक्षेपित किया गया। इसने अगले 12 दिनों तक पृथ्वी सतह से 600 किलोमीटर की ऊंचाई पर परिक्रमा करते हुए दो प्रयोग किए। इस प्रकार, भारत को पहले ही प्रयास में अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किए गए उपकरणों को वापिस लाने में सफलता मिल गयी।

एक ही रॉकेट के माध्यम से 20 उपग्रहों का प्रक्षेपण
मितव्ययी इंजीनियरिंग का एक उदाहरण

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) ने 22 जून 2016 को एक ही रॉकेट के माध्यम से 20 उपग्रहों को प्रक्षेपित करके एक मील का पत्थर स्थापित किया। इसने एक ही मिशन में 10 उपग्रहों को प्रक्षेपित

करने के अपने ही रिकॉर्ड को तोड़ दिया। रूसी रॉकेट द्वारा 2004 में एक ही मिशन में 37 उपग्रहों को प्रक्षेपित करने के रिकॉर्ड के बाद भारत का स्थान दूसरा है। इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक मिशन के अंतर्गत, पीएसएलवी सी 34 रॉकेट ने प्राथमिक कार्टोसैट–2 शृंखला उपग्रह के अलावा भारतीय विश्वविद्यालयों (सत्याभामा विश्वविद्यालय, चेन्नई और कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, पुणे) के दो उपग्रहों और गूगल कंपनी के लिए एक उपग्रह सहित 17 विदेशी उपग्रहों को प्रक्षेपित किया। 725.5 किलोग्राम के कार्टोसैट–2 शृंखला के उपग्रह का उपयोग पृथ्वी के अवलोकनों और कार्टोग्राफिक अनुप्रयोगों, शहरी और ग्रामीण अनुप्रयोगों, तटीय भूमि के उपयोग और विनियमन और सड़क नेटवर्किंग जैसे उपयोगिता प्रबंधन में उपयोगी होगा।

बंगाल की खाड़ी के ऊपर एसआरई–1 को वापिस लाया गया

वहां कक्षा में 35 भारतीय उपग्रह हैं और इनके अलावा विदेशी कंपनियों के साथ अनुबंध करार पर हस्ताक्षर किए जाने के बाद 70 उपग्रहों को अगले पांच साल में प्रक्षेपित किए जाने की जरूरत है। इसलिए इसरो एक मिशन की तुलना में अधिक विभिन्न लांच मिशन के लिए जाना जाएगा।

भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम विदेशी राजस्व प्राप्त करने के महत्वपूर्ण स्रोतों में से एक है। इसरो की वाणिज्यिक शाखा ने पिछले वित्तीय वर्ष के दौरान लगभग 1800 करोड़ रुपये का राजस्व अर्जित किया है, और इस राजस्व का एक बड़ा हिस्सा ट्रांसपोंडरों को पट्टे पर देकर प्राप्त किया गया था। 2016–17 के दौरान श्रीहरिकोटा से विभिन्न उपग्रहों का प्रक्षेपण किया जाएगा।

अन्य देशों की तुलना में काफी कम बजट होने के कारण भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम विदेशी कंपनियों को अपनी ओर आकर्षित करता है। न्यूनतम बजट से अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले इंजीनियरिंग कार्यक्रम को मितव्ययी इंजीनियरिंग कहा जाता है। भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम मितव्ययी इंजीनियरिंग का सबसे अच्छा उदाहरण है।

चंद्रयान मिशन की सफलता के बाद मंगल मिशन या मंगलयान के माध्यम से मंगल ग्रह की खोज संबंधी प्रयास आरंभ किए गए। भारत पहले ही प्रयास में मंगल ग्रह की कक्षा में पहुंचने वाला पहला देश बना। मंगलयान की सफलता से भारत को अंतग्रहीय अभियानों में महारत हासिल राष्ट्रों की श्रेणी में रखा गया है।

एयर ब्रिथर प्रणोदन प्रणाली और स्क्रेमजेट रॉकेट इंजन के सफल परीक्षणों ने भारत को दुनिया के अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी दिग्गजों के बीच स्थान दिलाया है। विदेशी उपग्रह प्रक्षेपण संबंधी एंट्रिक्स कॉरपोरेशन के साथ हुए समझौतों के बाद, भविष्य में सरकारी अंतरिक्ष एजेंसी के रूप में इसरो की विकास यात्रा दिनोंदिन बढ़ती जाएगी।

***

17 गुरुत्वीय तरंगों की खोज – भारतीय योगदान

गुरुत्वीय तरंगों की खोज बीसवीं और इक्कीसवीं सदी की एक असधारण खोज है। हालांकि 100 वर्षों पहले अल्बर्ट आइंस्टीन द्वारा सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत के आधार पर गुरुत्वीय तरंगों के अस्तित्व की अवधारणा को अनुमान लगाया था। यह भी रोचक तथ्य है कि स्वयं आइंस्टीन को इस बात पर विश्वास नहीं था कि गुरुत्वीय तरंगों को प्रयोगशाला में खोजा जा सकता है। लेकिन उनका ऐसा मानना क्यों था ? क्योंकि गुरुत्वीय तरंगों का आयाम अत्यधिक छोटा (10^{-21} मीटर) था और इस अत्यधिक छोटे यानी एक प्रोटॉन के व्यास के दस लाखवें हिस्से में होने वाले विस्थापन के मापन संबंधी प्रयोग करना संभव नहीं था।

इस सिद्धांत की सुंदरता के आधार पर प्रयोगवादियों ने छोटे से विस्थापन का पता लगाने के लिए उचित प्रयोगों को डिजाइन किया। पिछले 25 वर्षों से 25 से अधिक देशों से लगभग 1000 वैज्ञानिकों ने सक्रिय रूप से इस प्रयोग में कार्य किया। इस प्रयोग में भारत के विभिन्न शैक्षणिक और अनुसंधान संस्थानों के 37 भारतीय वैज्ञानिक भी शामिल हैं। 14 सितंबर, 2015 को वैज्ञानिकों ने 1.3 अरब साल पहले के गुरुत्वीय तरंगों का पता लगाने में समर्थ हो गए। वो अमेरिका में स्थित दो लेजर इंटरफेरोमीटर गुरुत्वाकर्षण वेधशालाओं (लाइगो) की सुविधाओं का उपयोग कर गुरुत्वीय तरंगों का अवलोकन करने में समर्थ हुए। उन्होंने सामान्य सापेक्षता के सिद्धांत का प्रयोग करके आइंस्टीन ने जिन तरंग पैटर्न की अवधारणा को प्रस्तुत किया था उनको प्रयोग द्वारा प्राप्त कर लिया गया।

आइंस्टीन ने दर्शाया था कि किसी विशाल पिंडों के आसपास स्थित अंतरिक्ष–समय वक्र होता है। और इस वस्तु के आसपास के क्षेत्र में किसी भी कण को एक सीधी रेखा के बजाय एक घुमावदार मार्ग पर खोजा जा सकता है। कण द्वारा लिए गए वक्र पथ को किसी विशाल पिंड के बल से प्रभावित होने पर दर्शाया जा सकता है। इनके द्वारा गुरुत्वीय क्षेत्र को उत्पादन होता है। एक विशाल पिंड के आसपास की वक्रता पिंड के द्रव्यमान पर निर्भर करेगी। ब्रह्मांड में किसी भी महत्वपूर्ण घटना द्वारा गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में विक्षोभ उत्पन्न होता है जिससे गुरुत्वीय तरंगें प्रसारित होती हैं लाइगो नामक इस वैश्विक प्रयोग में त्रिवेंद्रम और कलकत्ता स्थित आईसर, आईआईटी अहमदाबाद, टीआईएफआर, गणितीय विज्ञान संस्थान, चेन्नई, आयुका, पुणे, रमन अनुसंधान संस्थान, बेंगलौर और भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलूर आदि संस्थानों से 37 भारतीय वैज्ञानिक अपना योगदान दे रहे हैं।

यह मशीन जिसने वैज्ञानिकों को पहली बार गुरुत्वाकर्षण तरंगों की झलक दी वह सबसे उन्नत डिटेक्टरों में से है जो ब्रह्मांड में होने वाले अत्यंत छोटे कंपन के प्रति भी संवेदनशील है। अमेरिका स्थित इन दो भूमिगत डिटेक्टरों को लेजर इंटरफेरोमीटर गुरुत्वाकर्षण वेधशाला या संक्षिप्त नाम लाइगो से जाना

जाता है। वर्तमान में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के संयुक्त भारतीय अमेरिकी कार्यक्रम के तहत अमेरिका ने भारत को लगभग 14 करोड़ डॉलर की अनुमानित लागत के उपकरण प्रदान किए हैं। भारतीय लाइगो उपकरणों का नेतृत्व टीआईएफआर से प्रोफेसर सी एस उन्नीकृष्णन कर रहे हैं। प्रोफेसर उन्नीकृष्णन उन 137 लेखकों में से हैं जिन्होंने फरवरी 2016 में फिजिकल रिव्यू लेटर्स में शोध पत्र प्रकाशित किया है। यह आशा की जाती है कि भारतीय लाइगो कुछ वर्षों के दौरान कार्य करने लगेगा।

गुरुत्वीय तरंगों ने खगोल विज्ञान के लिए एक नयी राह खोल दी है। इस वेधशाला को इंडिगो और लाइगो द्वारा संयुक्त रूप से संचालित किया जाएगा और संयुक्त राज्य अमेरिका स्थित लाइगो डिटेक्टरों और इटली स्थित विर्गो के साथ एक समान नेटवर्क को स्थापित किया जाएगा। डिटेक्टर का डिजाइन संयुक्त राज्य अमेरिका स्थित लाइगो डिटेक्टरों के समान ही होगा।

***

18 संगमग्राम माधवन की खोजें

प्रस्तावना

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि वर्तमान में गणित जिस स्तर तक पहुंचा है उसमें सैंकड़ों सालों से भारतीय गणितज्ञों का योगदान है। इन गणितज्ञों में प्राचीन कालीन (आपस्तम्भ, पाथम्बा, बौधायन, कात्यायन, मानव, पाणिनी, पिंगला और याज्ञवल्क्य), शास्त्रीय (वररुचि, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त), मध्यकालीन (नारायण पंडित, भास्कराचार्य, संगमग्राम माधवन, निलकण्ठ सोमायाजि, ज्येस्ठदेव, अच्युता पिशराटि, मेलपथुर नारायण भात्ताथिरी, शंकररावरकन) और आधुनिक समय (श्रीनिवास रामानुजन, हरीश चंद्र, नरेंद्र कर्मकार, एस चंद्रशेखर, एसएन बोस) के गणितज्ञ शामिल हैं। भारतीयों द्वारा विकसित सुंदर संख्या पद्धति (जीरो और दशमलव पद्धति) को आधार बनाकर लाप्लास द्वारा गणितीय विकास किया गया जिसे उन्होंने भारत में विकसित ऐसी स्वदेशी विधि का नाम दिया जिसके दस संकेतों के समुच्चयों का उपयोग करके संभावित संख्या को व्यक्त किया जा सकता है। आज यह विचार इतना आसान लगता है कि इसके महत्व और प्रतिष्ठा को अधिक समय तक सराहा नहीं गया।

इसकी सरलता ने गणना की आधारशिला रखी और अंकगणित को उपयोगी आविष्कार के स्थान पर स्थापित किया। इस आविष्कार को उस समय ओर अधिक महत्व दिया गया जब माना गया कि यह पद्धति प्राचीन काल के दो महान आर्कमिडीज और अपोलोनियस से भी पहले की है। आइंस्टीन ने कहा था कि हमें भारतीयों का आभारी होना चाहिए जिन्होंने हमें गिनना सिखाया।

जब विश्व के बाकी देश ज्ञान से विहीन थे उस समय भारत में गणित विकसित हो रहा था। भारत में गणित का इतिहास लगभग 3000 साल पहले से आरंभ होता है जो शल्वसुत्र (800–600 ईसा पूर्व), आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, संगमसंग्राम माधव, नीलण्ठ सोमायाजी, ज्येस्ठदेव, शंकररावरकन से लेकर श्रीनिवास रामानुजन, एस एन बोस, हरिश चंद्रा, प्रशांत चंद्र महालानोबीस सहित आधुनिक समय में नरेंद्र कर्मकार, जयन्त विष्णु नारलीकर, और एस. आर. श्रीनिवासा वर्धन, ई सी जी सुदर्शन और थानु पद्मनाभन जैसे प्रमुख गणितज्ञों तक विस्तारित है।

संगमग्राम माधवन की खोज

मध्यकाल के गणितज्ञों में संगमसंग्राम माधवन का नाम प्रमुख स्थान पर है, जो गुरु–शिष्य परंपरा से जुड़ें थे। उनकी यह परंपरा 14वीं से 18वीं सदी तक चली जिसे केरल स्कूल ऑफ मैथेमेटिक्स के नाम से जाना जाता है। संगमसंग्राम माधवन और उनके स्कूल को पश्चिमी सभ्यता ने, श्री चार्ल्स विश द्वारा सन् 1834 में ट्रांससेक्शन ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड नामक जर्नल में प्रकाशित शोध पत्रों के शृंखला के कारण जाना। केरल स्कूल के एक सदस्य ज्येष्ठदेव के कार्य विशेष तौर पर उल्लेखनीय है जहां अन्य विद्वान अपने कार्यों को संस्कृत में लिख रहे थे, ज्येष्ठदेव ने गणित और खगोलविज्ञान की अपनी पुस्तक युक्तिभाषा या गणितन्यायसंग्रह को मलयालम में लिखा जिससे उनका कार्य अधिक लोगों तक पहुंच सका।

संगमग्राम माधवन का जन्म स्थान एवं समय

संगमग्राम माधवन का जन्म स्थान के बारे में एकमात्र ज्ञात उनकी पुस्तक वेण्वारोह (या वेनवारोहम) के तेहरवें श्लोक से पता चलता है, जो इस प्रकार हैः

Bekuladhishtitatwena viharoyo visishyate
Grihanamanisoyam syannigenamanimadhava.

उन्हें माधव के नाम से जाना जाता था उनका घर इरन्नलक्कुता कस्बे में था। उनका जन्म नाम इन्निनावाल्ली या इन्निननावाली माधवन नम्बूदिरी था। बाकुलम स्थानीय स्तर पर 'इरान्नी' के नाम से जाना जाता है। उनके घर का नाम इरिन्नाराप्पिली या इरिन्नरावल्ली था। उनका घर बेकुलविशिष्ठ विहार या मलयालम में इरनंजी (बेकुलम) निना पिलाई कहलाता था। इरिन्नाराप्पिली उनकी किसी समय इरिन्नारातिकुटल के नाम से जाना जाता था। उनके गांव का नाम संग्राम ग्राम था। उनके शिष्यों के लेखन कार्यों से उनके जीवन का समय 1350 से 1425 ईस्वी माना जाता है जो न्यूटन, ग्रेगौरी और लाइबनिट्ज के जन्म से लगभग 300 साल पहले का समय है।

संगमग्राम माधव का प्रमुख योगदान

हम जानते हैं कि शून्य और दशमलव संख्या प्रणाली की संकल्पना भारतीय गणितज्ञों का एक प्रमुख योगदान है। हम किसी एक व्यक्ति को शून्य का आविष्कारक नहीं बता सकते। यह संकल्पना वैदिक काल के दौरान भी थी। गणित की दुनिया में एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान अनन्त की संकल्पना है जिसका श्रेय संगमग्राम माधव को दिया जाना चाहिए। वह यह दर्शाने में समर्थ थे कि किसी सीमित पद या अनंन्त

पद का योग करके प्राप्त सीमित मान को अनन्त की श्रेणी में दर्शाया जा सकता है। यह रोचक बात ध्यान देने योग्य है कि शून्य और अनन्त का योगदान पूर्णतया भारतीय है जिसने भारतीय दर्शनशास्त्र को व्यापक स्तर तक प्रभावित किया। वहां भारतीय दार्शनिकों के मन में अनन्त की मौलिक संकल्पना हो सकती है। यही कारण था कि हमें ईशावास्य उपनिषद में यह श्लोक मिलता है:

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

जिसका अर्थ है वह अन्त है, यह अनन्त है, जब अनन्त में अनन्त का योग किया जाता है तब अनन्त ही बचता है और जब अनन्त से अनन्त घटाया जाता है तब भी अनन्त ही शेष बचता है। यही बात शून्य के लिए भी सही है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भूतसांख्य संख्याओं के निरूपण में भारतीय शून्य संख्या के साथ अंतरिक्ष तक अनन्त घात को प्रदर्शित किया है। त्रिकोणमीतीय में ज्या और कोज्या के लिए अनंत शृंखला की खोज संबंधी कार्य में संगमग्राम माधव ने अग्रणी भूमिका निभाई थी।

माधव ने अनंत शृंखला सूत्र का उपयोग करके पाई के मान का निरीक्षण करके उसे दशमलव के 11 स्थानों तक सहीं किया जो 3.14159265359 था। हालिया अध्ययन से दर्शाया गया है कि न्यूटन और लाइबनिट्ज के काफी समय पहले गणित की एक प्रमुख शाखा कलन का विकास केरल स्कूल में हुआ था। ज्येष्ठदेव की युक्तिभाष्य पुस्तक न्यूटन और लाइबनिट्ज से सैंकड़ों साल पहले लिखी गयी थी उसमें हमें समाकलन और अवलकन के सूत्र मिलते हैं। यह कहा जा सकता है कि युक्तिभाष्य विश्व की पहली पुस्तक थी जिसमें कलन के बारे में विस्तार से चर्चा की गयी थी।

संगमग्राम माधव का एक ओर महत्वपूर्ण योगदान ज्या के कोण की उनकी एक सारणी थी जो शून्य से लेकर 90 डिग्री तक 3.75 के अंतराल पर थी। संगमग्राम माधव गोलाकार ज्यामिति में भी विशेषज्ञ था इसीलिए उन्हें आमतौर पर 'गोलविद' (गोलाकार ज्यामिति में विशेषज्ञ) कहा जाता था।

***

19 जुलाई 2016 के बाद की नई उपलब्धियां

1. कार्टोसैट 2 और 103 अन्य उपग्रहों के सफल पीएसएलवी लांच के साथ एक इसरो ने अंतरिक्ष रिक,र्ड बनाया

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) ने भारत को गर्वान्वित किया जब उसने एक रॉकेट में 104 उपग्रहों को लॉन्च करके विश्व रिकॉर्ड बनाया। उपग्रह आंध्र प्रदेश के श्रीहरिकोटा से लॉन्च किए गए, और इसने भारत को इतनी विशाल संख्या में उपग्रहों को एक साथ लॉन्च करने वाला पहला देश बना दिया है।

भारत, अगर अपनी पिछली उपलब्धियों को छोड़ दे, तो वह रूस से काफी आगे निकल गया है। रूस ने सबसे पहले 37 उपग्रह लॉन्च करने का विश्व रिकॉर्ड बनाया था। रूस ने 2014 में अपनी उस उपलब्धि को हासिल किया था। इस रिकॉर्ड के बाद अमेरिकी अंतरिक्ष एजेंसी नासा ने एक मिशन में 29 उपग्रहों का शुभारंभ किया था। इसरो ने जून 2008 को पीएसएलवी सी 10 द्वारा पृथ्वी की कक्षा में 10 उपग्रहों को प्रवेश कराया था, तो यह उस समय का यह विश्व रिकॉर्ड था। लेकिन बाद में इसे रूसी और अमेरिकी रॉकेट द्वारा कई बार तोड़ दिया गया।

इसरो ने मंगलवार को लॉन्चिंग के लिए 28 घंटे की उलटी गिनती शुरू कर दी थी, जो कि किसी भी ध्रुवीय उपग्रह को लॉन्च करने के लिए सबसे समय अवधि थी। पीएसएलवी 37 इसरो का मुख्य उपग्रह

है और इसके 39वें मिशन पर, 104 उपग्रहों को ले जाया गया। यह भारत का एकल मिशन लॉन्च का दूसरा प्रयास है और पहली बार उसने एक बार में 23 उपग्रह लॉन्च किए थे। यह मिशन जून 2016 में लॉन्च किया गया था। भारत का सबसे शक्तिशाली रॉकेट XLVARIAN , जिसे महत्वपूर्ण चंद्रयान उपग्रह में इस्तेमाल किया गया था और मार्स आर्बिटर मिशन (MOM) के दौरान इस लॉन्च में भी इसरो के द्वारा इसका इस्तेमाल किया गया था। इस लॉन्च में, 100 उपग्रह विदेशी हैं, जिनमें से कुछ अमेरिका से भी हैं और शेष 3 भारत से संबंधित हैं, जो स्वयं ही एक बड़ी उपलब्धि है। इससे पहले, इसरो ने जनवरी के अंत तक 83 उपग्रहों को लॉन्च करने की योजना बनाई थी। लेकिन बाद में 20 और जोड़े गए। प्रधान मंत्री मोदी द्वारा संरक्षित दक्षिण एशियाई उपग्रह परियोजना मार्च 2017 में लॉन्च हुई और यह जी सैट 9 का हिस्सा था, जिसे मार्च 2017 में लॉन्च किया गया। इस बीच, मोदी जी ने पीएसएलवी सी 37 और कार्टोसेट (CARTOSAT) उपग्रह के सफल प्रक्षेपण के लिए 103 नैनोसेटेलाइट के साथ अंतरिक्ष संगठन को बधाई दी।

यह इसरो का 2017 में पहला अंतरिक्ष मिशन था और अब तक का सबसे जटिल मिशन भी। प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी और राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने इस ऐतिहासिक घटना के लिए अंतरिक्ष एजेंसी को बधाई दी थी जो भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम को काफी हद तक बढ़ावा देता है। पीएसएलवी सी 37/कार्टोसेट 2 श्रृंखला उपग्रह मिशन में प्राथमिक उपग्रह (कार्टोसेट 2) और 101 अंतर्राष्ट्रीय नैनो उपग्रह शामिल थे। इसने अपने दो नैनो उपग्रहों को लॉन्च किया, प्छै 1। और INS1 BAपीएसएलवी ने पहली बार ध्रुवीय सूर्य की समकालीन कक्षाओं तक पहुंचने के लिए प्छै 1 । और INS–1 Bके बाद, पृथ्वी का अवलोकन करके 714

किलो कार्टोसेट 2 श्रृंखला का एक उपग्रह लॉन्च किया। इसके बाद 664 किलोग्राम वजन वाले 103 सहयात्री उपग्रहों को इंजेक्ट करने के लिए भेजा गया।

2- उत्तर पूर्व में आपदाओं का मानचित्रण करने में इसरो ड्रोन मदद करते हैं

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) उपग्रहों में उत्तर पूर्वी राज्यों में आपदाओं का मानचित्रण करके और रिमोट सेंसिंग डेटा से जोड़कर ड्रोन का उपयोग कर रहा है। इस संबंध में, इसरो के शिलांग आधारित उत्तर पूर्वी अंतरिक्ष अनुप्रयोग केंद्र (एनआई एसएसी) ने विभिन्न समस्याओं और आपदाओं को मापने के लिए मानवरहित हवाई वाहन (यूएवी) का परीक्षण किया है।

मुख्य तथ्य यह है कि एनआई एसएसी ने यूएवी के डिजाइन और संयोजन के लिए पहल की है, पूर्वोत्तर क्षेत्र में कई क्षेत्रीय समस्याओं का आकलन करने के लिए विभिन्न अनुप्रयोग भी किया गया है। यूएवी आपदा प्रवण या भौतिक रूप से पहुंचने योग्य क्षेत्रों के लिए कुशल सर्वेक्षण कर सकते हैं। यह बाढ़, भूस्खलन और भूकंप के त्वरित नुकसान का मूल्यांकन कर सकता है और समय पर राहत उपायों को सक्षम बना सकता है। ये ड्रोन स्थल आधारित विवरण प्रदान करते हैं जो आम तौर पर इसरो के रिमोट सेंसिंग उपग्रहों के डेटा के साथ जुड़े होते हैं।

हाल ही में उनका उपयोग एनएच 40 मेघालय की जीवन रेखा के साथ भूस्खलन से प्रभावित क्षेत्र को मापने के लिए किया गया था। इसने असम के नारमारी गांव में कीट से प्रभावित धान के खेतों में होने वाली क्षति का आंकलन भी किया।

उत्तर पूर्वी अंतरिक्ष अनुप्रयोग केंद्र (एनआई एसएसी)

एनआई एसएसी, अंतरिक्ष विभाग (डीओएस) और उत्तर पूर्वी परिषद की संयुक्त पहल है। इसे वर्ष 2000 में शुरू किया गया था। यह उमियाम (शिलांग के नजदीक), मेघालय में स्थित है। इसका उद्देश्य अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी आधारित संचार और प्रौद्योगिकी का उपयोग कर उत्तर पूर्वी क्षेत्र में विकास सहायता प्रदान करना है। इसका जनादेश उच्च प्रौद्योगिकी आधारभूत संरचना का समर्थन करना है और उत्तर पूर्वी राज्यों को उनके विकास के लिए अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी को अपनाने में सक्षम बनाता है। एनआई एसएसी रिमोट सेंसिंग, उपग्रह संचार, जीआईएस का उपयोग करके विशिष्ट अनुप्रयोग परियोजनाओं का उपक्रम करके विकास सहायता प्रदान करता है और अंतरिक्ष विज्ञान अनुसंधान आयोजित करता है।

3. आईआईएस-सी के शोधकर्ताओं ने किफायती और संवेदनशील सीओ सेंसर विकसित किए

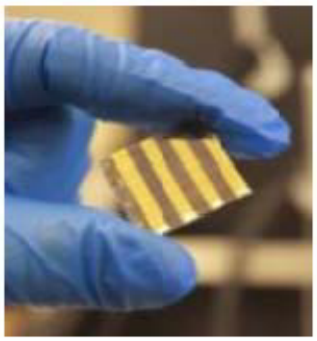

भारतीय विज्ञान संस्थान (आईआईएस–सी) बेंगलुरू के शोधकर्ताओं द्वारा पर्यावरणीय प्रदूषण निगरानी में संभावित अनुप्रयोगों के साथ एक अत्यधिक संवेदनशील और कम लागत वाले नैनोमीटर पैमाने पर कार्बन मोनोऑक्साइड (CO) सेंसर विकसित किया है। सेंसर कोफैब्रिकेशन तकनीक नामक इस अनोखी पहल को विकसित किया गया, जिसमें महंगा और समय लेने वाली लिथोग्राफी तकनीक शामिल नहीं है।

कार्बन मोनोअ,क्साइड (CO)

कार्बन मोनोऑक्साइड (CO) सीओ एक रंगहीन, गंधरहित गैस है। ज्यादा सांस लेने पर यह हानिकारक है, COका सबसे बड़ी स्रोत उपलब्धि है, जुलाई 2016 के बाद 188 कारों, ट्रकों और जीवाश्म ईंधन को जलाने वाली अन्य वाहनों या मशीनरी के आन्तरिक दहन (आईसी) इंजनों में भारतीय योगदान के रूप में है। COकी उच्च सांद्रता में सांस लेने से ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है जिससे रक्त प्रवाह को हृदय और मस्तिष्क जैसे महत्वपूर्ण अंगों में ले जाया जा सकता है।

मुख्य तथ्य

नैनोमीटर आकार का सेंसर एक सिलिकॉन वेफर सब्सट्रेट पर जिंक–ऑक्साइड (दव) नैनोस्ट्रक्चर का उपयोग करके बनाया गया था। छोटे पॉलीस्टीरिन मोती भी वेफर पर उपयोग किए जाते थे। इन मोतियों को पहले ऑक्सीकरण सिलिकॉन वेफर पर रखा गया था जिसे हेक्सागोनल क्लोज पैक संरचना कहा गया। इसमें वेफर और मोती के बीच वैक्यूम का उचित स्तर बनाए रखा जाता है। उच्च वोल्टेज पर यह मोती की सतहों को दूर करता है जब तक कि मोती के बीच वांछित मोटाई का अंतर कम न हो जाए। फिर ZnOसिस्टम पर इसे जमा किया जाता है। यह मोतियों के बीच की जगहों पर स्थान आच्छादित करता है, जो नैनो–जाल जैसे शहद का निर्माण करता है और नैनोसेंसर के रूप में कार्य कर सकता है।

महत्व

नैनोमीटर पैमाने वाले COसेंसर, COस्तर पर 500 बिल प्रति अरब (PPB) के रूप में कम अंतर का पता लगाने में सक्षम है। अन्य गैसों की उपस्थिति में भी COका चयन किया जा सकता है। यह नैनोस्ट्रक्चर गैस सेंसर बनाने में शामिल समय और लागत में भी काफी कटौती करता है।

4. आईआईएस-सी के वैज्ञानिकों ने ई. कोलाई जीवाणु का पता लगाने के लिए सेंसर विकसित किया

भारतीय विज्ञान संस्थान (आईआईएस–सी) में वैज्ञानिकों के एक समूह ने खाद्य और पेयजल में हानिकारक ई. कोलाई जीवाणु की उपस्थिति का पता लगाने के लिए एक सेंसर को सफलतापूर्वक विकसित किया है।

सेंसर को एक प्रकाश संवेदनशील ऑप्टिकल फाइबर का उपयोग करके डिजाइन किया गया है और इसे 'बेयर फाइबर ब्रैग ग्रेटिंग (बीएफबीजी) सेंसर कहा जाता है, जिसे ई. कोलाई जीवाणु के लिए विशिष्ट एंटीबॉडी के साथ लेपित किया जाता है।

तरंगदैर्ध्य के बैंड को शामिल करने वाली रोशनी का एक किरण पुंज ठथ्ठळ सेंसर के माध्यम से पारित किया जाता है, जो प्रकाश की एक विशेष तरंग दैर्ध्य को दर्शाता है। जब एक नमूने के संपर्क में आने पर ई. कोलाई जीवाणु की कोशिकाएं मौजूद होती हैं, तो ये कोशिकाएं विशेष रूप से सेंसर से बँध जाती हैं।

5. म,नसून पूर्वानुमान करने के लिए म,डल

आईआईएस–सी के वैज्ञानिकों ने उपग्रह छवियों का उपयोग करके वास्तविक समय में स्थानीयकृत भूमि क्षेत्रों में वर्षा का पता लगाने के लिए एक नए मॉडल का भी प्रस्ताव दिया है।

सिविल इंजीनियरिंग विभाग आईआईएस–सी के डॉ. जे. इंदु और प्रोफेसर डी. नागेश कुमार ने सैटेलाइट माइक्रोवेव सेंसर डेटा से मॉडल विकसित किया है। उनका शोध कार्य हाल ही में हाइड्रोलॉजिकल साइंसेज जर्नल में प्रकाशित किया गया था।

टीम ने महानदी बेसिन क्षेत्र में अपना शोध किया जो बड़े पैमाने पर बाढ़ के लिए उन्मुख है। शोधकर्ताओं के मुताबिक, इस तरह के विविध क्षेत्र में अवलोकनों का उपयोग वर्षा का पता लगाने के लिए आधुनिक अंकगणित में सुधार के लिए किया जा सकता है।

6. विरोधी विकिरण मिसाइल जल्द ही उड़ान परीक्षणों का अवलोकन करेंगे

इस साल अप्रैल–मई के लिए एक उन्नत, अत्याधुनिक एंटी–रेडिएशन मिसाइल (एआरएम) की कैप्टिव उड़ान परीक्षण की योजना बनाई गई, जिसका रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन (डीआरडीओ) के मिसाइल प्रौद्योगिकीविदों द्वारा साल के अंत तक पहला उड़ान परीक्षण था।

रक्षा अनुसंधान और विकास प्रयोगशाला द्वारा विकसित की जाने वाली यह वायु–से–सतह सामरिक मिसाइल राडार और संचार सुविधाओं का उपयोग करके दुश्मन की वायु रक्षा क्षमताओं पर नजर रखेगी। इस मिसाइल की सीमा 100 से 125 किमी है और इसे लड़ाकू विमान सुखोई (सु –30) और तेजस–लाइट कॉम्बैट एयरक्राफ्ट पर रखा जाएगा। मिसाइल उन्हें नष्ट करने के लक्ष्य पर राडार और संचार सुविधाओं और घरों के विकिरण या संकेतों को प्राप्त करती है।

डीआरडीओ स्रोतों के मुताबिक, वैज्ञानिक, इस उड़ान परीक्षण के दौरान नेविगेशन नियंत्रण प्रणाली, संरचनात्मक क्षमता और वायुगतिकीय कंपन के प्रदर्शन का मूल्यांकन करेंगे। इसके बाद स्थलीय परीक्षण और मिसाइल को साल के अंत तक वास्तविक उड़ान परीक्षण SU-30 से किया जाएगा। जोर से धक्का देने के बजाय, मिसाइल LR-SAM के मामले में दोहरी स्पन्द संचालन प्रणाली का उपयोग करती है। दोहरी स्पन्द संचालन आवरण के साथ–साथ मिसाइल की कार्य क्षमता को बड़ा कर देगा। सूत्रों ने बताया कि पहली स्पन्द का उपयोग करके आवश्यक अवधि के लिए मिसाइल को आवश्यक अवधि के लिए मिसाइल पर तट डालने के बाद, दूसरे स्पंदन के अंतराल से पहले या टर्मिनल चरण के दौरान शुरू किया जाएगा।

पूरी मिसाइल स्वदेशी रूप में विकसित की जा रही है, जिसमें साधक भी शामिल है। मिसाइल को कई विकास परीक्षणों के संचालन के बाद लगभग दो वर्षों में शामिल किया जाएगा। सूत्रों ने बताया कि अमेरिका और जर्मनी समेत कुछ देशों में ।त्ड हैं। दोहरी स्पन्द संचालन प्रणाली को अन्य हवा से सतह और हवा से हवा तक मिसाइलों के साथ जोड़ा जा सकता है।

इस बीच, भारत और इजराइल द्वारा संयुक्त रूप से विकसित LR-SAM (लम्बी दूरी सतह से हवा मिसाइल) इस वर्ष सितंबर–अक्टूबर से शुरू होगी। पिछले साल एक हवाई लक्ष्य को रोकने के लिए आईएनएस कोलकाता से सफलतापूर्वक परीक्षण किया गया था और इस साल के अंत में इसी तरह के परीक्षणों के लिए युद्धपोत, आईएनएस कोच्चि और आईएनएस चेन्नई से मिसाइल लॉन्च की जाएगी।

7. नए अध्ययन के अनुसार विज्ञान का ज्योतिष के साथ जुड़ाव हैः भूकंप का कारण ग्रह होते हैं

भूकंप की भविष्यवाणी हमेशा एक संशयात्मक विज्ञान रही है, लेकिन भारतीय विशेषज्ञों के एक समूह का दावा है कि उन्हें इस संबंध में एक संभावित समाधान मिल गया है। वे 2016 के लिए ''भूकंप–संवेदनशील'' दिनों की एक सूची के साथ आए हैं और यह भी दावा करते हैं कि जनवरी के लिए उनकी अनुमानित भूकंप की तारीखें मान्य हैं। रांची के मेसरा में बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के जग्नाथन चक्लिंगम और उनके दो सह–लेखकों ने एक अध्ययन में पाया कि पृथ्वी पर कक्षीय असंगति पैदा करने वाले ग्रहों की कॉन्फिगरेशन के बहुत स्पष्ट सबूत हैं, जो अंततः भूकंप उत्पन्न करते हैं। ज्योतिष से प्रेरित, चक्लिंगम और उनकी टीम यह जांचना चाहती थी कि भूकंप और ग्रहों के बीच कोई संभावित संबंध है या नहीं। 2004 के सुनामी के बाद उन्होंने अपने अवलोकनों को गंभीरता से शुरू किया, जिसमें ग्रह, विन्यास और प्रमुख भूकंप को समझने के लिए भारत, इंडोनेशिया और श्रीलंका में हजारों लोगों की मौत हो गई। अध्ययन में कहा गया है कि बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेप्च्यून जैसे बड़े ग्रहों के बीच गुरुत्वाकर्षण बातचीत अदृश्य परिणामस्वरूप गुरुत्वाकर्षण वैक्टर (आईआरजीवी) बनाती है जो एक आंतरिक ग्रह को पार करते समय एक अव्यवस्थित ग्रह ग्रह के रूप में कार्य करता है। ''जब भी हमारी धरती इन आईआरजीवी को पार करती है, वहां हमेशा बड़े भूकंप आते थे। रिमोट सेंसिंग, जीआईएस और भूगोल में अंतर्राष्ट्रीय जर्नल ऑफ एडवांस के नवीनतम अंक में प्रकाशित अध्ययन में कहा गया है कि अन्य आंतरिक ग्रहों के पारगमन ने भी इसी तरह के परिणाम दिखाए हैं।

अध्ययन में कहा गया है कि शोधकर्ताओं ने लगातार एक विशेष ग्रह विन्यास और भूकंप के बीच एक लिंक की पहचान की, उन्होंने कहा कि भूकंप में उनके योगदान के लिए भी सरल दो ग्रहों के संरेखण की जांच की गई। कुल मिलाकर, प्रत्येक संभावित कॉन्फिगरेशन की स्पष्टीकरण क्षमताओं को गंभीर रूप से अवलोकन किया गया था और हम उम्मीद करते हैं कि मौजूदा अध्ययन भूकंप, गुरुत्वाकर्षण विसंगतियों और उनकी भविष्यवाणी के क्षेत्र में एक नया आयाम देगा। चक्लिंगम के अनुसार, उनके अध्ययन ने 2016 के लिए संवेदनशील दिनों की भविष्यवाणी की और शोधकर्ता वास्तविक अवधारणाओं के आधार पर हमारी अवधारणाओं और परिणामों को मान्य कर सकते हैं। लेखकों ने सौर मंडल को एक गुरुत्वाकर्षण झील के रूप में देखा, जिसमें बहुत अधिक गुरुत्वाकर्षण तरंगें (महासागर की तरह बड़ा) है और यह समुद्र में यात्रा करने वाले जहाज की तरह सूर्य के चारों ओर अपनी कक्षा के दौरान प्रत्येक ग्रह इन तरंगों में यात्रा करता है। उनकी धारणा के अनुसार, इन गुरुत्वाकर्षण तरंगों में स्थानिक और अस्थायी रूप से वृद्धि और कमी हो सकती है। ''प्रमुख ग्रहों के सभी संयोजनों के परिणामस्वरूप परिणामी गुरुत्वाकर्षण वैक्टर (आरजीवी) के सभी स्थानिक स्थानों की पहचान की गई। अध्ययन से पता चला कि जब एक ग्रह वेक्टर उन आरजीवी को

पार करता है, तो गुरुत्वाकर्षण लहर पैदा होती है और यह पृथ्वी के कक्षीय पथ को परेशान करती है और इसलिए पृथ्वी की सतह पर भूमिगत भूमि के गति प्रक्रिया को बदल देती है'' ऐसा अध्ययन में कहा गया है।

8. साइकस की दो नई प्रजातियों की खोज

आचार्य जगदीश चंद्र बोस द्वारा भारतीय वनस्पति उद्यान, पश्चिम बंगाल में पाए गए एक अकेले पेड़ साइकसस्चानी पर किए गए शोध ने दुनिया के लिए साइकस की दो नई प्रजातियों का खुलासा किया है। इस खोज से, भारत में पाए गए साइकस प्रजातियों की कुल संख्या 14 हो गई है।

साइकस

साइकस सबसे प्राचीन पौधों में से एक है जिनके जीवाश्म जुरासिक काल के समय के पाए जाते हैं। उन्हें अक्सर जीवित जीवाश्म के रूप में जाना जाता है। वे पृथ्वी पर पहले बीज वाले पौधों के रूप में विकसित हुए हैं और वे धीरे–धीरे बढ़ते हैं, हर साल ये केवल कुछ सेंटीमीटर तक ही बढ़ पाते हैं। लगभग 65% साइकस संकट में हैं। दुनिया भर में साइकस की 100 से अधिक प्रजातियां पाई गई हैं।

मुख्य तथ्य

अकेले साइकसस्चानी पेड़ के प्रारंभिक अध्ययन से पता चला कि यह एक जिमनोस्पर्म था। इसके रचनात्मक और मोर्फोलॉजिकल पात्रों के आधार पर आगे के शोध ने अंडमान और निकोबार द्वीप समूह में साइकसस्चानी की नई प्रजातियों की खोज और बाद में साइकसधर्मराजी की खोज की।

साइकसधर्मराजी अपने विशाल मुख्य तने की असामान्य शाखा के स्वभाव और इसके सूजन आधार की विशेषता है। इसने मेगा स्पोरोफिल के शीर्ष में 10 से 28 हुक–जैसी संरचनाओं को अच्छी तरह से परिभाषित किया है जो इसे देश में पाए जाने वाले अन्य साइकस से अलग बनाता है। स्पोरोफिल बीजाणुधारक पौधे के पत्ते हैं जो बीमार मादा जननांग की तरह होते हैं। साइकस के स्पोरोफिल की विशेषता है कि इसमें दो पार्श्व सींग जैसी संरचनाओं की उपस्थित होते हैं।

9. रिलायंस जियो ने दुनिया की सबसे लंबी 100 जीबीपीएस पनडुब्बी केबल प्रणाली ल,न्च की

मुकेश अंबानी के नेतृत्व में रिलायंस जियोइन्फोकॉम ने एशिया–अफ्रीका–यूरोप (एएई–1) पनडुब्बी केबल सिस्टम लॉन्च किया है। यह दुनिया की सबसे लंबी 100 जीबीपी तकनीक आधारित पनडुब्बी प्रणाली होने का दावा किया जाता है। यह मार्सेल, फ्रांस से हांगकांग तक 25,000 किमी से अधिक तक फैला है। एशिया और यूरोप में 21 केबल लैंडिंग होंगे। इसका उपयोग करके, जियो अपने ग्राहकों को सबसे असाधारण हाई स्पीड इंटरनेट और डिजिटल सेवा अनुभव प्रदान करना जारी रखेगा।

मुख्य तथ्य

एएई –1 परियोजना यूरोप, मध्य पूर्व और एशिया के अग्रणी दूरसंचार सेवा प्रदाताओं का संयोजन है। यह सभी वैश्विक बाजारों तक सीधी पहुंच प्रदान करने के लिए अन्य केबल सिस्टम और फाइबर नेटवर्क से सहजता से लिंक करेगा। इसमें एशिया (हांगकांग और सिंगापुर) में उपस्थिति के विविध बिंदु (पीओपी) की सुविधा होगी, यूरोप में तीन आगे कनेक्टिविटी विकल्प (फ्रांस, इटाल और ग्रीस)। केबल सिस्टम महत्वपूर्ण केंद्रों से गुजरता है, जो वीडियो केंद्रित डेटा बैंडविड्थ की मांग को पूरा करता है जो भारत के भीतर और उससे बाहर के सभी प्रकार के संचार, अनुप्रयोगों और सामग्री का समर्थन करता है।

एएई –1 प्रणाली का उन्नत डिजाइन और मार्ग हांगकांग, भारत, मध्य पूर्व और यूरोप के बीच सबसे कम विलंबता मार्गों में से एक प्रदान करेगा। इसका उपयोग करके, रिलायंस जियो एएई –1 केबल सिस्टम के लिए नेटवर्क ऑपरेशंस एंड मैनेजमेंट प्रदान करेगा।

इसका नेटवर्क ऑपरेशंस सेंटर (एनओसी) नवी मुंबई में कला सुविधा की स्थिति का उपयोग करेगा।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी में नई शब्दावली

1. निर्भय = उप–सोनिक क्रूज मिसाइल निर्भय भारत द्वारा विकसित एक लंबी दूरी, उप–सोनिक क्रूज मिसाइल, टॉमहॉक के बराबर है, यह रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन (डीआरडीओ) द्वारा विकसित किया गया है जो उप–सोनिक गति (कम से कम) ध्वनि की गति) से चलेगा।
2. NAG= एंटी–टैंक मिसाइल 'आग और भूल'। यह चार किमी दूर दुश्मन टैंक को नष्ट कर सकता है।
3. NAMICA= नाग मिसाइल वाहक

4. यह एनएजी मिसाइलों को ले जाने और लॉन्च करने का एक वाहन है
5. Helina= नाग के हेलीकॉप्टर से निकाल दिया संस्करण। हेलिना = हेलीकॉप्टर. नाग
6. LAHAT= लेजर होमिंग अटैक या लेजर होमिंग एंटी–टैंक मिसाइल एंटी–टैंकमिसाइल, अपग्रेड अर्जुन युद्ध टैंक में इस्तेमाल किया जाएगा।
7. ट्रोपेक्स –2012 = भारतीय नौसेना द्वारा आयोजित रंगमंच की तैयारी और परिचालन अभ्यास। नए प्लेटफार्मों, हथियार सेंसर, संचार प्रणालियों और परीक्षणों का परीक्षण करने के लिए बेड़े की नेटवर्क लड़ाकू शक्ति को अनुकूलित करने के लिए रणनीतियां।
8. शूर वीर = 2012 में थार रेगिस्तान में लड़ाकू अभ्यास सीमा पार तेजी से कई जोर देने के लिए सेना की परिचालन तैयारी का परीक्षण करने के लिए इस्तेमाल किया गया। सेना और आईएएफ ने लड़ाकू विमान, मानवरहित हवाई वाहन और आक्रमणकारी हेलीकॉप्टरों का उपयोग करके केंद्रीकृत कमांड के लिए प्रदान किए गए युद्ध क्षेत्र की वास्तविक समय तस्वीरों के साथ नई लड़ाई लड़ने की अवधारणाओं का परीक्षण किया। राष्ट्रीय बड़े सौर टेलीस्कोप (एनएलएसटी) = विज्ञान विभाग द्वारा स्थापित दुनिया की सबसे बड़ी सौर दूरबीन और प्रौद्योगिकी, लद्दाख में। इसका उद्देश्य सूर्य की सूक्ष्म संरचना का अध्ययन करना है।
9. RISAT1 = RISAT1 भारत का पहला रडार इमेजिंग उपग्रह है। यह सभी मौसम की स्थिति के तहत दिन और रात दोनों के दौरान पृथ्वी की सतह को स्कैन कर सकता है। यह धान की निगरानी और बाढ़ और चक्रवात जैसे प्राकृतिक आपदा के 195 प्रबंधन में मदद करेगा।
10. इसरो का 100 वां मिशन = PSLV–C21 रॉकेट का उपयोग करके, इसरो ने आंध्र प्रदेश में श्रीहरिकोटा से दो विदेशी उपग्रहों को लॉन्च किया स्पॉट 6% फ्रांसीसी उपग्रह प्रोटेरेसः सतीश धवन स्पेस सेंटर से जापानी माइक्रो उपग्रह,
11. प्रोजेक्ट ग्लास = Googleद्वारा एक शोध और विकास कार्यक्रम। यह सामान्य चश्मा की एक जोड़ी जैसा दिखता है जहां लेंस को हेड–अप डिस्प्ले द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। प्रोजेक्ट ग्लास एक पहनने योग्य कंप्यूटर है जो स्क्रीन के माध्यम से जानकारी प्रदान नहीं करता है, बल्कि आपकी ''आंखों'' के माध्यम से प्रदान करता है। यह आपको स्मार्टफोन और खोज करने के बारे में जानने के बिना आपके आस–पास के बारे में डेटा देता है। उदाहरण के लिए, यदि आप एक किताबों की दुकान में जाते हैं, तो गूगल ग्लास आपको जगह का एक इनडोर मानचित्र प्रदान करने में सक्षम होगा और आपको अपनी वांछित पुस्तक पर ले जाएगा।

12. ग्लिवेकः = रक्त कैंसर की दवा नोवार्टिस इस दवा के लिए भारत में एक पेटेंट का मामला लड़ रही है। ग्लिवेक के उपचार में प्रति मरीज प्रति माह 1,20,000 रुपये खर्च आता है। लेकिन नोवार्टिस ने यह बरकरार रखा है कि वे जरूरतमंद मरीजों को यह दवा मुफ्त में देते रहेंगे।

₹250.00
ISBNXXXXXXXXX

श्रवण-भाद्रपद 1944, अगस्त 2022 खंड 19 अंक 77

विज्ञान और लोगों को भारतीय दृष्टिकोण से जोड़ना

ब्रिटिशरॉ द्वारा भारत का विनाश (अंग्रेजों द्वारा भारत का विनाश)
विज्ञान के माध्यम से स्वतंत्रता के लिए संघर्ष

कलेक्टर संस्करण 2.0
विज्ञान भारती द्वारा प्रकाशित

अभियान

हेडलाइन: अंग्रेजों द्वारा भारत में बड़ी लूट

सुल्तानगंज बुद्ध, प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण, को औपनिवेशिक ब्रिटेन को अपने बहुमूल्य उपनिवेश से लूटी गई सभी चीजों को पुनर्प्राप्त करने का प्रतीक बनने दें।

देबोब्रत घोष

कलेक्टर संस्करण (अगस्त 2021) की शानदार सफलता और इसे विज्ञान समुदाय और आम आदमी दोनों ने जिस तरह से प्राप्त किया, उसने इसे साइंस इंडिया के लिए एक शानदार उपलब्धि बना दिया। 21 अक्टूबर 2020 को अपने पुन: लॉन्च के एक वर्ष से भी कम समय में, साइंस इंडिया ने कलेक्टर संस्करण - वास्तविक जीवन की अनन्य कहानियों का एक और बेहतरीन गुलदस्ता - अगस्त 2021 में लाया है, जो की स्वतंत्रता संग्राम में 19 वीं और 20 वीं शताब्दी के भारतीय वैज्ञानिकों के योगदान पर है।

.

इस विशेष संस्करण को मिली जबरदस्त प्रतिक्रिया ने हमें एक मिनी कॉफी टेबल बुक - 'स्ट्रगल फॉर फ्रीडम थ्रू साइंस' प्रकाशित करने के लिए मजबूर किया - साइंस इंडिया का अपनी तरह का यह पहला प्रकाशन। इसके बाद इस कॉफी टेबल बुक का हिंदी और मराठी में अनुवाद किया गया है और आने वाले समय में हम इसका अन्य भाषाओं में भी अनुवाद करवाएंगे।

इस बार, हम कलेक्टर संस्करण 2.0 लेकर आए हैं, जो आपके हाथ में है। अनन्य, अत्याधुनिक कहानियों के माध्यम से हमने यह दिखाने की कोशिश की है कि औपनिवेशिक ब्रिटिश शासन ने लगभग हर क्षेत्र में भारत की समृद्ध विरासत का शोषण, विनाश और क्षति कैसे की - चाहे वह कृषि हो या आयुर्वेद।

इस विशाल विनाश के पीछे एकमात्र उद्देश्य भारत के धन को लूटना था। अंग्रेजों द्वारा रेलवे को शुरू करने का प्राथमिक उद्देश्य हमारे समृद्ध प्राकृतिक संसाधनों को बंदरगाहों तक पहुंचाना था - जिसे उन्होंने लूट लिया और अपने राष्ट्र इंग्लैंड ले गए।

PDF Page No.3 Image No. 1
सुल्तानगंज बुद्ध, 7.5 फीट (2.3 मीटर) तांबे की मूर्ति, वर्तमान में बर्मिंघम संग्रहालय और आर्ट गैलरी, यूके में रखी गई है।

जबकि भारत 2025 तक 5 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था को प्राप्त करने का लक्ष्य बना रहा है, जब की अंग्रेजों ने 190 वर्षों में 45 ट्रिलियन डॉलर की भारी राशि का गबन किया था - जो आज हम लक्ष्य कर रहे हैं उससे नौ गुना राशि है !! इंग्लैंड में अपनी औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा देने के लिए, अंग्रेजों ने

अकेले बंगाल से 1757-80 के बीच 38 मिलियन पाउंड स्टर्लिंग लूटे थे। भारत में ब्रिटिश राज (ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन सहित) के 190 साल (बंगाल में पहले चरण सहित) प्राकृतिक संसाधनों से लेकर कलाकृतियों तक की एक बड़ी लूट की गाथा थी।
उपनिवेशवाद के व्यापक बहाने के तहत भारत के सांस्कृतिक खजाने की ब्रिटिश लूट का इतिहास इतना विश्वकोश है कि भारत ने अपने औपनिवेशिक आकाओं से जो कुछ खोया है, उसका पूरा लेखा-जोखा देना, उनके संग्रहालयों में गर्व के साथ प्रदर्शित करना हमेशा असंभव रहेगा। .
हाल ही में, ब्रिटेन के स्कॉटलैंड के ग्लासगो शहर ने 19 अगस्त को औपनिवेशिक शासन के दौरान लूटी गई सात भारतीय सांस्कृतिक कलाकृतियों को आधिकारिक रूप से वापस लाने के लिए एक समारोह आयोजित किया। सभी सात वस्तुएं जो जल्द ही भारत लौट आएंगी, मंदिरों और धार्मिक स्थान जैसे पवित्र स्थानों से लूट ली गईं, और स्कॉटिश शहर के संग्रहालय संग्रह को उपहार के रूप में दी गईं।
हालांकि यह भारत की सांस्कृतिक कलाकृतियों की ब्रिटिशो के लूट के सागर में मात्र एक बूंद के समान है, और पूर्व उपनिवेशवादियों के लिए अपने पिछले कार्यों के लिए जिम्मेदार होना महसूस करने और इस अमूल्य विरासत को वापस करने के लिए पर्याप्त जागरूकता पैदा होने में कई साल लगेंगे, विज्ञान का यह संस्करण भारत एक सांस्कृतिक कलाकृति पर ध्यान केंद्रित करना चाहता है जो प्राचीन भारत की वैज्ञानिक शक्ति के प्रमुख उदाहरणों में से एक है।
यह महसूस करने के लिए एक बेबुनियाद अनुमान नहीं होगा कि विचाराधीन वस्तु शानदार सुल्तानगंज बुद्ध है।

सुल्तानगंज बुद्ध क्या है?
ब्रिटेन में बर्मिंघम संग्रहालय और आर्ट गैलरी, सुल्तानगंज बुद्ध की एक बेशकीमती संपत्ति, सुल्तानगंज बुद्ध भगवान बुद्ध की एक उत्कृष्ट मूर्ति है जो 1861-62 में बिहार के भागलपुर से लगभग 28 किमी दूर, औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्माणाधीन रेलवे स्टेशन के लिए जमीन के खदान के दौरान सुल्तानगंज में मिली थी।
सार्वजनिक डोमेन में उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, मूर्ति की खोज ई बी हैरिस, एक रेलवे इंजीनियर ने की थी, जब ईस्ट इंडिया रेलवे के लिए खुदाई का काम चल रहा था। उन्होंने खोज का एक विस्तृत विवरण प्रकाशित किया जिसके अनुसार उन्होंने बुद्ध की मूर्ति के दाहिने पैर की सतह से दस फीट नीचे मिली थी और हैरिस ने शहर के एक व्यापारी की मदद से इस मूर्ति को बर्मिंघम ले जाया गया था, जिसने इसे तत्कालीन प्रस्तावित बर्मिंघम संग्रहालय में पेश किया था।
यह मूर्ति भारतीय इतिहास के गुप्त काल के अनुरूप 500 और 700 ईस्वी के बीच की है; यह विशेष रूप से वर्तमान पूर्वी भारत में गुप्त युग से पाल युग तक के संक्रमण काल से संबंधित है। यह मूर्ति 2.3 मीटर ऊँची (7.5 फीट) और 1 मीटर चौड़ी (3.2 फीट) है और इसका वजन 500 किलोग्राम से अधिक है। पूरी तरह से तांबे से बनी यह संभवत: सेमिनल गुप्त काल की किसी भी आकार की एकमात्र बची हुई धातु की मूर्ति है।

સુલતાનગંજ બુદ્ધ સાથે અંગ્રેજી ઇજનેર ઇબી હેરિસ, 1861-62.

क्या इसे शानदार बनाता है?

सुल्तानगंज बुद्ध - अभयमुद्रा मुद्रा में खड़े बुद्ध की एक काले धातु की मूर्ति - न केवल कला का एक शानदार काम है, बल्कि उस वैज्ञानिक प्रक्रिया के लिए शानदार और अमूल्य है जिसके द्वारा इसे बनाया गया था। यह उस काल की बुद्ध की शायद इस तरह की आकार की एकमात्र धातु की मूर्ति है, जिसमें भारी मात्रा में तांबा शामिल था। वस्त्र के साथ पूर्ण, मूर्ति को शुद्ध, अपरिष्कृत तांबे में सीयर परड्यू या खोई हुई मोम तकनीक द्वारा बनाया गया था। सार्वजनिक रूप से उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, मूर्ति के अंदर चावल की भूसी के साथ मिश्रित मिट्टी से बना है, जो रेडियोकार्बन डेटिंग करने की अनुमति प्रदान करता है।

मूर्ति की सतह अब काली हो गई है, लेकिन यह हो सकता है कि यह अपने मूल अवतार में चमकीले पॉलिश और हल्के, लगभग सोने के रंग में हो; इसका उल्लेख उस काल के बौद्ध धर्मग्रंथों में बुद्ध की प्रतिमाओं के उल्लेख से मिलता है। वर्तमान डार्क शेड का रंग मूर्ति की सतह के वायुमंडलीय एजेंटों के संपर्क में आने के कारण है।

प्रतिमा का विशाल आकार उस समय के भारत के धातु श्रमिकों के वैज्ञानिक कौशल, धातु विज्ञान और कौशल की मात्रा को दर्शाता है, जो शायद उस युग में दुनिया के बहुत कम हिस्सों में पाई जाती थीं।

इसे भारत वापस क्यों लाया जाना चाहिए?

ऐसा कोई कारण नहीं है कि सुल्तानगंज बुद्ध - औपनिवेशिक ब्रिटेन द्वारा चुराई गई सभी भारतीय कलाकृतियों के साथ-साथ वापस उस स्थान पर नहीं लाया जाना चाहिए जहां का वह है। सुल्तानगंज के निवासियों द्वारा अपनी मिट्टी की विरासत, वापस लाने के लिए, के बारे में जागरूकता बढ़ाने के प्रयास किए गए हैं, जो कि बर्मिंघम में गलत तरीके से पड़ी है, लेकिन शायद यह कमजोर प्रयास हैं जिन्होंने अभी तक निरंतर रूप से राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित नहीं किया है। यह समय है कि इस देश के नागरिक - न केवल सुल्तानगंज - बल्कि अपनी एकजुट, दृढ़ आवाज उठाने के लिए ब्रिटेन से भारत को अपनी विरासत वापस देने के लिए कहें।

पूर्व औपनिवेशिक दुनिया भर में, आवाज उठाई जा रही है, इंग्लैंड से अपनी ऐतिहासिक गलतियों को ठीक करने की मांग की जा रही है। इससे पहले अगस्त में, लंदन का एक संग्रहालय, जिसे हॉर्निमन संग्रहालय और उद्यान कहा जाता है, 19वीं शताब्दी के अंत में ब्रिटेन द्वारा अपनी तत्कालीन कॉलोनी, नाइजीरिया से लूटे गए प्रसिद्ध बेनिन कांस्य (72 कलाकृतियों का एक सेट) को वापस करने के लिए सहमत हो गया।

भारत को भी अपनी विरासत को पुनः प्राप्त करने की अपनी इच्छा को मजबूत बनानी चाहिए। ऐसा करने के लिए अभी से बेहतर समय नहीं हो सकता है क्योंकि भारत वर्तमान में वैश्विक राजनीतिक गतिशीलता में वृद्धि का आनंद ले रहा है, जो ब्रिटेन पर अपने औपनिवेशिक पापों को धोने के लिए दबाव डालने में एक लंबा रास्ता तय करेगा और इस अभियान को व्यापक रूप से चलाने की जरूरत है।

*लेखक साइंस इंडिया के संपादक हैं।

धातुकर्म

शीर्षक: ब्रिटिश राज द्वारा धातुकर्म में भारत के कौशल को दर्दनाक मौत का झटका

दुनिया भर में प्रसिद्ध, विशेष धातु उत्पादों को बनाने में देश के स्वदेशी ज्ञान को औपनिवेशिक नीतियों द्वारा विज्ञान की सहायता से नष्ट कर दिया गया था, जो दुनिया में शायद पहला था।

प्रो बीएन जगताप

पहले के समय में भारत ने धातु उत्पादन में एक महान विशेषज्ञता विकसित की थी। यह लोहा, तांबा और जस्ता प्रौद्योगिकी में शेष विश्व से सदियों आगे था। भारत के उपनिवेशीकरण ने पारंपरिक धातु विज्ञान को इस तरह नष्ट कर दिया कि देश लगभग दो हजार साल या उससे अधिक समय तक धातुओं के निर्यात पर निर्भर रहा।

ब्रिटिश शासन ने कई रणनीतियों को अपनाया जिसमें अन्यायपूर्ण नीतियों और कानूनों के साथ-साथ भेदभावपूर्ण आर्थिक नीतियों के आधार के रूप में विज्ञान का उपयोग शामिल था। यह शायद पहली बार था कि सदियों से विकसित स्वदेशी ज्ञान को नष्ट करने के लिए विज्ञान का उपयोग किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं का एक बड़ा बाजार बन गया।

PDF Page No. 5 Image No. 1

कोणार्क स्थित सूर्य मंदिर का भव्य प्रवेश द्वार ग्रेनाइट चट्टान से तराशा गया है। इसके जंग रहित लोहे के बीम 13वीं सदी से समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं।

भारतीय धातु विज्ञान के चमत्कार

भारत ने कई धातुओं - सोना, चांदी, तांबा, सीसा, टिन, लोहा, जस्ता, पारा, सुरमा, आदि और उनके मिश्र धातुओं और यौगिकों के उत्पादन का दावा किया।

पुरातात्विक साक्ष्य उत्तर प्रदेश में लहुरादेव स्थल में 1800 ईसा पूर्व के आसपास प्रारंभिक लोहे के निर्माण की ओर इशारा करते हैं। तेलंगाना और तमिलनाडु में 1800-2400 ईसा पूर्व की लोहे की कलाकृतियों की हाल की खोजों ने सैकड़ों वर्षों तक लौह युग की शुरुआत को पीछे धकेल दिया है। लौह प्रौद्योगिकी ~800 ईसा पूर्व तक परिपक्व हो गई। लोहे के सर्जिकल उपकरण लगभग 600 ईसा पूर्व विकसित किए गए थे। लोहे के विशाल टुकड़े प्राप्त करने के लिए फोर्ज वेल्डिंग की तकनीक 100-500 सीई के दौरान विकसित की गई थी। भारतीय इस्पात, जिसे वुट्ज़ के नाम से भी जाना जाता है, प्राचीन दुनिया की एक उन्नत सामग्री थी। यह प्रक्रिया ईसा पूर्व चौथी से पांचवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण भारत में उत्पन्न हुई थी।

भारत में कई स्मारक उसकी जंग न लगने वाले लोहे की तकनीक के बारे में बात करते हैं, उदाहरण के लिए, दिल्ली का लौह स्तंभ (चौथी शताब्दी) और कोणार्क मंदिर (9वीं शताब्दी) में लोहे के बीम।यह जंग न लगने का गुण उच्च फॉस्फोरस (~0.114%), कम सल्फर (0,006%) और मैंगनीज की अनुपस्थिति के कारण है।

वूट्ज़ ने सदियों से ज्ञात दुनिया के अधिकतम देशों में अपना रास्ता खोज लिया है। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन मिस्र के लोग महान पत्थर के स्मारक बनाने के लिए भारतीय स्टील से बने औजारों का इस्तेमाल करते थे। 17 वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध दमिश्क तलवार बनाने के लिए वुट्ज़ को अरब दुनिया और यूरोप में निर्यात किया गया था। मेनई सस्पेंशन (1818) और ब्रिटानिया ट्यूबलर ब्रिज (1846) के निर्माण के लिए उच्च गुणवत्ता वाला भारतीय स्टील इंग्लैंड को भी निर्यात किया गया था। इस प्रकार, तकनीक 19वीं शताब्दी के मध्य तक जीवित रही।

PDF Page No. 6, Image No. 1 & 2

ऊपर: समुद्रगुप्त (ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में) का चौथी शताब्दी का सिक्का, मिश्र धातु में प्राचीन भारतीय कौशल को दर्शाता है

बाएं: 10वीं शताब्दी का चोल कांस्य नटराज (मौसम संग्रहालय, न्यूयॉर्क में), अंग्रेजों के आगमन से पहले भारतीयों की सरलता और धातुओं के प्रति आकर्षण का एक और उदाहरण है।

भारत जस्ता धातु उत्पादन के लिए एक प्रक्रिया विकसित करने वाला पहला देश था। पुरातात्विक साक्ष्य बताते हैं कि जस्ता गलाने की शुरुआत 400 ईसा पूर्व के आसपास हुई थी। ज़ावर, राजस्थान में जस्ता उत्पादन ~ 800 सीई दिनांकित है, जिसे 1200 सीई तक अर्ध-औद्योगिक स्तर तक विस्तारित किया गया था। प्रक्रिया जस्ता धातु प्राप्त करने के लिए नीचे की ओर आसवन के बाद जस्ता अयस्क की भुनाई में कमी पर आधारित थी। यह ~ 12000C के तापमान और अत्यंत कम ऑक्सीजन आंशिक दबाव का उपयोग करने वाली एक प्रक्रिया थी। ऐसा अनुमान है कि 13-18वीं शताब्दी के दौरान ज़ावर में लगभग एक लाख टन जस्ता का उत्पादन किया गया था।

सुल्तानगंज (बिहार में) और वर्तमान में बर्मिंघम संग्रहालय में खुदाई की गई गौतम बुद्ध (5वीं शताब्दी) की तांबे की मूर्ति शुद्ध (99.7%) तांबे के निर्माण में भारतीयों की विशेषज्ञता का वर्णन करती है। अनुमान है कि 1590–1895 के दौरान खेतड़ी की खदानों (राजस्थान) में लगभग एक लाख टन तांबे के अयस्क का खनन किया गया था, जिससे लगभग एक लाख टन तांबे का उत्पादन हुआ।

भारतीयों ने पीतल और कांसे जैसी उच्च गुणवत्ता वाली मिश्रधातु बनाने की कला में महारत हासिल की थी। समुद्रगुप्त (चौथी शताब्दी) का सिक्का, वर्तमान में ब्रिटिश संग्रहालय में है, और नटराज की प्रतिमा

(10 वीं शताब्दी), जो वर्तमान में मेट्रोपॉलिटन संग्रहालय, न्यूयॉर्क में है, इस महारत के दो अभिन्न उदाहरण हैं।

अधीनता के लिए एक उपकरण के रूप में विज्ञान

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1851 में औपनिवेशिक भारत के खनिज संसाधनों के मानचित्र बनाने के उद्देश्य से भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण (जीएसआई) की स्थापना की। जीएसआई का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को समृद्ध करना था; इसकी रिपोर्टों में यह प्रस्ताव शामिल था कि साम्राज्य के लाभ के लिए भूवैज्ञानिक निष्कर्षों का कितना लाभप्रद उपयोग किया जा सकता है। जीएसआई ने संसाधन उपयोग और संरक्षण पर सरकारी नीतियों का मार्गदर्शन करने में भी सक्रिय भूमिका निभाई।

जीएसआई का प्रारंभिक कार्य भाप से चलने वाले नदी नेविगेशन और रेलवे में इसके उपयोग के लिए कोयले का पूर्वेक्षण करना था। 1880 तक, लगभग 90 खनिजों की आर्थिक व्यवहार्यता को शामिल करने के लिए विभिन्न सर्वेक्षणों का विस्तार हुआ। खनिज समृद्ध मध्य भारत में रेल मार्ग इन्हीं सर्वेक्षणों का परिणाम था। भूवैज्ञानिकों ने खनन और धातु उत्पादन की स्वदेशी प्रथाओं का भी दस्तावेजीकरण किया, जिसे उन्होंने आदिम और पर्यावरण के अनुकूल नहीं बताया। संरक्षण पर जीएसआई की रिपोर्ट और सुझावों ने सरकार को ऐसे कानून बनाने के लिए पर्याप्त औचित्य प्रदान किया जिसने स्वदेशी धातु उत्पादन को गंभीर रूप से प्रभावित किया। यह किसी गंभीर पर्यावरणीय सरोकार से प्रेरित नहीं था, बल्कि ब्रिटेन के उद्योग के हित में था।

ब्रिटिश भूवैज्ञानिक भारतीयों को बौद्धिक रूप से हीन मानते थे। इस संदर्भ में प्रमथ नाथ बोस की कहानी सर्वविदित है। उन्होंने भारतीयों के स्वामित्व वाले विनिर्माण उद्योगों की वकालत की और टाटा को जमशेदपुर में साकची में आधुनिक लौह और इस्पात उत्पादन स्थापित करने में मदद की।

सरकारी नीतियां और अधिनियम

1865 और 1878 के भारतीय वन अधिनियमों ने वानिकी का पूर्ण नियंत्रण औपनिवेशिक सरकार को दे दिया और लोगों की वन भूमि तक पहुंच को प्रतिबंधित कर दिया गया। इन कृत्यों ने स्मेल्टिंग प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक अयस्क और चारकोल के स्वदेशी उद्योग से वंचित कर दिया। स्मेल्टरों को वन भूमि के उपयोग के लिए उच्च करों का भुगतान करने के लिए मजबूर किया गया था, जिससे धातुओं, विशेष रूप से लोहा और इस्पात का उत्पादन अत्यधिक अलाभकारी हो गया था।

1878 के शस्त्र अधिनियम के अधिनियमन ने भारतीयों की हथियारों तक पहुंच को प्रतिबंधित कर दिया। भारत में तोपों का निर्माण गढ़ा लोहे के टुकड़ों या छल्लों को वेल्डिंग करके किया जाता था। ब्रिटिश सरकार स्थानीय शासकों को हथियारों की आपूर्ति में स्वदेशी लौह उद्योग की भूमिका से अवगत थी। शस्त्र अधिनियम के कारण हथियार उद्योग का पतन हुआ, जो स्वदेशी लोहे के उत्पादन पर निर्भर था।

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति ने पारंपरिक भारतीय उद्योग के उत्पादन की तुलना में बड़ी मात्रा में लोहे और स्टील का उत्पादन करना संभव बना दिया था। वैलेंटाइन बॉल ने अपने संकलन, जियोलॉजी ऑफ इंडिया, पार्ट III, इकोनॉमिक जियोलॉजी (1880) में रिपोर्ट दी है कि 1873-74 में, राज्य द्वारा लोहे का आयात 77,78,824 रुपये था, जो बढ़कर 1879-80 में 1,22,93,847 रुपये हो गई। सस्ते लोहे के आयात ने स्वदेशी उद्योग को पूरी तरह से खत्म कर दिया। लौह स्मेल्टर जीवित रहने के लिए अन्य व्यवसायों में चले गए। कौशल खो गए थे और दो हजार वर्षों में विकसित तकनीक हमेशा के लिए खो गई थी। 1993 के रसायन विज्ञान के नोबेल पुरस्कार विजेता रॉबर्ट कर्ल इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं: "दमिश्क तलवारों के लिए, भारतीयों ने कच्चे माल का उत्पादन किया और उसका निर्यात किया। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक, स्टील की तलवारें इस विशेष सामग्री पर निर्भर थीं और जब भारत में खदानें बंद हो गईं, तो उन्होंने तकनीक खो दी।

PDF Page No.7 Image No. 1

दिल्ली का चौथी शताब्दी का लौह स्तंभ जंग न लगने की अपनी पौराणिक संपत्ति के लिए विश्व प्रसिद्ध है।

ब्रिटिश सरकार की अनुचित व्यापार नीतियों का एक उदाहरण भारत सरकार अधिनियम है जिसके लिए सरकार द्वारा आवश्यक निर्मित आपूर्ति को भारत कार्यालय के माध्यम से खरीदा जाना आवश्यक है। इस अधिनियम ने भारत और ब्रिटिश उद्योगों दोनों में सरकार के एकाधिकार की रक्षा की। 1883 में, सरकार ने लोहे और स्टील के अपवाद के साथ, स्थानीय उद्योग का समर्थन करने के लिए इस नीति को संशोधित किया।

आधुनिक तकनीक द्वारा लोहे और इस्पात के स्थानीय निर्माण को भी ब्रिटिश सरकार द्वारा समर्थित नहीं किया गया था। वैलेंटाइन बॉल ने देखा कि 1867 से 1879 के बीच राज्य द्वारा आयातित लोहे को छोड़कर आयातित लोहे का कुल मूल्य 15,62,10,253 रुपये था; जिसका एक बड़ा हिस्सा भारत में रखा जा सकता था यदि भारत में लोहे का निर्माण व्यावहारिक साबित होता।

वास्तव में, बॉल एक भूविज्ञानी थे जिन्होंने भारत में लोहे के निर्माण की एक नई शुरुआत का समर्थन किया, लेकिन वह व्यर्थ था। यदि ऐसा होता तो भारतीय मिलों का ब्रिटेन की मिलों से सीधा मुकाबला होता, जो औपनिवेशिक सत्ता की औद्योगिक नीति के विपरीत था। टाटा को मुख्य रूप से प्रथम विश्व युद्ध की मांग के कारण साकची में अपना लोहा और इस्पात कारखाना स्थापित करने की अनुमति मिल सकती थी।

अंतत: 1901 में खानों के नियमन और निरीक्षण के लिए भारतीय खान अधिनियम बनाया गया। हालाँकि, उस समय तक, स्वदेशी असंगठित खनन पूरी तरह से ठप हो गया था।

भारतीय प्रेरणाएँ

वुट्ज़ और धात्विक जस्ता के उत्पादन की पारंपरिक भारतीय प्रक्रियाओं ने ब्रिटिश वैज्ञानिकों को आधुनिक विज्ञान के अनुप्रयोग के माध्यम से उन्हें दोहराने के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की।

1740 में, विलियम चैंपियन ने ज़ावर की अधोमुखी आसवन विधि पर आधारित एक प्रक्रिया द्वारा ब्रिस्टल में जस्ता धातु उत्पादन की स्थापना की। चैंपियन की प्रक्रिया में ज़ावर के समान व्यवस्था का उपयोग किया गया था, केवल उल्लेखनीय अंतर ज़ावर प्रक्रिया के क्ले रिटॉर्ट्स के बजाय ग्लास रिटॉर्ट्स का उपयोग था। एसडब्ल्यूके मॉर्गन और पीटी क्रैडॉक ने कहा, "जवार में भारतीय प्रक्रिया के विवरण के साथ चैंपियन कुख्यात था; संभवत: किसी तीसरे पक्ष ने चैंपियन को प्रक्रिया के सामान्य सिद्धांतों का वर्णन किया है।" क्रैडॉक का अनुमान है कि सूरत में ईस्ट इंडिया कंपनी की पहली बस्ती की निकटता इस प्रौद्योगिकी हस्तांतरण के लिए जिम्मेदार हो सकती है।

कार्बन स्टील के संबंध में, डी मुशेट ने 1800 में निंदनीय लोहे को कच्चा लोहा में परिवर्तित करने के लिए एक पेटेंट लिया। जॉन पर्सी, एक प्रसिद्ध धातुकर्मी, ने इस पेटेंट पर इस प्रकार टिप्पणी की: "यह उत्सुक है कि कास्ट स्टील के उत्पादन में निंदनीय लोहे के उपयोग से संबंधित मुशेट की प्रक्रिया, सिद्धांत रूप में होनी चाहिए, और मैं व्यवहार में भी जोड़ सकता हूं। उसी के समान हो जाओ जिससे प्राचीन काल से हिंदुओं ने अपना वुट्ज़ तैयार किया है। मैं दोनों के बीच कोई आवश्यक अंतर नहीं खोज सकता।"

PDF Page No.8 Image No. 1

वुट्ज़, भारत में आविष्कार किया गया एक स्टील, प्राचीन दुनिया में एक उन्नत सामग्री थी और उच्च गुणवत्ता वाली दमिश्क तलवार बनाने की उच्च मांग में थी।

उच्च आदेश प्रणाली के जुगाली करने वाले?

लोहा बनाने की भारतीय प्रक्रिया के बारे में हमारी वर्तमान समझ काफी हद तक जनजातियों - असुर, अगरिया, ब्रिजिया और लोहार की प्रथाओं से ली गई है। दिलचस्प बात यह है कि उनके द्वारा उत्पादित लोहा जंग रहित होता है। इस प्रक्रिया में, एक ब्लूमरी क्ले भट्टी में लौह अयस्क और चारकोल को गर्म (1000-12000 C) किया जाता है, जिसमें आयर्न ऑक्साइड को कार्बन मोनोऑक्साइड द्वारा आयर्न और आयर्न सिलिकेट बनाने के लिए कम किया जाता है जो एक तरल स्लैग बनाता है। लोहे की गांठों को लोहे के द्रव्यमान से फंसे हुए स्लैग को छोड़ने के लिए गर्म हथौड़े से चलाया जाता है, जो अंत में गढ़ा लोहा पैदा करता है।

वैलेन्टिन बॉल के अनुसार, उपरोक्त चर्चा की गई प्रक्रिया से विचलन थे। काठियावाड़ में, भट्टियां प्रतिध्वनि प्रकार की थीं, जबकि वजीरिस्तान में, चूना पत्थर के प्रवाह को चार्ज में जोड़ा गया था। बीरभूम में, लोहे का उत्पादन बड़ी भट्टियों में तरल परिस्थितियों में किया जाता था और सूअरों में चला जाता था, जिसे बाद में खुले चूल्हों में निंदनीय लोहे में बदल दिया जाता था।

वैलेंटाइन बॉल ने अपने निष्कर्षों को निम्नलिखित शब्दों में सारांशित किया: "यदि हम भारत के मूल निवासियों द्वारा प्रचलित लोहे के निर्माण की प्रणाली का एक सर्वेक्षण करते हैं, तो हम यहां और वहां मिलते हैं, इस बात के निशान कि काम करने की एक उच्च प्रणाली के अवशेष क्या हो सकते हैं। जो अब मौजूद हैं।"

इस उच्च प्रणाली का पता लगाना अभी भी एक चुनौती है। भारतीयों द्वारा उत्पादित जंग रहित लोहा अभी भी शोध का विषय है। पाठक एक दिलचस्प लेख का उल्लेख कर सकते हैं, जिसका शीर्षक है, "प्राचीन भारतीय लोहे के निर्माण के अभ्यास के माध्यम से बने लोहे के बेहतर संक्षारण प्रतिरोध को उजागर करना", ऑस्ट्रेलियाई शोधकर्ताओं द्वारा वैज्ञानिक रिपोर्ट (2021) में प्रकाशित किया गया था।

*लेखक भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बॉम्बे के भौतिकी विभाग के प्रोफेसर हैं। वह पूर्व में भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के रसायन विज्ञान समूह के विशिष्ट वैज्ञानिक और निदेशक भी रहे हैं

कृषि

शीर्षक: भारत की कृषि श्रेष्ठता का व्यवस्थित औपनिवेशिक विनाश

यह एक दिल दहला देने वाली कहानी है कि कैसे अंग्रेजों ने भारत की संपन्न कृषि अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया और 1947 में जब तक उन्होंने इसे छोड़ दिया, तब तक किसानो को एक एक सांस लेने के लिए मोहताज बना दिया

अंबिका वंकामामिडी

सिंचाई के चमत्कार और कृषि में नवाचार प्राचीन काल से भारत की कृषि अर्थव्यवस्था का एक हिस्सा थे। करिकाला चोल द्वारा लगभग 2,000 साल पहले कावेरी नदी पर बनाया गया कल्लनई बांध दुनिया की सबसे पुरानी जल विनियमन संरचनाओं में से एक है जो आज भी उपयोग में है। सिंधु घाटी में उत्कृष्ट जल भंडारण और जल निकासी व्यवस्था थी, 16 जलाशयों के माध्यम से धोलावीरा का जल संरक्षण, भोपाल के राजा भोज द्वारा कृत्रिम झील प्राचीन भारत की कुछ इंजीनियरिंग प्रतिभाएं हैं।

16वीं या 17वीं शताब्दी में लिखी गई हमारी प्राचीन कृषि तकनीकों पर दो संस्कृत ग्रंथ, बलरामकृषिशास्त्रम और बसवा का कृषिशास्त्रम, 1920 में पिथापुरम में एक जमींदार के लिए काम करने वाले एक खेत प्रबंधक जोगी राजू द्वारा खोजे गए थे। इन कार्यों के अनुसार कृषि की परिभाषा निश्चित की गई। इन कार्यों के अनुसार, कृषि की परिभाषा ने कृषि से जुड़े वर्तमान विचारों / प्रथाओं की तुलना में व्यापक भूमिका निभाई है। 'कृषि में कपास से अनाज, चीनी, फूल, फल, धागा और कपड़ा, जानवरों से दूध और घी, ऊन से कंबल, रेशम के कीड़ों से रेशम, और समुद्र से नमक और पृथ्वी की उपभूमि से कीमती पत्थर प्राप्त करना शामिल है।

कृषि संस्थानों में मिट्टी को रंग, संरचना, लवणता, विभिन्न मिट्टी के अनुकूल फसलों और मिट्टी की गुणवत्ता में सुधार के तरीकों के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। हमारे स्वदेशी ज्ञान में वर्ष को 27 अवधियों में विभाजित करना और प्रत्येक अवधि में बोई जाने वाली फसलें शामिल हैं। वर्षा के पूर्वानुमान की गणना खगोलीय विधियों का उपयोग करके की गई थी। स्थानीय पर्यावरण और भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर कृषि विधियों और उपकरणों का विकास किया गया।

भोजन और औषधीय प्रयोजनों के लिए यूरोप में भारत के मसालों की बहुत मांग थी। यह यूरोप के लिए भारत के साथ व्यापार करने का रास्ता खोजने का एक प्रमुख कारण था। यह वास्को डी गामा था जो यूरोप से भारत के लिए एक समुद्री मार्ग प्रदान करने में सफल रहा। धीरे-धीरे, यूरोपीय लोगों ने उपनिवेशवाद को कुछ व्यापारिक केंद्रों को नियंत्रित करने की तुलना में अधिक आकर्षक पाया। अंग्रेजों ने 1757 से ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से व्यापारिक केंद्रों की स्थापना की, जो उपनिवेशीकरण की दिशा में उनका पहला कदम था। भारत में किसी भी रूप में विकास को हमेशा टेलीग्राफी, रेलवे और

शिपिंग जैसे तकनीकी अनुप्रयोगों सहित इंग्लैंड की प्रगति/समृद्धि में सहायता के लिए निर्देशित किया गया था।

भारतीय कृषि पर औपनिवेशिक प्रभाव

औपनिवेशिक भारत में कृषि विज्ञान का संस्थानीकरण चरणों में हुआ। पहले चरण में बागवानी और कृषि के लिए वनस्पति उद्यान और संबद्ध संस्थानों और समितियों की स्थापना देखी गई। यह एक परीक्षण चरण था, जब देश के विभिन्न हिस्सों में विदेशी किस्मों को पेश किया गया था। ब्रिटेन ने भारत में वनस्पतिशास्त्रियों द्वारा किए गए सर्वेक्षणों के दौरान एकत्र किए गए वनस्पति संग्रह में अंतर्दृष्टि प्राप्त करने पर अधिक ध्यान दिया। ये कृषि और वृक्षारोपण के सुधार के वैज्ञानिक आधार को समझने के लिए महत्वपूर्ण थे। 1778 में, औपनिवेशिक सरकार ने व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए चिंगलपुट जिले, तिन्नवेल्ली जिले, पेरंबक्कम, मदुरंतकम और सालावक्कम (वर्तमान में तमिलनाडु में सभी) में मसालों के लिए नर्सरी की स्थापना की। जायफल और लौंग के पौधों जैसे विदेशी मसालों का आयात और खेती कुट्टलम पहाड़ियों (पश्चिमी घाट, तमिलनाडु) में की जाती थी। हालांकि, इन नर्सरी पर होने वाला खर्च उनसे प्राप्त आय से काफी अधिक था और उन्हें नीलामी के माध्यम से निजी व्यक्तियों को दिया जाता था।

PDF Page No.8 Image No. 1, 2 & 3

सुद्वर दाएं: सूखे के परिणामस्वरूप भारतीय किसान कंकालों में सिमट गए, तबाह हो गए क्योंकि अंग्रेजों ने भारतीयों को खाद्य फसलों के बजाय नकदी फसलों की खेती करने के लिए मजबूर किया, जिसमें विफल रहने पर उन्हें कड़ी सजा दी जाती थी।

दाएं: ब्रिटेन के लिए बागवानी व्यापार को बढ़ावा देने के लिए, बागवानी सोसायटी का मद्रास में एक बागवानी उद्यान है

चित्र 3- ब्रिटिश शासन के दौरान बंगाल में अकाल के दौरान गंगा पर चलने वाली अनाज की नावें

नई किस्मों को बढ़ावा देने के लिए, बागवानी समितियों की स्थापना की गई। ऐसा ही एक समाज था मद्रास की कृषि और बागवानी सोसायटी (AHSM), जिसकी स्थापना 1835 में हुई थी। इस सोसायटी का उद्देश्य नई किस्मों को पेश करना, उन्नत कृषि उत्पादों के लिए पुरस्कार पुरस्कार और अनुदान के माध्यम से बागवानी का विकास करना था। अगले कुछ वर्षों में भारत में विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रयोग किए गए। नई किस्में ऑस्ट्रेलिया जैसी जगहों से आयात की गईं। 1856 में, गोंद के पेड़ (नीलगिरी) के बीज ऑस्ट्रेलिया से आयात किए गए और ऊटाकामुंड में लगाए गए, जो इस क्षेत्र में ईंधन का मुख्य स्रोत बन गया। 1866 में, ब्रिटिश सेना को मलेरिया से बचाने के लिए पेरू के द्वीपों के सिनकोना के पेड़ों को भी भारत में प्रत्यारोपित किया गया था।

पहली बार, शाही सरकार ने कृषि विज्ञान की एक शाखा के रूप में कीट विज्ञान की शुरुआत की। उनका उद्देश्य इन सभी पौधों की बीमारियों के कारणों की जांच करना था, क्योंकि इससे सरकार को राजस्व का भारी नुकसान हुआ था। भारत में आयातित किस्मों को उगाने के प्रयासों को बहुत कम सफलता मिली क्योंकि हमारे स्थानीय पर्यावरण और भूवैज्ञानिक स्थितियों को कोई महत्व नहीं दिया गया था।

अकाल और राजस्व

प्रयोग के प्रारंभिक चरण के बाद, औपनिवेशिक शासकों ने कृषि पर एक अलग नीति तैयार करने के प्रयास शुरू किए। वायसराय जॉन लॉरेंस (1864-69) ने 1866 में उड़ीसा के अकाल के बाद कृषि विभाग की स्थापना की पहल की। लेकिन उनके प्रस्ताव को अनसुना कर दिया गया। वायसराय लॉर्ड मेयो ने 1869 में फिर से देश में कृषि विकास पर जोर दिया। लॉर्ड मेयो और एओ ह्यूम, जो बंगाल सिविल सर्विस में नागरिक थे, के प्रयासों के परिणामस्वरूप 1871 में राजस्व, कृषि और वाणिज्य विभाग का निर्माण हुआ। लेकिन फिर से, औपनिवेशिक सरकार ने राजस्व को अधिक महत्व दिया। मैनचेस्टर को कपास के निर्यात में सहायता के लिए विभाग की स्थापना की गई थी, और अकाल से प्रभावित लोगों को राहत देने के लिए बहुत कम किया। वास्तव में, एक रिपोर्ट ने इस विभाग को समाप्त करने की भी सिफारिश की क्योंकि यह सरकारी राजस्व जुटाने के अपने कर्तव्य में विफल रहा। 1879 में, अपर्याप्त धन, कर्मचारियों की कमी और सरकार से समर्थन के कारण विभाग को बंद कर दिया गया था। ह्यूम ने अपने काम में, भारत में कृषि सुधार, ने कहा कि इस विभाजन का देश में कृषि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह मुख्य रूप से बस्तियों, कृषि सांख्यिकी और भू-राजस्व के रिकॉर्ड को बनाए रखने के लिए जिम्मेदार था।

1880 में, रिचर्ड स्ट्रैची के नेतृत्व में अकाल आयुक्तों ने कृषि के वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार करने और भारत में कृषि स्थितियों के पर्याप्त ज्ञान वाले अधिकारियों को नियुक्त करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके बाद 1882 में राजस्व एवं कृषि विभाग की पुनः स्थापना हुई। कृषि व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता पर जोर देने के बावजूद विभाग ने फिर से राजस्व पर ध्यान देना शुरू किया।

1905 में अलग प्रांतीय कृषि विभागों के पुनर्गठन के लिए एक योजना को मंजूरी दी गई थी। इसलिए, कृषि नीति में शाही और प्रांतीय विभाग बनाए गए। कृषि अनुसंधान संस्थान (अब भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान) की स्थापना 1905 में पूसा में उन्नत कृषि प्रशिक्षण के लिए एक कॉलेज के साथ की गई थी। संस्थान £30,000 के अनुदान के साथ आया था, और इसके निदेशक 1929 तक भारत सरकार के कृषि सलाहकार रहे थे।

प्रत्येक जिले/गांव के भूमि अभिलेख और आर्थिक तथ्यों को कृषि गतिविधियों से अलग किया गया। विशेषज्ञ, ज्यादातर पश्चिम से, विभिन्न विशिष्ट विषयों में नियुक्त किए गए थे। प्रांतीय केंद्रों के कर्मचारियों को गांवों में पहुंचकर स्थानीय किसानों की समस्याओं का समाधान करना था। प्रायोगिक खेतों से क्षेत्र में आवश्यक फसलों और कृषि तकनीकों में अनुसंधान में विशेषज्ञता की उम्मीद की गई थी। पर्याप्त कर्मचारियों की कमी, प्रशासनिक ठहराव और विश्व युद्धों ने इस पहल में बाधा डाली। 1868 में, सैदापेट में एक कृषि विद्यालय स्थापित किया गया था, जो भारत में अपनी तरह का पहला मद्रास प्रेसीडेंसी में छात्रों को व्यावहारिक किसानों के रूप में प्रशिक्षित करने के लिए स्थापित किया गया था। इसके विपरीत

महाविद्यालय में प्रशिक्षित विद्यार्थी केवल राजस्व तथा अन्य विभागों में अधीनस्थ पदों पर आसीन होने के योग्य माने जाते थे। अंग्रेज चाहते थे कि भारतीय गैर-कृषि प्रशिक्षण के माध्यम से संस्था में अधीनस्थ पदों को भरें। भले ही भारतीय कृषि में डिप्लोमा प्राप्त करने में कामयाब रहे, उन्हें हमेशा सहायता की पेशकश की गई।.

PDF Page No. 12, Image No. 1 & 2

ऊपर: पश्चिम बंगाल के उत्तर 24 परगना में गोबरदंगा जमींदार का घर। 1793 के स्थायी बंदोबस्त के साथ, अंग्रेजों ने एक जमींदार वर्ग बनाया जो मेहनती किसानों की कीमत पर बड़े पैमाने पर रहता था।

बाएं: अनाज मंडी

कृषि महाविद्यालय पुणे, कानपुर, सबौर, नागपुर और लायलपुर (अब पाकिस्तान में) में स्थापित किए गए थे। अखिल भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना 1905 में प्रांतीय सरकारों को आपस में जोड़ने और सरकार को सिफारिशें करने के लिए की गई थी। रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर की सिफारिश पर, जिसने भारत में कृषि की स्थिति की समीक्षा की, 16 जुलाई 1929 को इम्पीरियल काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च (अब आईसीएआर) की स्थापना की गई। यह संस्थान पूरे भारत में केंद्रीय और प्रांतीय विभागों और कृषि में अनुसंधान गतिविधियों के लिए उचित मार्गदर्शन और समस्या समाधान प्रदान करना था। नीतिगत दिशा-निर्देशों और अन्य कारकों ने देखा कि इन सभी योजनाओं से केवल अमीर किसानों का एक छोटा वर्ग लाभान्वित हुआ जबकि छोटे और गरीब किसानों को योजनाओं के लाभों से बाहर रखा गया। शाही सरकार का मानना था कि बड़े जमींदार और जमींदार छोटे किसानों और काश्तकारों को ज्ञान प्रदान करने में मदद करेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से, ऐसा ज्ञान कभी फैला ही नहीं।

भूमि स्वामित्व की गतिशीलता

भारतीय बाजार के साथ विदेशी व्यापारियों के मजबूत एकीकरण ने भारतीय व्यापारी-बिचौलियों पर भारी निर्भरता सुनिश्चित की। इसने आगे व्यापारी-व्यापारी समूहों पर किसान निर्भरता की व्यवस्था की अनुमति दी। परंपरागत रूप से, किसान हमेशा अपनी फसल को मजबूती की स्थिति से बेचते थे। हालांकि, एक बार जब फसल का व्यावसायीकरण शुरू हुआ, तो किसानों ने बुवाई के मौसम से पहले अपने अनाज को अच्छी तरह से बेचने के लिए अग्रिम रूप से पैसा लेना शुरू कर दिया। 1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस द्वारा स्थायी भूमि बंदोबस्त की स्थापना के साथ गांव की गतिशीलता बदल गई। कर लगाने के अधिकार के साथ जमींदारों का एक वर्ग बनाया गया था। इस नए लगाए गए वर्ग के तहत ग्राम समुदाय विभाजित हो गए, और अधिक भूमिधारक जमींदार बन गए। इस परिवर्तन से बंगाल, बिहार और उड़ीसा सबसे अधिक प्रभावित हुए। किसान कर्जदार बन गए, कृषि उत्पादक नहीं। छोटे किसानों को विभिन्न कारणों से ग्रामीण ऋण की आवश्यकता होती है जैसे कि अधिक रकबे के लिए अधिक निवेश, अपने निर्वाह के लिए खाद्य फसलों पर निर्भरता, फसल में उतार-चढ़ाव, किराए और करों का मुद्रीकरण आदि।

अंग्रेजों ने हमारी स्वदेशी कृषि प्रणाली में कोई सुधार करने की जहमत नहीं उठाई। इसका कारण यह नहीं था कि प्रणाली किसी भी सुधार में असमर्थ थी, बल्कि इसलिए कि इसे आधुनिक जरूरतों में बाधा के रूप में माना जाता था।

पूर्व-औपनिवेशिक युग में भारतीय कृषि में निर्वाह कृषि का प्रभुत्व था। उगाए गए अधिशेष अनाज को संग्रहीत किया जाता था ताकि इसे किसी भी प्राकृतिक आपदा के खिलाफ इस्तेमाल किया जा सके। साम्राज्यवादी एजेंडे के अनुरूप, कृषि में विज्ञान को बढ़ावा देना हमेशा प्रतिबंधित विकास के अधीन था। पूर्व-औपनिवेशिक ग्रामीण संरचना को ध्वस्त कर दिया गया था, और पूरे ढांचे को व्यावसायीकरण की ओर धकेल दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप घरेलू खपत के लिए खेती से बाजार के लिए खेती में बदलाव आया। निर्यात से उत्पन्न राजस्व सीधे ब्रिटिश व्यापारी परिवारों, बड़े किसानों, कुछ भारतीय व्यापारियों और साहूकारों को लाभान्वित करता है। खाद्य फसलों को भी विभिन्न बाजार नेटवर्क में शामिल किया गया था। चावल और गेहूँ का उत्पादन न केवल प्राथमिक उपभोग के लिए बल्कि दूर के बाजारों के लिए भी होने लगा। वृक्षारोपण के विपरीत, नील, अफीम, रेशम, गन्ना, कपास, गेहूं और जूट जैसी व्यावसायिक फसलें ज्यादातर छोटे किसानों द्वारा उगाई जाती थीं जो अपनी कार्यशील पूंजी के लिए व्यापारियों पर निर्भर थे।

PDF Page No. 13, Image NO 1 & 2

ब्रिटिश प्रांतों और मूल राज्यों को दर्शाने वाले अकाल के दौरान आयोग की रिपोर्ट के लिए भारत का नक्शा, 1879;

ऊपर: 1898 में भारत में सूखा प्रभावित जिलों को दर्शाने वाला नक्शा

फ्रांस की क्रांति और यूरोप में खपत के पैटर्न के कारण भारत से चीनी की मांग बढ़ी। 1884 और 1899 के बीच, गन्ने का रकबा 282,000 एकड़ से बढ़कर 862,200 एकड़ हो गया जिसमें पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में इस वृद्धि का आधे से अधिक हिस्सा था। फिर से 1861 के कपास अकाल ने भारत में कपास की खेती की मांग को बढ़ा दिया। दक्षिण भारत में कृषि विभाग द्वारा करुंगन्नी नामक स्थानीय किस्म से कपास की एक नई किस्म विकसित की गई थी। उच्च फाइबर गुणवत्ता वाली इस किस्म को बढ़ावा दिया गया, जिससे क्षेत्र में कपास की खेती के तहत क्षेत्र में वृद्धि हुई। पूर्वी बंगाल में रंगपुर, मयमनसिंह और ढाका में जूट बागान क्षेत्र का उच्च प्रतिशत क्षेत्र में जूट मिलों की जरूरतों को पूरा करने के लिए है। जॉर्ज ब्लाइन ने अपने काम में भारत में कृषि रुझान, 1891-1947: उत्पादन, उपलब्धता और उत्पादकता से पता चला कि 1891-1947 में जनसंख्या में वार्षिक वृद्धि 0.67% थी। हालांकि, इस अवधि के दौरान खाद्यान्न के कुल उत्पादन में केवल 0.11% की वृद्धि हुई। इस अवधि के दौरान प्रति एकड़ अनाज के उत्पादन में सालाना 0.18% की कमी आई। अत्यधिक व्यावसायीकृत गैर-खाद्य फसलों की कीमतों में 0.86% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई जबकि उनके कुल उत्पादन में प्रति वर्ष 1.31% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार 1901-41 की अवधि में, मद्रास में 0.35 प्रतिशत खाद्यान्न और 1.25 प्रतिशत गैर-खाद्यान्न की

वार्षिक औसत वृद्धि दर थी। धीरे-धीरे, ब्रिटिश सरकार की जरूरतों के अनुरूप भारतीय कृषि को व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप से पुनर्गठित किया गया।

अध्ययनों से पता चलता है कि 1600 ईस्वी में भारत विश्व सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 22% था। 1947 में यह गिरकर 4% हो गया। अंग्रेजों ने हमारे कृषि बाजार को सफलतापूर्वक नष्ट कर दिया। आज, एक आत्मनिर्भर भारत की दिशा में अपने लक्ष्य के हिस्से के रूप में, हमें अपने स्वदेशी कृषि ज्ञान पर गर्व करना चाहिए और इसे आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़कर इसे एक जीवंत कृषि क्षेत्र के रूप में आगे लाना चाहिए।

- लेखक सीएसआईआर-इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ केमिकल टेक्नोलॉजी, हैदराबाद में साइंस कम्युनिकेटर हैं।

गौरव से बर्बादी की ओर: औपनिवेशिक शासन के तहत भारतीय कपड़ा उद्योग की गाथा

अंग्रेजों द्वारा भारतीय कपड़ा उद्योग के व्यवस्थित विनाश ने दुनिया के सबसे बड़े कपड़ा उत्पादक को केवल तैयार विदेशी माल के लिए बाजार और इसके कुशल बुनकरों को खेतिहर मजदूरों तक सीमित कर दिया।

डॉ विवेक कुमार

भारतीय मलमल जैसे ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि भारत का कपड़ा उद्योग शायद सबसे पुराना है, जिसका उपयोग मिस्र के लोग 5000 ईसा पूर्व के रूप में करते थे। पहले भी वे अपनी ममी को कपड़े पहनाते थे और लपेटते थे। विभिन्न पुरातात्विक निष्कर्ष और प्राचीन ग्रंथ इसके अस्तित्व का संकेत देते हैं। प्राचीन और मध्यकाल में भारतीय वस्त्रों को महत्व मिला; शैली और सौंदर्यशास्त्र में विशिष्टता और विविधता, कलात्मकता, बुनाई में कौशल और देश के विभिन्न क्षेत्रों के वस्त्रों की विविधता, साबर डिजाइन इस भारतीय परंपरा की समृद्धि को दर्शाते हैं।

कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, भारत के हर क्षेत्र में कपड़ा बुनाई की अपनी अनूठी तकनीक है। कश्मीर की पश्मीना से लेकर आंध्र प्रदेश की कलमकारी तक, गुजरात की बंधनी से लेकर असम के मुगा रेशम तक, भारतीय वस्त्र आज भी वस्त्रों के वैश्विक चित्रमाला में एक विशेष दर्जा रखते हैं। हालाँकि, औपनिवेशिक काल ने भारतीय कपड़ा उद्योग और बुनकरों को नष्ट कर दिया। अंग्रेजों ने भारत से कच्चे माल का निर्यात करके और भारत में तैयार कपड़ा उत्पादों को बेचकर इस उद्योग को रणनीतिक रूप से नष्ट कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय कपड़ा उद्योग के महत्व को बाद में पहचाना गया और यह स्वतंत्रता संग्राम का एक बड़ा हिस्सा बन गया, इस प्रकार भारतीय वस्त्र / हथकरघा के पुनरुद्धार के लिए 1905 में स्वदेशी आंदोलन की स्थापना की गई।

प्राचीन भारत में भारतीय कपड़ा

मिस्र में काहिरा के पास एक साइट पर खुदाई के दौरान हम्सा (हंस) डिजाइन के साथ सूती कपड़े का सबसे पुराना टुकड़ा मिला था। सिंधु-सरस्वती घाटी सभ्यता के कई पुरातात्विक साक्ष्य हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हूदड़ो, लोथल, सुरकोटडा और कालीबंगा में पाए गए हैं। ये स्थल पत्थर, मिट्टी, धातु, टेराकोटा और लकड़ी के तकले और धुरी के भंवर, डाई वत्स, सुई, बुने हुए और रंगे हुए वस्त्रों के टुकड़े, जंगली स्वदेशी रेशम कीट प्रजातियों और तांबे के मोतियों के अंदर रेशम के धागे के शुरुआती नमूनों के लिए अद्वितीय प्रमाण प्रदान करते हैं। भारत में कपास, ऊन, बुनाई, सिलाई, रंगाई और रेशम का उपयोग बहुत आम था।

वैदिक साहित्य, महाभारत और रामायण भारतीय वस्त्रों, बुनाई और कताई सामग्री के प्रसार के लिए अद्वितीय प्रमाण प्रदान करते हैं। महाभारत में, भगवान कृष्ण को हमेशा काशी पीतांबर (बनारस, उत्तर

प्रदेश से रेशम) पहनने के रूप में वर्णित किया गया था। परिधान रूपकों की उच्च आवृत्ति और ऋग्वेद में बुनकरों से संबंधित कुछ शब्दों से पता चलता है कि वैदिक समाज में कताई और बुनाई अत्यधिक उन्नत और सम्मानित व्यवसाय थे।

PDF Page No. 15, Image No. 1
एक हथकरघा पर काम करने वाली महिला, खादी बुनती है, जो एक पारंपरिक भारतीय कपड़ा है जिसे कपास, रेशम या ऊन जैसी प्राकृतिक सामग्री के साथ हाथ से काता और बुना जाता है।

मौर्य काल (321 ईसा पूर्व - 185 ईसा पूर्व) के दौरान, भारतीय वस्त्र विचारों, संस्कृति, शैली और तकनीकों के क्रॉस-निषेचन के कारण ऐतिहासिक प्रमुखता पर पहुंच गए। इस अवधि के दौरान मिस्र, चीन, ईरान और भूमध्यसागरीय क्षेत्र के साथ स्थापित भारत के लंबी दूरी के व्यापार आदान-प्रदान में वस्त्रों का और सबूत प्राप्त है। मेगस्थनीज, चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जातक कहानियां, बौद्ध और जैन ग्रंथ कपड़ा क्षेत्र का विशद विवरण प्रदान करते हैं, जो प्राचीन भारत में एक अच्छी तरह से विकसित और संरचित कपड़ा उद्योग का संकेत देते हैं।

कपड़ा उद्योग दक्कन और दक्षिण भारत में विशेष रूप से सातवाहन, पल्लव और चोल शासकों के संरक्षण में फला-फूला। भारतीय वस्त्र हिंद महासागर में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर हावी थे। प्राचीन काल में कपास और रेशम बुनाई के कई उत्कृष्ट केंद्र उभरे और इन केंद्रों की प्रतिष्ठा आज भी कायम है। मदुरै, पुहार की कहानियां और कांचीपुरम, त्रिभुवनम, अरनी, थिरुपर्ककदल, विरिनचिपुरम, वारैयूर, तिरुपति, कालाहस्ती, गुगई, सेलम, सुलूर, वेंकटगिरी, धर्मावरम, कुंभकोणम, तंजावुर और वृद्धाचलम जैसे शहरों के विकास की कहानियां भारतीय शास्त्रों की एक प्राचीन भाषा बोलती हैं।

गुप्त और वर्धन काल के दौरान भारतीय वस्त्र फलते-फूलते रहे। श्रद्धेय कवि कालिदास और चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारतीय वस्त्रों की कलात्मकता और सुंदरता का विशद वर्णन किया है।

मध्यकालीन भारत में हेण्डलूम

भारत में मध्ययुगीन काल में भी कपड़ा और वस्त्र बनाने में इस्तेमाल की जाने वाली तकनीकों, रूपांकनों और प्रौद्योगिकी में फारसी प्रभाव देखा गया। शाही दरबार के संरक्षण से वस्त्र उत्पादन और व्यापार में वृद्धि हुई। मध्यकाल में बुनकरों का कौशल उल्लेखनीय स्तर पर पहुंच गया। अमीर खुसरो ने एक बार भारतीय मलमल का वर्णन इस प्रकार किया था: 'इसका सौ गज सुई की आंख से गुजर सकता है, इसकी बनावट उतनी ही बारीक और सूक्ष्म है, फिर भी सुई की धार इसे मुश्किल से छेद सकती है। वह इतना पारदर्शी और चमकीला है कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसने कोई कपड़ा नहीं पहना है बल्कि अपने शरीर को केवल शुद्ध पानी में लपेटा है।'

एक बड़े यूरोपीय बाजार के साथ मुगल शासन के दौरान कपड़ा उद्योग सबसे बड़ा उद्योग बन गया। ढाका (वर्तमान में बांग्लादेश में ढाका) में उत्पादित मलमल अपने चरम पर पहुंच गया और शासकों और रईसों द्वारा इसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।

राष्ट्रकूटों (6ठी-10वीं शताब्दी) के शासनकाल के दौरान, गुजरात कपास और रेशम, जरी के काम, ब्रोकेड और कढ़ाई के लिए एक प्रमुख विनिर्माण केंद्र बन गया। उन्नत बुनाई तकनीक विकसित और विकसित हुई; इनमें पटोला, किनखाब और तंचोई शामिल हैं, जिन्हें चीन से आत्मसात किया गया था। बाद में, कपड़ा छपाई जैसे अन्य शिल्प निर्माण की मांग भी बढ़ी, खासकर यूरोपीय लोगों के बीच। सफेद कैलिको का निर्यात फारस, अरब, पोलैंड, तुर्की और काहिरा को किया जाता था।

PDF Page No. 16, Image No. 1 & 2
ऊपर: चरखे से खादी बुनते हुए महात्मा गांधी (स्थान अज्ञात); बाएं: 1880 के दशक में रेशम की कताई करती एक युवा भारतीय महिला

दक्षिणी भारत में, विजयनगर साम्राज्य (1336-1646 ईस्वी) ने बाहरी व्यापार और साम्राज्य के भीतर एक विस्तारित अभिजात वर्ग दोनों की मांगों को पूरा करने के लिए कपड़ा उत्पादन के पैमाने में नाटकीय वृद्धि देखी। कपड़ा उत्पादन का संगठन पैमाने और जटिलता में वृद्धि हुई। 'मास्टर बुनकरों' का एक नया समूह उभरा जिसने बड़ी संख्या में करघों को नियंत्रित किया और अपने उत्पादों के वितरण में व्यापारियों के रूप में काम किया। 15वीं शताब्दी के अंत तक, इन व्यक्तियों के पास 100 करघे थे।

पाल शासनकाल (सी. 750-1161 ई.) के दौरान, कपड़ा क्षेत्र ने बंगाल की अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बंगाल के गांवों के कपड़ा उत्पादों को दुनिया के कई हिस्सों में लोगों द्वारा अत्यधिक महत्व दिया जाता था, जो सबसे अधिक मांग वाले और आनंदित थे। परिणामस्वरूप, बंगाल उत्तम गुणवत्ता वाले सूती कपड़े का एक प्रमुख बंदरगाह बन गया, जिसके परिणामस्वरूप अरब जैसे दूर देशों के साथ सूती वस्तुओं का व्यापार तेज हो गया। रेशम की खेती बंगाल में भी बहुत लोकप्रिय थी।

PDF Page No. 16, Image No. 3
कॉटन ग्रीन मिल्स, सी. 1910, ताजमहल होटल के सामने, कोलाबा, बॉम्बे

ब्रिटिश काल: भारतीय हेण्डलूम उद्योग का पतन

ब्रिटिश, डच, पुर्तगाली और फ्रेंच द्वारा रेशम को दुनिया तक पहुंचाने के लिए भागीर से नदी के किनारे 'कुठी' नामक बड़ी संख्या में कारखाने या केंद्र स्थापित किए गए थे। 17वीं शताब्दी के अंत में, इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने कोरोमंडल, सूरत और बाद के बंगाल में कारखानों और केंद्रों की स्थापना की, और कपास का आयात किया, ज्यादातर कैलिको, एक रंगे या मुद्रित कपड़े के रूप में। सूती कपड़े ब्रिटेन में बहुत लोकप्रिय थे क्योंकि वे पारंपरिक ऊनी कपड़ों की तुलना में अधिक आरामदायक थे और रेशम की तुलना में बहुत सस्ते थे। 1700 ईस्वी में, भारतीय हेण्डलूम कपड़ा इंग्लैंड में इतना लोकप्रिय था कि किंग विलियम III को भारतीय रेशम और केलिको पहनने वालों पर 200 पाउंड का जुर्माना लगाना पड़ा। कैलिको अधिनियम (1700, 1721) ने ब्रिटिश ऊन और रेशम उद्योग को पुनर्जीवित करने के लिए ब्रिटेन में अधिकांश सूती वस्त्रों के आयात पर प्रतिबंध लगा दिया, इसके बाद अधिकांश सूती सामानों के उपयोग और बिक्री पर प्रतिबंध लगा दिया। यह आर्थिक संरक्षणवाद का एक रूप था, जो मुख्य रूप से उस समय विश्व सूती कपड़ा बाजारों में भारत पर हावी होने की प्रतिक्रिया में था। जब अंग्रेजों ने उपमहाद्वीप पर नियंत्रण हासिल करना शुरू किया, तो बंगाल वस्त्रों, विशेष रूप से रेशमी कपड़ों के विदेशी व्यापारियों का एक प्रमुख केंद्र था। ढाका, मुर्शिदाबाद और कोसिमबाजार प्रसिद्ध ढाका या बंगाल की मलमल, बलूचरी रेशम और जामदानी रेशम के कपड़े खरीदने वाले विदेशी व्यापारियों से भरे हुए थे। बंगाल के रेशमी कपड़े बहुत उच्च गुणवत्ता के थे। देश के अन्य भागों के वस्त्र उत्पाद भी विश्व को प्रमुख निर्यात थे।

18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी की शुरुआत में, औद्योगिक क्रांति ने यूरोप में माल के उत्पादन के तरीके को बदल दिया। हस्तशिल्प और हेण्डलूम उद्योगों की तुलना में बड़े पैमाने पर माल का उत्पादन संभव हो गया। धन के लोभ से प्रेरित व्यापारियों ने जुआ खेला और जल्द ही कच्चे माल और उनके तैयार माल को बेचने के लिए बाजारों से बाहर भाग गए। इस दोहरी आवश्यकता की पूर्ति उनके द्वारा अधिग्रहित सम्पदाओं से होती थी। इस प्रकार, अपने तैयार माल को बेचने और कच्चे माल की सोर्सिंग के लिए नए सम्पदा प्राप्त करने की हड़बड़ी थी। 18वीं शताब्दी में भारत में घटती मुगल शक्ति और आंतरिक सत्ता संघर्षों ने यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों को भारतीय क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का सही अवसर प्रदान किया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1757 में प्लासी की लड़ाई और 1764 में बक्सर की लड़ाई में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में अपनी पहचान बनाई। उसने बंगाल पर कब्जा कर लिया और कलकत्ता से भारत में अपना शासन स्थापित किया। बदली हुई परिस्थितियों में, अंग्रेजों ने भारत को सस्ते कच्चे माल की खरीद के साथ-साथ औद्योगिक क्रांति के बाद के युग में अपने उत्पादों के लिए एक बाजार के रूप में देखा। ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय शासकों को भारतीय बाजार पर अपना अधिकार बढ़ाने के लिए राजी किया। स्थानीय बुनकरों को एक निश्चित दर पर बेचने के लिए मजबूर किया गया था, और केवल अंग्रेजों को अपना माल बेचने के लिए अनुबंधित किया गया था। बुनकर मुश्किल से उत्पादन की कुल लागत का 80% तक वसूल कर पाते हैं, जिससे उन्हें समय के साथ अत्यधिक गरीबी में जाना पड़ता है। 1835 में, ब्रिटेन से सूती कपड़े पर केवल 2.5% का न्यूनतम आयात शुल्क लगाया गया था, जबकि

भारतीय सूती कपड़े पर 15% का निर्यात शुल्क लगाया गया था। इसके अलावा, इंग्लैंड से माल केवल अंग्रेजी मालवाहक जहाजों में लाया जा सकता था (अंग्रेजों द्वारा अमेरिका जैसे अन्य उपनिवेशों में भी यही सिद्धांत इस्तेमाल किया गया था)। परिणामस्वरूप, भारतीय माल ब्रिटिश बाजार में प्रवेश नहीं कर सका, जबकि ब्रिटिश माल भारतीय बाजार में भर गया और भारतीय घरेलू उद्योग व्यवस्थित रूप से नष्ट हो गए। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने शहतूत रेशम के कीड़ों की नई किस्मों और बंगाल में रेशम की रीलिंग की एक नई उन्नत विधि की शुरुआत करके बंगाल रेशम उद्योग को भी नष्ट कर दिया। बाद में ब्रिटिश कंपनी ने भी कच्चे रेशम की बिक्री पर उच्च कर लगाना शुरू कर दिया और इसकी कीमतों को नियंत्रित किया। इसने स्थानीय लोगों और रेशम बुनकरों को अत्यधिक गरीबी में धकेल दिया। इसके अलावा, 1833 के बाद, भारी नुकसान के कारण ब्रिटिश कारखाने भी पूरी तरह से बंद हो गए और बंगाल में रेशम उद्योग पूरी तरह से नष्ट हो गया।

भारतीय हस्तशिल्प और कपड़ा उद्योग की अचानक गिरावट ने बुनकरों के एक बड़े समुदाय के लिए बेरोजगारी पैदा कर दी। कोई अन्य विकल्प नहीं होने के कारण, उनमें से कई खेतिहर मजदूरों के रूप में काम करने के लिए गांवों में चले गए, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण अर्थव्यवस्था और आजीविका पर दबाव बढ़ गया और समाज में बेरोजगारी की समस्या पैदा हो गई। भारत ने 17वीं शताब्दी में दुनिया के 25% वस्त्रों का उत्पादन किया, जो बाद में 1947 में औपनिवेशिक शासन के अंत तक घटकर केवल 2% रह गया। कभी एशिया, यूरोप और अफ्रीका में भारी मांग वाले भारतीय वस्त्र अब घरेलू बाजार से भी वंचित हैं क्योंकि भारतीय बाजार में रेडीमेड, मशीन-मेड और सस्ते ब्रिटिश सामान की बाढ़ आ गई है। इंग्लैंड में पुराने हथकरघा बुनकरों की मृत्यु के बाद मशीन उद्योग का विकास हुआ। लेकिन भारत में लाखों कारीगरों और शिल्पकारों के विनाश के साथ, नए औद्योगिक रूपों का कोई वैकल्पिक विकास नहीं देखा गया। जिससे कारीगरों को बड़े पैमाने पर अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में क्राउन शासन की आर्थिक नीतियों का उद्देश्य केवल भारत को ब्रिटिश वस्तुओं के उपभोक्ता में बदलना था और बदले में, केवल ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचाना था।

आजादी से पहले: खादी - 'भारतीय स्वतंत्रता का कपड़ा'

1867 में, दादाभाई नवरोजी, 'द ग्रैंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया' ने अपनी पुस्तक, पॉवर्टी इन इंडिया एंड नॉन-ब्रिटिश रूल में आर्थिक नाली सिद्धांत की शुरुआत की। उन्होंने यह साबित करने की कोशिश की कि भारत में अत्यधिक गरीबी आंतरिक कारकों का परिणाम नहीं है, बल्कि औपनिवेशिक शासन के लिए जिम्मेदार है जिसने भारत के धन और समृद्धि को नष्ट कर दिया। प्रसिद्ध लेखक, कवि और राष्ट्रवादी आर.सी. दत्त यह भी नोट करते हैं: 'राजा द्वारा लगाया गया कर उस नमी की तरह है जिसे सूर्य द्वारा अवशोषित किया जाता है और बारिश की उर्वरता के रूप में पृथ्वी पर वापस आ जाता है; लेकिन भारतीय मिट्टी से निकाली गई नमी अब ज्यादातर अन्य क्षेत्रों की भूमि पर उपजाऊ बारिश के रूप में गिरती है, न कि भारत में।

PDF Page No. 18, Image No. 1

तमिलनाडु के कांचीपुरम में बुनी गई रेशम की साड़ियाँ विश्व प्रसिद्ध हैं। कांचीपुरम में रेशम व्यापार 10वीं-11वीं शताब्दी में राजा चोल प्रथम के शासनकाल के दौरान शुरू हुआ था।

भारतीय देशभक्त नेताओं ने भारतीय कपड़ा उद्योग की अनियंत्रित कमजोरी को देखा और साथ ही साथ कमजोर भारतीय अर्थव्यवस्था को भी देखा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1891 में अपने 7वें सत्र में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें लोगों से केवल भारतीय वस्तुओं का उपयोग करने और आयातित वस्तुओं का बहिष्कार करने का आग्रह किया गया और स्पष्ट रूप से 'स्वदेशी' या भारतीय वस्तुओं के उपयोग का आह्वान किया गया। यह आंदोलन बंगाल के विभाजन (1905) के साथ अपने चरम पर पहुंच गया, जिसके कारण आयातित वस्तुओं, विशेषकर अंग्रेजी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया। 1905 में धोती बंगाल में भारतीय और ब्रिटिश हितों की असंगति के संकेत के रूप में फिर से उभरे। 1915 में उनके दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के बाद, गांधीजी के स्वराज के विचार से आंदोलन को गति मिली। उन्होंने ब्रिटिश शासन के दौरान हाथ से कताई खादी, यानी हाथ से काता और हाथ से बुने हुए कपड़े, जिसे खद्दर भी कहा जाता है, को फिर से शुरू किया और अंततः लोगों को इसका व्यापक रूप से उपयोग करने के लिए प्रेरित किया। खादी ने एक महत्वपूर्ण उत्प्रेरक और परिवर्तन के मुद्दे के रूप में एकीकृत भारत को जन्म देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लोगों को चरखे से सूत कातने और खादी पहनने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस तरह यह एक ऐसी सामग्री बन गई जिससे विभिन्न पृष्ठभूमि के लोग संबंधित हो सकते हैं। आंदोलन को लोकप्रिय बनाने के अभियान ने कई रूप लिए, जिसमें कपड़ा उत्पादन की प्रदर्शनी और खादी की वस्तुओं को बेचने वाली प्रदर्शनियों का आयोजन शामिल है। गांधी के लिए, खादी प्रतीकात्मक रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उत्थान और विविधीकरण का केंद्र बिंदु थी। अंग्रेजों ने खादी आंदोलन पर अंकुश लगाने की कोशिश की, लेकिन जितना अधिक इसे नियंत्रित किया गया, यह उतना ही शक्तिशाली और व्यापक होता गया। लोगों ने आयातित कपड़ों को जला दिया और खादी पहनना चुना, और यह जल्दी से एक जन आंदोलन बन गया और देश की महिलाएं पहली बार अपने घरों से बाहर निकलीं और आंदोलन में शामिल हुईं और विदेशी सामान बेचने वाली दुकानों पर धरना दिया।

PDF Page No. 18, Image No. 2

मोहनजोदड़ो (2200-1900 ईसा पूर्व) में पाया गया एक पुजारी राजा या दाढ़ी वाला आदमी एक तिरछी

पैटर्न के साथ एक शॉल पहनता है, जो प्राचीन भारतीयों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले वस्त्रों का सुझाव देता है।

निष्कर्ष

भारतीय कपड़ा उद्योग सिंधु-सरस्वती सभ्यता से पहले का है। प्राचीन और मध्यकाल के दौरान, भारतीय सूती, रेशम, जूट और मलमल के कपड़े कई देशों को निर्यात किए जाते थे। इस उद्योग ने भारत की अर्थव्यवस्था में बहुत योगदान दिया। 18वीं शताब्दी के अंत तक, भारत पूरी दुनिया को हेण्डलूम वस्त्रों का मुख्य आपूर्तिकर्ता था; हालाँकि, 19वीं शताब्दी की शुरुआत में इस तरह के एकाधिकार का अंत हो गया। राजनीतिक और आर्थिक वर्चस्व के साथ, अंग्रेजों ने कीमतों, उच्च कराधान, हिंसा, पावरलूम के नवाचार और भारतीय रूपांकनों और डिजाइनों की रणनीतिक चोरी की स्थापना करके भारतीय हेण्डलूम उद्योग को पंगु बनाने में कामयाबी हासिल की और 1813 के अंत तक, भारतीय कपड़ा उद्योग ने अपना घरेलू और विदेशी बाजार आधार खो दिया था। सस्ते ब्रिटिश-निर्मित सामानों से अनुचित प्रतिस्पर्धा के कारण बुनकरों की आजीविका चली गई। हालांकि, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, भारतीय नेताओं ने भारत के स्वतंत्रता संग्राम में खादी को एक उपकरण के रूप में बढ़ावा दिया। कताई और बुनाई को आत्मनिर्भरता का प्रतीक माना जाता था। अंततः, खादी आंदोलन ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटिश कपड़ा उद्योग की मंदी और मैनचेस्टर में मिलों को बंद कर दिया, जो भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में एक प्रमुख मोड़ साबित हुआ। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हथकरघा क्षेत्र की भूमिका के महत्व को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि भारतीय हथकरघा की इस सदियों पुरानी परंपरा को 1905 में शुरू हुए देश के पहले स्वदेशी आंदोलन के सम्मान में 7 अगस्त को हेण्डलूम दिवस के रूप में मनाया जाता है।

PDF Page No. 19, Image No. 1 & 2

ऊपर: ईस्ट इंडिया कंपनी के कोसिमबाजार मुर्शिदाबाद सिल्क फैक्ट्री की एक तस्वीर
बाएं: करघे पर एक बुनकर मुगा रेशम बुनता है, जो अद्वितीय है और दुनिया में असम के आलावा कहीं और पैदा नहीं होता है।

*लेखक सीआरडीटी (सेंटर फॉर रूरल डेवलपमेंट एंड टेक्नोलॉजी), IIT दिल्ली में प्रोफेसर हैं।

शीर्षक: खून से सना नीला विद्रोह

भारत के 'नीले सोने' के रूप में जाना जाता है, इंडिगो ब्रिटिश राज के लिए सबसे अधिक लाभदायक व्यापारिक वस्तु बन गया। लेकिन इसका महत्व पहली वस्तु होने में निहित है जिसका किसान औपनिवेशिक शक्तियों के खिलाफ खड़ा हुआ था।

प्रो राजीव सिंह

"इंडिगो डाई मानव रक्त से रंगे बिना इंग्लैंड नहीं पहुंची"

EWL टॉवर की गवाही, इंडिगो कमीशन (1860)

क्या आपने इस लेख को पढ़ते समय एक जोड़ी नीली डेनिम जींस पहनी है? तो इसके लिए भारत के इंडिगो किसानों को धन्यवाद दे। 1873 में, जब लेवी स्ट्रॉस ने डबल एक्स ब्लू डेनिम 501एस की पहली जोड़ी लॉन्च की, तो यह भारत की इंडिगो डाई थी जिसने इसे अपना ट्रेडमार्क नीला रंग दिया।

PDF Page No. 20, Image No. 1 & 2

बाएं: 1877 में इलाहाबाद में एक इंडिगो कारखाने में हाथ कताई

दाएं: 1877 में इलाहाबाद में एक इंडिगो फैक्ट्री में इंडिगो बॉयलर और फेकुला टेबल

नील विद्रोह या इंडिगो विद्रोह, अंग्रेजों के खिलाफ अपनी तरह का पहला विद्रोह था जिसने उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थितियों को हिलाकर रख दिया, एक ऐसा असंतोष जिसने समाज के विभिन्न वर्गों को अंग्रेजों के खिलाफ एकजुट किया और इंग्लैंड के चेहरे पर 'अत्याचारी' के रूप में एक स्थायी छाप छोड़ी। '। इस निष्क्रिय अहिंसक विद्रोह को महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जो अपनाया, उसका अग्रदूत आसानी से माना जा सकता है।

भारत की स्थिति

इंटरनेट पर विभिन्न स्रोतों से हमें जो मिलता है, उसके विपरीत विश्वास के विपरीत, इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन काल से भारतीय मुख्य भूमि से बड़ी मात्रा में वाणिज्यिक नील की खेती, उत्पादन और व्यापार किया जाता था। प्राचीनतम संदर्भ अथर्ववेद के प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। इंडिगो का उल्लेख विभिन्न यात्रियों और लेखकों द्वारा किया गया है - 'इंडिकॉन', 'इंडिकम' डायोस्कोराइड्स (60 ईस्वी) और प्लिनी द एल्डर द्वारा क्रमशः। इतालवी उद्योगपति, मार्को पोलो (13वीं शताब्दी), त्रावणकोर के बंदरगाह पर

इसके सबूत के बारे में लिखते हैं। टैवर्नियर (16वीं शताब्दी) भारत में अपनाई जाने वाली निर्माण प्रक्रिया का विवरण देता है।

काफी सदियों से, भारत अंतरराष्ट्रीय व्यापार का केंद्र रहा है; पहली शताब्दी ईस्वी सन् के एक मिस्र के व्यापारी का रिकॉर्ड, बरिगाज़ा (वर्तमान भरूच, गुजरात) के बंदरगाह से मुख्य अंतरराष्ट्रीय निर्यात के रूप में नील, सूती कपड़े, वस्त्र, रेशम आदि को सूचीबद्ध करता है। अंग्रेजों के यहां आने से पहले भारतीय ब्रांड इंडिगो की अंतरराष्ट्रीय बाजार में मौजूदगी थी। 17वीं शताब्दी के मध्य तक, भारतीय नील की तीन प्रमुख किस्में विश्व बाजार पर हावी हो गईं - सरखेज, बियाना और बड़ौदा - और बहुत प्रतिस्पर्धी मूल्य थे। भारतीय उपज की बेहतर गुणवत्ता ने यूरोप में स्थानीय रूप से उत्पादित किस्म को छोड़कर यूरोपीय बाजारों पर पूरी तरह कब्जा कर लिया।

बहुत जल्द, भारत के साथ व्यापार के एकाधिकार के नियंत्रण को लेकर पुर्तगालियों और डचों के बीच प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई। डच ईस्ट इंडिया कंपनी ने जल्द ही भारतीय नील उत्पादकों के साथ सहयोग करना शुरू कर दिया और बेहतरीन गुणवत्ता वाले भारतीय नील की आपूर्ति करके पूरे यूरोपीय बाजारों पर कब्जा कर लिया। इसने अन्य यूरोपीय राजाओं को परेशान किया और भारतीय व्यवसायों के खिलाफ कई प्रतिबंध लगाए गए। फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ ने नील के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया और एक उद्घोषणा जारी की जिसने इसे मौत की सजा के साथ इस्तेमाल किया (मजेदार रूप से यह अभी भी मौजूद है, क्योंकि इसे औपचारिक रूप से निरस्त नहीं किया गया है)। अंग्रेजी संसद ने एक अधिनियम और निषेध विनियमों द्वारा डाई को जहरीला घोषित किया और इसके उपयोग पर रोक लगा दी। यह कानून 1660 तक लागू रहा।

इस बीच, इंग्लैंड ने अपनी ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से धीरे-धीरे भारत में अपना पैर जमाना शुरू कर दिया था, लेकिन राजनीतिक घटनाओं की एक श्रृंखला ने दोनों देशों के बीच नील के व्यापार को लगभग पूरी तरह से ठप कर दिया। इन आंकड़ों से आर्थिक मूल्य में बदलाव का अनुमान लगाया जा सकता है: इंग्लैंड को भारतीय नील का निर्यात, जो कि 1660-63 में प्रति वर्ष £2,00,000 था, ब्रिटिश आयात के संबंध में £54,000 पाउंड (1698-1710) तक कम हो गया था और बाद में 1741-60 के दौरान £1,310 प्रति वर्ष तक निम्न किया गया।

इंग्लैंड अब बीच में नाटकीय रूप से कदम रखता है

करीब एक दशक तक पूरी दुनिया नील उद्योग को भूलती रही, हालांकि भारत में इसकी खेती छोटे पैमाने पर जारी रही। 1770 में, एक फ्रांसीसी उद्योगपति ने बंगाल का दौरा किया और भारतीय किसानों के साथ संबंध स्थापित करना शुरू कर दिया। उनका प्रयास सफल रहा और उस समय बंगाल में मौजूद ईस्ट इंडिया कंपनी ने तुरंत उन पर ध्यान दिया। जल्द ही, कंपनी ब्रिटिश उद्योगपतियों, वेस्ट इंडीज के बागान मालिकों और व्यापारियों को भारत ले आई और अपने व्यापार को पुनर्जीवित करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए। बहुत जल्द, कंपनियों की समृद्धि अपने चरम पर पहुंच गई और बागवानों ने

अपने विशाल कृषि सम्पदा से बहुत अधिक संपत्ति अर्जित की और विलासिता का जीवन जीने के लिए भारत में बस गए। कंपनी के अराजक शासन ने कंपनी के कर्मचारियों के स्वामित्व वाले उद्योगों के पक्ष में स्थानीय बंगाल उद्योगों के गैर-औद्योगिकीकरण का नेतृत्व किया।

अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने शेष दुनिया के साथ भारत के नील व्यापार पर पूरी तरह से एकाधिकार कर लिया। सबसे पहले, यह विकास धीमा था और कई नुकसान हुए, लेकिन फिर कंपनी ने 1789 में एक स्मार्ट कदम उठाया, दुनिया भर में भारतीय नील व्यापार को फिर से खोल दिया (उनके द्वारा, जाहिरा तौर पर!) जल्द ही, कंपनी की किस्मत बदल गई और कारोबार बढ़ गया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंग्लैंड की जरूरतों को पूरा करने के लिए बंगाल के संसाधनों का उपयोग करना शुरू कर दिया। 1793 में, बंगाल ने इंग्लैंड की कुल नील आवश्यकताओं का केवल दसवां हिस्सा आपूर्ति की, लेकिन ये निर्यात अगले दस वर्षों में दोगुना हो गया। 1815 से, बंगाल राज्य ने लगभग अकेले ही दुनिया की पूरी नील की आवश्यकता की आपूर्ति की।

PDF Page No. 22, Image No. 1

ड्रेसडेन, जर्मनी के तकनीकी विश्वविद्यालय में ऐतिहासिक इंडिगो डाई संग्रह

हालांकि बंगाल में नील की खेती उपनिवेशीकरण से पहले व्यापक नहीं थी, ईस्ट इंडिया कंपनी ने इसकी क्षमता को देखा और इसका विस्तार किया। बंगाल के गवर्नर जनरल को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के 1786 के एक पत्र में, उन्होंने कहा, "जब हम बंगाल में श्रम की सस्ती और मामूली दर और अनुकूल जलवायु पर विचार करते हैं, तो हम नील बनाने की संभावना पर संदेह नहीं कर सकते। सबसे मूल्यवान आयात का। " लेख; न ही हम आपको सबसे सख्त ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर दे सकते हैं। हमें विश्वास है कि यह इस देश में प्रेषण का सबसे अच्छा साधन बन सकता है, और बंगाल से निर्यात के कम से कम पूर्वाग्रहित केंद्रों में से एक बन सकता है।

इंडिया इंडिगो कॉरपोरेशन जैसे विशाल उद्यम यूरोपीय बसने वालों द्वारा स्थापित किए गए, जिन्होंने स्थानीय बंगाली कृषक समुदायों को व्यापार से लाभ की उम्मीद में नील की खेती के लिए अपनी जमीन का एक हिस्सा अलग रखने के लिए राजी किया। भारतीय नील ने सेंटो डोमिंगो के स्पेनिश उपनिवेश और जॉर्जिया और कैरोलिना के अमेरिकी (यूएसए) राज्यों के विश्वव्यापी व्यवसायों को सचमुच बंद कर दिया।

नील विद्रोह (इंडिगो विद्रोह)

नील के आकर्षक व्यापार ने अंग्रेजों (1786-1804) के लिए समृद्धि लाई, लेकिन धीरे-धीरे भारतीय किसानों को गरीबी में धकेल दिया क्योंकि उन्हें खाद्य फसलों के बजाय अपने खेत में नील की खेती करने के लिए मजबूर किया गया था। नील की खेती की रैयतवारी प्रणाली की शुरुआत के साथ, किसानों, जिन्हें अब रैयत के रूप में जाना जाता है, को उच्च ब्याज दरों पर अग्रिम ऋण की पेशकश की गई, जिसे डैडन के नाम से जाना जाता है। शर्त यह थी कि वे अपनी कम से कम 25 प्रतिशत भूमि में एक निर्धारित

गुणवत्ता के नील का उत्पादन करेंगे और इस उपज को एक निश्चित दर पर कारखाने को बेच देंगे, बिक्री मूल्य का भुगतान अग्रिम के खिलाफ समायोजन द्वारा किया जा रहा है।

अग्रिम धन की आसान पहुंच ने रैयतों को जल्दी आकर्षित किया लेकिन व्यवस्था ने धीरे-धीरे इसके गंभीर दुरुपयोग और परिणामी उत्पीड़न का नेतृत्व किया। किसानों को इन अग्रिम ऋणों को स्वीकार करने के लिए मजबूर किया गया और उन पर चूक करने से जीवन भर इन ऋणों को जमा करना जारी रखा, जो अंततः भुगतान करने के लिए उनके उत्तराधिकारियों को दे दिए गए। नील की यह खेती किसानों के लिए बिल्कुल भी लाभदायक नहीं थी, क्योंकि उन्हें बाजार मूल्य का केवल 2.5 प्रतिशत ही भुगतान किया जाता था। अक्सर गरीब किसान बोने वाले को पूरी रकम नहीं दे पाता था, और इस वजह से वह कर्ज के दुष्चक्र में फंस जाता था और किसान जीवन भर इस दुष्चक्र में फंसा रहता था। उस समय कानून का एक विनियमन (1833) लागू था जिसने नील बोने वाले को बोने वाले की भूमि और संपत्ति पर कब्जा करने का अधिकार दिया, जब तक कि किसान द्वारा ब्याज सहित ऋण का पूरी तरह से भुगतान नहीं किया जाता। इस तरह के कानूनों के कारण बागवानों और किसानों के बीच बार-बार संघर्ष होता था, और चूंकि सभी कानून बागवानों के पक्ष में थे, इसलिए उन्होंने खुले तौर पर किसानों का शारीरिक शोषण किया। बागान मालिकों ने लाठियों नामक एजेंटों की सेवाओं को नियोजित किया जिनका काम किसानों को बागान मालिकों के आदेशों का पालन करने के लिए मजबूर करना था। अगर उन्होंने पालन करने से इनकार कर दिया, तो वे घर को लूट लेंगे और जला देंगे, उसके पालतू जानवरों को ले लेंगे और यहां तक कि किसान की जमीन के सबसे उपजाऊ हिस्से को भी जब्त कर लेंगे।

PDF Page No. 23, Image No. 1 & 2

ऊपर: 1877 में इलाहाबाद में एक नील कारखाने में नील की कटाई

बाएं: कर्टिस की वनस्पति पत्रिका से इंडिगोफेरा सिल्वेटिका (विलियम कर्टिस, लगभग 1830)। इंडिगो डाई इस पौधे की छोटी, हरी पत्तियों से निकाली जाती है

इस शोषणकारी ज्यादती ने असहयोग आंदोलन के रूप में खेती करने वाले किसानों द्वारा बागान मालिकों के खिलाफ विद्रोह का नेतृत्व किया। नील की खेती में किसानों के असहयोग को बेरहमी से दबा दिया गया। पुलिस और सेना की बड़ी टुकड़ियों ने सैकड़ों निहत्थे किसानों को बेरहमी से मार डाला। किसानों ने सामूहिक रूप से नील की खेती करने और बागान मालिकों को कोई लगान देने से इनकार कर दिया।

ब्रिटिश पुलिस की क्रूरता ने कुछ स्थानों पर विनम्र किसानों को नील उत्पादन इकाइयों के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष करने के लिए मजबूर किया। बिष्णुचरण बिस्वास और दिगंबर बिस्वास ने मार्च 1859 में पहले विद्रोह का नेतृत्व किया, जो नादिया जिले, बंगाल के कृष्णानगर के गोविंदपुर और चानुगाचा गांवों में फूट पड़ा; यह तेजी से प्रांत के मुर्शिदाबाद, बर्दवान, पबना, खुलना और नरेल जिलों में फैल गया।

विद्रोहियों में से एक, विश्वनाथ सरदार, को आसननगर, नदिया में सार्वजनिक प्रदर्शन में फांसी पर लटका दिया गया था।

किसानों पर हो रहे अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने के लिए महिलाएं और पुरुष दोनों घर से बाहर निकल आए। पुरुष तलवार, धनुष, तीर और भाले से लैस थे, और महिलाएं गोमस्तों से लड़ने के लिए रसोई के उपकरण लाईं, जिन्हें बागवानों ने लगान लेने के लिए भेजा था। वास्तव में, कई जगहों पर, ग्राम प्रधान (प्रशासनिक प्रमुख) और ज़मींदार भी बागान मालिकों के खिलाफ शामिल हो गए क्योंकि उन्हें बागान मालिकों के किराए के पुरुषों द्वारा शारीरिक शोषण को सहन करके अनुबंध पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया गया था। विद्रोह दुनिया में सबसे महत्वपूर्ण किसान विद्रोहों में से एक बन गया; इसे नील विद्रोह या नील आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है।

बाद में किसानों ने संगठित तरीके से विरोध करना शुरू कर दिया और यह आंदोलन तेजी से पूरे बंगाल में फैल गया। वे नील की खेती प्रणाली की जांच और सुधार की मांग कर रहे थे। नील विद्रोह मुख्यतः बंगाल के किसानों द्वारा किया गया अहिंसक सत्याग्रह था। बंगाल के उपराज्यपाल, जे.पी. कुमार और कालीगंगा नदियों के किनारे यात्रा करते हुए, ग्रांट ने नदी के दोनों ओर लगभग 50 लाख किसानों को एक कभी न खत्म होने वाली लाइन में देखा, जो एक सरकारी आदेश और नील की जबरन खेती को रोकने के लिए हस्तक्षेप करने के लिए प्रार्थना कर रहे थे। इस विद्रोह को मजबूत करने के लिए महिलाएं भी इस विरोध के लिए अपने बच्चों के साथ विद्रोह करने के लिए समूहों में खड़ी हो गईं।

PDF Page No. 24, Image No. 1 and 2

ऊपर: इलाहाबाद में एक नील कारखाने में श्रमिक, 1877;

बाएं: मोंगलगंज, उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल में इंडिगो हाउस, ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा नील के व्यापार और प्रबंधन के लिए 1777 के आसपास बनाया गया था।

इस प्रकार सरकार को भारतीय किसानों के विद्रोह के बाद 31 मार्च 1860 को नील आयोग की नियुक्ति की घोषणा करने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस विद्रोह को इंडिगो आयोग और जमींदारों और वाणिज्यिक संघ (नील उत्पादकों का एक संगठन) के नोटों में जबरदस्ती प्रलेखित किया गया था। आयोग ने बोने वालों पर दोष मढ़ दिया, जबकि एसोसिएशन ने यह दिखाने की कोशिश की कि उनके बीच सब ठीक था और यह सिर्फ एक मामूली मुद्दा था। इंडिगो आयोग के एक गवाह ने इस तथ्य को साझा किया कि एक छोटा किसान जो लगभग एक बीघा नील की खेती करता था, अब डाई उद्योग के मालिकों के लिए छह बीघा जमीन पर खेती करने के लिए मजबूर है। इस आयोग ने किसानों के पक्ष में सिफारिशें दीं, जिसके परिणामस्वरूप सभी नील निर्माण उद्योग धीरे-धीरे बंद हो गए।

इस शक्तिशाली किसान विद्रोह की गूँज पूरे बंगाल में गूंज उठी और कई प्रतिष्ठित नेता और विद्वान इस मुद्दे को उजागर करने के लिए आगे आए। 1860 में, दीनबंधु मैत्रा ने समीक्षकों द्वारा प्रशंसित बंगाली

नाटक नील दर्पण (द इंडिगो प्लांटिंग मिरर) लिखा, जिसमें सामाजिक आंदोलनों और नील की खेती करने वाले किसानों के उपचार को दर्शाया गया था।

इस विद्रोह के कारण, बंगाल में नील की खेती पहले से ही कमजोर हो गई थी और अधिकांश व्यवसाय बिहार राज्य में चला गया था। ताबूत में अंतिम कील 1865 में जर्मन वैज्ञानिक प्रोफेसर एडॉल्फ वॉन बेयर द्वारा सिंथेटिक इंडिगो के संश्लेषण से आई थी, जिसका नाम "इंडिगोटिन" था। प्रारंभ में, तैयार की गई प्रक्रिया व्यावसायिक और आर्थिक रूप से सफल नहीं थी, लेकिन जर्मन वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया को सुधारने और पूर्ण करने के लिए काम करना जारी रखा। 1897 में, जर्मन सिंथेटिक इंडिगो ने बाजारों में बाढ़ ला दी और इसे जल्दी से अपनाया गया क्योंकि यह भारत से आयातित इंडिगो से सस्ता था। बाद के दशकों में नील की खेती और उत्पादन में भारी गिरावट देखी गई, प्राकृतिक रूप से प्राप्त नील का बाजार मूल्य आधा हो गया। कारखानों का बंद होना हजारों श्रमिकों, प्रबंधकों और सहायकों के लिए विनाशकारी था और जो बेरोजगार हो गए थे वे काम करने के लिए नए स्थानों की तलाश कर रहे थे।

निष्कर्ष

नील की खेती और उत्पीड़न का यह पूरा प्रकरण अंग्रेजों से माफी का पात्र है क्योंकि कृत्रिम नील डाई उत्पादन की आधुनिक सिंथेटिक प्रणाली को अपने कब्जे में लेने के बाद उनके साथ दुर्व्यवहार, हत्या और उत्पीड़न किया गया था। इस कारण कई किसानों और उनके परिवारों की जान चली गई और कुछ वर्षों के बाद कई परिवार तबाह हो गए। इन निहत्थे किसानों के इस संघर्ष ने भारतीय इतिहास में एक स्वर्णिम अध्याय लिखा। अपनी गरीबी और दमन के बावजूद इन किसानों ने अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई। नील को दोबारा न लगाने का उनका संकल्प इतना मजबूत था कि अंग्रेज उन्हें दोबारा ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर सकते थे। इंडिगो आयोग के समक्ष पंजी मुल्ला की गवाही, उनके साहस को व्यक्त करती है, "मैं नील के पौधे के बजाय गोलियों से मारा जाना पसंद करूंगा"।

*लेखक एआरएसडी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विज्ञान के प्रोफेसर हैं

भारतीय रेलवे: औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा किया गया एक बड़ा धोखा

लंबे समय से, औपनिवेशिक शासन के क्षमाप्रार्थी अंग्रेजों द्वारा रेलवे सहित भारत को दिए गए कई उपहारों के लिए आभारी रहे हैं, लेकिन सच्चाई से आगे कुछ भी नहीं हो सकता है।

सोनम सिंह सूबेदार

भारत में रेलवे को लंबे समय से अंग्रेजों द्वारा स्थापित एक महत्वपूर्ण उपक्रम के रूप में देखा जाता रहा है। इसे औपनिवेशिक शासन के तहत भारत के ढांचागत विकास के सबसे बड़े उदाहरण के रूप में देखा जाता है। 1850 के आसपास से, यह लंबे समय से माना जाता रहा है कि रेलवे ने भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा दिया। बिना किसी संदेह के, यह भारत की परिवहन प्रणाली का मुख्य आधार है और वर्तमान में भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक आपूर्तिकर्ता भी है।

किसी भी मामले में, रेलवे के अनगिनत योगदान के बावजूद, भारत में इसकी स्थापना का औचित्य इसके बुरे पक्ष के बिना संभव नहीं है। रेलवे की शुरुआत के लिए क्या आवश्यक था? अर्थव्यवस्था पर रेलवे का तत्काल प्रभाव क्या था? यह निश्चित रूप से राष्ट्र की राष्ट्रीय आय का विस्तार करता है, फिर भी क्या यह व्यक्तियों के जीवन का निर्माण करता है? क्या व्यापार और निर्यात के लिए कच्चे माल का परिवहन करने वालों के लिए दृष्टिकोण और शुल्क अच्छे थे?

इन सभी सवालों का जवाब यह है- रेलवे का निर्माण अंग्रेजों ने भारत में अपने फायदे के लिए किया था। उन्होंने भारत के अंदरूनी हिस्सों से कच्चे माल को अपने देश में भेजना और अपने निर्मित उत्पादों को भीतरी इलाकों तक पहुंचाना जरूरी समझा। इस चक्र में उन्हें भारत में रेल मार्ग की नींव को बढ़ावा देना था। यह इस तथ्य से आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि 1867 से 1877 तक गेहूं के निर्यात में 22 गुना वृद्धि हुई और आश्चर्यजनक रूप से, 1876-78 में अकाल के दौरान ब्रिटिश सरकार का विकास जारी रहा, जो ब्रिटिश सरकार की आम नागरिक की जरूरतों के प्रति सहानुभूति की अनुपस्थिति को दर्शाता है।

गवर्नर जनरल लॉर्ड हार्डिंग ने 1843 में तर्क दिया कि रेलवे "देश के वाणिज्य, सरकार और सैन्य नियंत्रण के लिए" फायदेमंद होगा। लेकिन भारतीय रेलवे अपने मूल से ही भारतीयों और उनकी संपत्ति के शोषण का एक उपकरण था। अंग्रेजों ने रेलवे को उधार देकर एक बड़ी राशि अर्जित की, जहां सरकार ने भारतीय करों से पूर्ण भुगतान किए गए सरकारी स्टॉक की वापसी की दोगुनी गारंटी दी। अंत में, भारतीय करदाताओं की कीमत पर, भारत में पहली वाणिज्यिक ट्रेन 16 अप्रैल 1853 को बॉम्बे और ठाणे के बीच चली। यह लॉर्ड डलहौजी को समर्पित था, जिन्होंने 1848 से 1856 तक भारत के गवर्नर जनरल के रूप में कार्य किया। ट्रेन में 14 डिब्बे थे और इसमें 400 यात्री सवार हो सकते थे। इसमें सुल्तान, सिंध और

साहिब नाम के तीन इंजन थे। इस ट्रेन द्वारा तय की गई लंबाई 34 किलोमीटर (लगभग 21 मील) थी और यह यात्रा लगभग 45 मिनट तक चली।

रेलवे ने भारत और भारतीयों को कैसे चकित किया

भारत में पहली रेल लाइन नदियों और जंगलों के बीच से चलाई जाती थी। रोग संक्रमण और दुर्घटनाओं ने जंगली जानवरों जैसे कई श्रमिकों और इंजीनियरों की जान ले ली। जंगलों के जानवरों, खासकर बाघों ने अपने मैदान में इस तरह के अजीब घुसपैठ के खिलाफ लड़ाई लड़ी। रेलवे लाइनों के विकास के दौरान और बाद में, रेलवे मार्गों के श्रमिकों और कर्मचारियों पर उनके हमले असाधारण रूप से आम हो गए। 1889 में, महाराष्ट्र के गोंदिया जिले में हाल ही में विकसित हरसा रेलवे मार्ग स्टेशन के पास एक रेलवे लाइन के आसपास के क्षेत्र में एक बाघ ने लगभग 40 रेल मार्ग श्रमिकों को मारने की सूचना दी थी।

PDF Page No. 26, Image No. 1
ऊपर और विपरीत पृष्ठ पर, शीर्ष: बॉम्बे हार्बर में रेलवे निर्माण की प्रारंभिक छवियां

PDF Page No. 26, Image No. 2
गायकवाड़ के बड़ौदा राज्य रेलवे क्लास ए 4-6-0 स्टीम इंजन (विलियम बैगनॉल, स्टैफोर्ड 1933)

19वीं सदी के मध्य में जब देश में पहली बार रेलगाड़ियाँ आईं, तो वे आम आदमी के लिए आश्चर्य और आश्चर्य का स्रोत थीं। भारतीय उसे महान रक्ष या राक (प्रेत) के रूप में संदर्भित करते हैं। कोई भी निश्चित नहीं था कि यह क्या था - एक शैतान, एक मशीन, एक जादुई प्राणी या एक जादूगर जो उनकी भूमि पर कब्जा कर लेगा। इसलिए आम लोग उनसे दूर रहे, उनकी झलक पकड़ी और उनके बारे में किस्से-कहानियां शुरू कीं. वे इस शक्तिशाली मशीन से डरते थे - ये विशाल, काली दुष्ट आत्माएं, आग और धुआं क्या थे? हुगली में, स्टीम ट्रेन को तेज करने के लिए एक व्यापारी अपने घोड़े को चाबुक मारता है। कहीं और, बॉम्बे रेल रूट लाइन के पास, ऐसी खबरें थीं कि ट्रेनों को चलाने के लिए जीवन बलिदान करना पड़ता था और हर किलोमीटर भाप चलाने के लिए एक लाश की आवश्यकता होती थी। बॉम्बे में लोग ट्रेन को 'लोखंडी राक्षस' (मराठी में 'लोहे का राक्षस') कहते थे।

रेलवे द्वारा भारत का आर्थिक शोषण

अंग्रेजों ने भारतीय रेलवे को अपने फायदे के लिए बनाया और इससे उन्हें काफी हद तक मदद मिली। भारतीय किराए, विशेष रूप से यात्री शुल्क, निस्संदेह अधिक थे। ये किराए, जो अंग्रेजी किराए का 1/6 वां माना जाता था, 33 प्रतिशत से दो-तिहाई थे-आनुपातिक रूप से औसत भारतीय की तुलना में बहुत अधिक खर्च कर सकते थे या उपभोग कर सकते थे। रेलवे संगठन के विकास के लिए क्षेत्रों का चयन करते समय जनहित पर विरले ही ध्यान दिया जाता था। रेल नेटवर्क का विकास विशुद्ध रूप से

औपनिवेशिक शासकों के आर्थिक लाभ की पूर्ति के लिए था और इसलिए, इस उद्देश्य को पूरा करने वाले क्षेत्रों में तदनुसार रखा गया था। रेलवे भारतीयों के लाभ के लिए नहीं था और इसलिए, देश की आबादी का एक बड़ा वर्ग इसके लाभों से वंचित रहा।

जबकि 1853 से 1919 तक रेलवे किराए में गिरावट आई, ब्रिटिश सरकार द्वारा रेलवे प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण करने के बाद उनके क्षेत्रों में नाटकीय रूप से विस्तार हुआ।

1920 के बाद का वह दौर है जब रेलवे द्वारा भारत का आर्थिक शोषण अपने चरम पर पहुंच गया था। 1920 से पहले की अवधि में, जनता की जरूरतों को पूरा करने के लिए रेलवे द्वारा कोई स्पष्ट प्रयास नहीं किया गया था, उदाहरण के लिए, रेल संगठन का विकास, सूखे के दौरान आवश्यक वस्तुओं को ले जाने के लिए ट्रेनों का उपयोग आदि। किसी भी मामले में, प्रतिक्रिया को पूरी तरह से खारिज नहीं किया जा सकता है कि खाद्यान्न के बड़े निर्यात और भूमि और मानव संसाधन दोनों पर दबाव के प्रभाव के कारण भूख एक प्रमुख मुद्दा बन गई, जिसमें रेलवे ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1919 के बाद रेल किराए में काफी वृद्धि हुई। यह दर 1919 में 0.5 पैसे प्रति टन-मील से बढ़कर 1934 में 1.5 पैसे प्रति टन-मील हो गई। किराये की दरें भी 1919 में 0.35 पैसे प्रति टन-मील से बढ़कर 1934 में 0.83 पैसे प्रति टन-मील हो गईं। कच्चे माल को किसानों से बंदरगाहों तक रेलगाड़ियों द्वारा पहुँचाया जाता था। अपर्याप्त निवेश और सेवा में जनहित की कमी के कारण 1920 के दशक के बाद की अवधि के दौरान रेल नेटवर्क का महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ। 1931 की महामंदी के दौरान, रेल नेटवर्क का उपयोग करके सोने को बॉम्बे के बंदरगाह तक पहुँचाया गया था। यह सोना उनकी अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए ब्रिटेन भेजा गया था। जबकि प्रथम विश्व युद्ध ने बॉम्बे और कराची के बंदरगाहों तक अनाज और सैनिकों के परिवहन के लिए उनके दुरुपयोग के कारण रेलवे लाइनों को गंभीर रूप से प्रभावित किया, द्वितीय विश्व युद्ध ने रेलवे को पूरी तरह से पंगु बना दिया।

सूखे की लगातार घटनाओं के बावजूद गेहूं और चावल जैसे अनाज के निर्यात में वृद्धि जारी रही, उदाहरण के लिए, 1876-79 और 1896-1902 के अकाल के दौरान, अनाज को ट्रेनों के माध्यम से बंदरगाहों तक ले जाया गया और बाद में ब्रिटेन भेज दिया गया। कच्चे माल के निर्यातक और तैयार उत्पादों के व्यापारी के रूप में भारत के साथ बने रहने के लिए अंग्रेजों द्वारा रेल मार्गों का उपयोग किया जाता था। इसने अंग्रेजों के एक महत्वपूर्ण लक्ष्य को संतुष्ट किया - भारतीय अर्थव्यवस्था को कृषि से औद्योगिक में बदलने से रोकना।

जातिवाद के माध्यम से रेलवे ने शासन किया

रेलवे बढ़ती दुश्मनी का एक और स्रोत था: तीसरे दर्जे के यात्रियों के साथ व्यवहार जो आमतौर पर सभी भारतीय थे। उन्हें लकड़ी के बेंचों और सुविधाओं के पूर्ण अभाव के साथ, तृतीय श्रेणी के डिब्बों में रखा गया था। हालाँकि, वित्तीय औचित्य के आधार पर गोरों के लिए डिब्बों को जल्द ही हटा दिया गया था,

भारतीयों के लिए उपलब्ध उचित स्थान उनकी संख्या के लिए घोर अपर्याप्त पाया गया था। ट्रेनों में भारतीयों के लिए शौचालय बनाने के लिए भी लंबी लड़ाई हुई और 20वीं सदी तक स्थिति गंदी बनी रही। यह अंतर और मजबूत राष्ट्रवादी भावना का एक असाधारण स्रोत बन गया। भारतीयों को नियंत्रण में रखने के लिए जिस संरचना ने सबसे अधिक काम किया, वह दोतरफा थी, जो राष्ट्रवादी ताकतों को जीवंत करती थी और जो अंततः प्रबल होती थी।

PDF Page No. 28, Image No. 1 & 2
ऊपर: 1909 में भारतीय रेलवे का घना नेटवर्क राइट: 1871 के भारतीय रेलवे का एक नक्शा, जिसे ब्रिटिश सरकार के भारत कार्यालय द्वारा हाउस ऑफ कॉमन्स समिति को प्रस्तुत करने के लिए तैयार किया गया था।

जब रेलवे की नौकरियों की बात आई तो भारतीयों की उपेक्षा की गई। आम राय यह थी कि 'निवेश की रक्षा' के लिए रेलवे को विशेष रूप से यूरोपीय लोगों द्वारा नियुक्त करने की आवश्यकता होगी। यह विशेष रूप से सिग्नलमैन और स्टीम ट्रेनों में काम करने और मरम्मत करने वाले लोगों के लिए सच था। बीसवीं सदी के मध्य में, रेलवे बोर्ड के निदेशकों से लेकर टिकट अधिकारियों तक हर प्रमुख कर्मचारी गोरे थे - जिनके वेतन और अनुषंगी लाभों का भुगतान भारतीय नहीं, यूरोपीय स्तरों पर समान रूप से किया जाता था।

इस बीच, 1862 में, अंग्रेजों ने ट्रेनों को बनाए रखने के लिए बंगाल के जमालपुर और राजस्थान के अजमेर में रेलवे कार्यशालाओं की स्थापना की। भारतीय यांत्रिकी इतने कुशल हो गए कि 1878 में उन्होंने अपने स्वयं के इंजनों का निर्माण शुरू कर दिया। उनकी इस प्रतिभा ने अंग्रेजों को डरा दिया, क्योंकि भारतीय इंजन मूल रूप से उनके जैसे ही थे और ब्रिटिश निर्मित इंजनों की तुलना में काफी कम खर्चीले थे। और इसलिए, 1912 में, अंग्रेजों ने संसद के एक अधिनियम को पारित किया जिसने स्पष्ट रूप से भारतीय कार्यशालाओं के लिए लोकोमोटिव बनाने के लिए इसे अव्यावहारिक और अक्षम बना दिया। 1854 और 1947 के बीच, भारत ने इंग्लैंड से लगभग 14,400 ट्रेनें और कनाडा, अमेरिका और जर्मनी से 3,000 अन्य ट्रेनों का आयात किया।

भारत में औपनिवेशिक शासन के मार्ग में लाखों लोगों के लिए वित्तीय दुरुपयोग और विनाश, फलते-फूलते उद्योगों का विनाश, प्रतिस्पर्धा के अवसरों का व्यवस्थित इनकार, शासन के स्वदेशी संस्थानों का उन्मूलन, और जीवन शैली और जीवन शैली का परिवर्तन जो तब से विकसित हुआ है। अनादि काल से, और उपनिवेशवादियों की सबसे कीमती संपत्ति, उनकी पहचान और सबसे महत्वपूर्ण बात, उनका स्वाभिमान नष्ट हो गया है।

औपनिवेशिक रेलवे का भारत की भूमि, पर्यावरण और लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। रेलवे के बुनियादी ढांचे ने गैर-औद्योगिकीकरण, गरीबी और लगातार अकाल की प्रक्रिया को तेज किया। रेलवे और अकाल साथ-साथ चले, क्योंकि अधिकतम अनाज यूरोप ले जाया गया और भारतीयों को भीषण अकाल का सामना करने के लिए मजबूर होना पड़ा। हालाँकि अंग्रेजों ने भारत की हर संपत्ति को नष्ट कर दिया, लेकिन विवाद में, हर कोई इस अभिव्यक्ति का उपयोग करता है कि यद्यपि अंग्रेजों ने हमारे धन, संसाधनों और संभवतः सद्भाव को लूट लिया, उन्होंने हमें रेलवे, क्रिकेट, शिक्षा और चाय छोड़ दी। रेलवे, अंग्रेजी भाषा की तरह, एक उपहार के अलावा कुछ भी था, लेकिन वास्तव में यह कोई उपहार नहीं था।

अंग्रेजों ने भारत में नींव रखी और इसे अपने सबसे बड़े लाभ के लिए संचालित और विकसित किया। यह मानते हुए कि भारतीयों के लिए उनके सकारात्मक परिणाम थे, उनसे भारतीयों की मदद की उम्मीद नहीं की गई थी, यह सिर्फ संयोग था। रेलवे भारत के लिए बहुत कुछ कर सकता था अगर यह एक औपनिवेशिक परियोजना नहीं थी। एक अच्छा मौका भी छूट गया। रेलवे के प्रभाव के अपने विश्लेषण में, जॉन हर्ड, एक अर्थशास्त्री, ने अपने निबंध, रेलवे और भारत में बाजारों का विस्तार, 1861-1921 में निष्कर्ष निकाला है कि भारत ने ब्रिटिश राज के तहत केवल सीमित आर्थिक विकास का आनंद लिया और ऐसा इसलिए था क्योंकि रेलवे कभी विकास नहीं कर पाए थे रोमांचक की अनुमति नहीं थी। रेलवे ने माल के सस्ते प्रवाह को सक्षम किया, इसने कृषि उत्पादन में भी वृद्धि की, और आधुनिक उद्योग और खनन में कई नौकरियां पैदा कीं, लेकिन इन परिवर्तनों ने "अर्थव्यवस्था की बुनियादी संरचना को प्रभावित नहीं किया। यह स्वतंत्रता तक नहीं था जब आर्थिक विकास जागरूक और उपयुक्त नीति बन गया। यह अपनाया गया कि रेलवे ने भारतीय अर्थव्यवस्था को बदलने में मदद करने की अपनी क्षमता का एहसास करना शुरू कर दिया, जो कि स्वतंत्रता से पहले नहीं था।

*लेखक साइंस इंडिया के एसोसिएट एडिटर हैं।

किशोरी मोहन बंद्योपाध्याय: भारतीय विज्ञान के गुमनाम नायक

स्ट्रे मलेरिया परजीवी के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान के लिए एक युवा भारतीय को श्रेय देने से इनकार करके, नोबेल पुरस्कार विजेता रोनाल्ड रॉस ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सबसे कट्टर चेहरे का एक उदाहरण प्रदान किया।

प्रोफेसर अयान दत्ता

क्या आपने चीनी तानाशाह माओत्से तुंग के प्रोजेक्ट 523 नाम के टॉप-सीक्रेट मिशन के बारे में सुना है? यह क्लोरोक्वीन प्रतिरोधी पी. फाल्सीपेरम, जो हर साल चीन में सैकड़ों और हजारों लोगों को मारता है, इलाज खोजने के लिए एक चीनी शोध परियोजना थी। मई 1967 में विभिन्न विभागों के वैज्ञानिकों की एक जल्दबाजी में बुलाई गई बैठक में, विभिन्न प्राचीन चीनी पारंपरिक चिकित्सा ग्रंथों (भारतीय आयुर्वेद और तिब्बती और चीनी चिकित्सा के बीच संबंधों का बड़े पैमाने पर पता लगाया गया) की गंभीर जांच की गई, और सन 1972 तक, तू यू (नोबेल पुरस्कार विजेता, 2015 - चिकित्सा में) ने आर्टीमिसिनिन की खोज की (पारंपरिक रूप से मीठे कृमि के पेड़ से निकाला गया)। आर्टेमिसिनिन ने 1980-1990 के दशक में चीन के मलेरिया केस लोड को बीस मिलियन से घटाकर नब्बे हज़ार कर दिया। डॉ तू यू का यह काम इस बात का एक उत्कृष्ट उदाहरण है कि कैसे पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक संदर्भ में अनुकूलित किया जा सकता है।

अतीत में, भारत भी मलेरिया के अध्ययन के लिए एक सक्रिय स्थल रहा है। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण डॉ. रोनाल्ड रॉस (नोबेल पुरस्कार विजेता, 1902, चिकित्सा में) का काम है। उन्होंने दिखाया कि मलेरिया परजीवी मच्छरों से फैलता है। रॉस मच्छरों में मलेरिया परजीवी के जीवन चक्र को दिखाने में सफल रहा, इस प्रकार लीवरन और मैनसन की परिकल्पना को स्थापित किया कि मच्छर रोग के प्रसार में शामिल थे। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उन्होंने मनुष्यों में नहीं, बल्कि पक्षियों में मलेरिया के संचरण की परिकल्पना की थी। सर रोनाल्ड रॉस भारत के ~ 200-वर्षीय विक्टोरियन युग में सबसे अधिक सजाए गए ब्रिटिश मूल के वैज्ञानिकों में से एक रहे। उन्हें नाइट की उपाधि भी दी गई, 1901 में एफआरएस बनाया गया और 1926 में उनके काम के सम्मान में स्थापित रॉस इंस्टीट्यूट एंड हॉस्पिटल फॉर ट्रॉपिकल डिजीज के डायरेक्टर-इन-चीफ बने। वास्तव में, रॉस वैश्विक ब्रिटिश आधिपत्य के मॉडल में पूरी तरह से फिट बैठता है - पहला ब्रिटिश नोबेल पुरस्कार विजेता, और यूरोप के बाहर पैदा हुआ पहला व्यक्ति (रॉस का जन्म अल्मोड़ा, अब उत्तराखंड, भारत में हुआ था) ने पुरस्कार प्राप्त किया।

रॉस के प्रायोगिक कार्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा नमूना संग्रह पर निर्भर था जिसके लिए उन्हें कुछ बहुत ही शानदार मूल शोधकर्ताओं की एक टीम द्वारा बहुत समर्थन दिया गया था। जबकि गंगा के बंगाल की उष्णकटिबंधीय और आर्द्र जलवायु मच्छरों के प्रजनन के लिए उपजाऊ जमीन थी, मलेरिया बुखार के मामलों की पहचान करने और परजीवी के विकास के समय के दौरान रोगियों से रक्त के नमूने लिए

जाने थे। रॉस ने इस दिशा में एक शोधकर्ता और एक क्षेत्र सहायक की तलाश शुरू की। इसके लिए अखबारों में कई विज्ञापन प्रकाशित हुए और फिर भी शायद ही किसी उपयुक्त व्यक्ति की भर्ती की जा सके। सौभाग्य से, एक युवक - किशोरी मोहन बंदोपाध्याय - ने रॉस के लिए काम करने के लिए रुचि और समर्पण दिखाया। कहानी एक ऐसे युवक की है जिसे रॉस और ब्रिटिश प्रशासन द्वारा उसकी उचित मान्यता से वंचित कर दिया गया था। इसके अलावा, रॉस ने अपने नोबेल व्याख्यान में न तो उन्हें स्वीकार किया और न ही स्वीकार किया, और न ही उन्होंने अपने 1923 के संस्मरणों में, मलेरिया की महान समस्या और उसके समाधान का एक व्यापक विवरण दिया।

PDF Page No. 30, Image No. 1 & 2
ऊपर: पश्चिम बंगाल के वर्तमान उत्तर 24 परगना जिले के पानीहाटी में घर के प्रवेश द्वार पर एक पट्टिका, जहाँ कभी किशोरी मोहन बंदोपाध्याय रहते थे।
बाएं: किशोरी मोहन बंद्योपाध्याय और उनके दोस्तों द्वारा स्थापित पानीहाटी सहकारी बैंक

किशोरी मोहन बंद्योपाध्याय को जानना

किशोरी मोहन बंद्योपाध्याय का जन्म 1883 में कलकत्ता में हुआ था। वह 1898 में रॉस के प्रयोगशाला सहायक के रूप में कलकत्ता प्रेसीडेंसी जनरल अस्पताल में शामिल हुए। बंद्योपाध्याय एक बहु-प्रतिभाशाली व्यक्ति थे - वे एक वैज्ञानिक, एक सामाजिक कार्यकर्ता और एक राष्ट्रवादी व्यक्ति थे। रॉस को जल्दी ही एहसास हो गया कि उसे एक सोने की खान मिल गई है क्योंकि बंद्योपाध्याय स्थानीय ग्रामीणों के बीच बहुत लोकप्रिय थे। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनके दादा आयुर्वेदिक चिकित्सा के एक प्रसिद्ध चिकित्सक थे, जिन्होंने अपने पोते में वैज्ञानिक जिज्ञासा और सटीक विज्ञान के प्रति प्रेम का बीज बोया था। बंद्योपाध्याय ने अलग-अलग गांवों की यात्रा की, जो सड़क या रेल द्वारा एक-दूसरे से पूरी तरह से जुड़े नहीं थे, और मलेरिया रोगियों को अनुसंधान के लिए अपने रक्त के नमूने देने के लिए राजी किया। रॉस के पास उपलब्ध आंकड़ों के बड़े नमूने के साथ, पक्षियों में मलेरिया चक्र के लिए निष्कर्ष निकालना काफी आसान था।

1901 में उन्होंने रिपन कॉलेजिएट स्कूल के लिए प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण की। 1903 में उन्होंने रिपन कॉलेज से एफए की परीक्षा के साथ-साथ संस्कृत में आद्या परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में उन्होंने कोलकाता के बीएमएस गर्ल्स स्कूल और फिर पानीहाटी के ट्रंनाथ हाई स्कूल में पढ़ाया, जहाँ उन्होंने 1914 तक काम किया। दो साल बाद उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से कानून में स्नातक की डिग्री प्राप्त की।

रॉस को नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद, उपेंद्रनाथ ब्रह्मचारी, आचार्य जगदीश चंद्र बोस, ब्रजेंद्र नाथ सील, शिवनाथ शास्त्री, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और आचार्य प्रफुल्ल चंद्र रे ने लॉर्ड कर्जन से वैज्ञानिक उपलब्धि में बंद्योपाध्याय के योगदान को उचित सम्मान देने का आग्रह किया। इसके कारण 1903 में दिल्ली दरबार

के दौरान बंद्योपाध्याय को ड्यूक ऑफ कनॉट द्वारा किंग एडवर्ड VII स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया। उस समय वह केवल 20 वर्ष के थे। दिल्ली से लौटने के बाद कई विद्वानों, वैज्ञानिकों और डॉक्टरों ने कोलकाता के सीनेट हॉल में एक समारोह में बंद्योपाध्याय को सम्मानित किया। इस कार्यक्रम में डॉ बिधान चंद्र रॉय भी शामिल हुए, जो बाद में पश्चिम बंगाल के पहले मुख्यमंत्री बने।

मलेरिया के खिलाफ एक पैदल सैनिक

बंद्योपाध्याय अपने समय के जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता थे। क्रांतिकारी मोख्यदा चरण समाध्या के प्रभाव में, उन्होंने शारीरिक कल्याण और स्वदेशी पर सबक देना शुरू किया। 24 मार्च 1918 को डॉ. गोपाल चंद्र चट्टोपाध्याय ने मलेरिया महामारी को नियंत्रित करने के लिए एक जन स्वास्थ्य आंदोलन शुरू किया।बंदोपाध्याय इस आंदोलन में उनके प्रबल सहयोगी बने। बंदोपाध्याय का प्रमुख योगदान यह मलेरिया विरोधी आंदोलन था। उन्होंने बंगाल के पानीहाटी में एक मलेरिया-रोधी सहकारी समिति भी शुरू की।

डॉ गोपाल चंद्र चट्टोपाध्याय ने जोर देकर कहा कि आम लोगों की स्वच्छता जागरूकता के माध्यम से मलेरिया के प्रसार को नियंत्रित किया जा सकता है। चट्टोपाध्याय संगठन के पहले अध्यक्ष थे और बंद्योपाध्याय इसके पहले सचिव थे। उन्होंने कुछ ही समय में गांव के तालाबों, नालों की सफाई, कूड़ा-करकट हटाकर और मिट्टी के तेल का छिड़काव कर मलेरिया पर काबू पा लिया। इस सफलता की कहानी ने पड़ोसी ग्रामीणों को भी प्रोत्साहित किया और मलेरिया विरोधी सहकारी समितियों का गठन किया गया। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप 8 अप्रैल 1919 को राममोहन लाइब्रेरी हॉल, कलकत्ता में आयोजित एक बैठक में केंद्रीय मलेरिया-रोधी सहकारी समिति का गठन हुआ।

उन्होंने बंगाल के गांवों में मलेरिया उन्मूलन के लिए सामाजिक अभियान शुरू किए। बंद्योपाध्याय ने अपने जादुई लालटेन और स्लाइड्स के साथ परजीवी, मच्छरों, रोगियों और बीमारी से बचाव के उपायों को दिखाते हुए गांवों का दौरा करना शुरू किया। उन्होंने ग्रामीणों को मलेरिया या बुखार के बारे में शिक्षित करने के लिए एक स्लाइड शो का आयोजन किया। श्वेत-श्याम स्लाइड उनके फोटोग्राफर मित्र लक्ष्मीनारायण गंगोपाध्याय द्वारा तैयार किए गए थे, जो भारत के पहले यात्रा करने वाले फोटो-कलाकारों में से एक थे। गंगोपाध्याय ने श्वेत-श्याम स्लाइडों को पारदर्शी रंगों से रंगा ताकि स्लाइडों में जनता में उत्साह पैदा हो। बंद्योपाध्याय ने मलेरिया परजीवियों के विज्ञान को सरल भाषा में बताया और आम लोगों में जागरूकता फैलाई।

PDF Page No. 31, Image No. 1 & 2
दाएं: सर रोनाल्ड रॉस का पोर्ट्रेट, जिन्होंने 1902 में मेडिसिन में नोबेल पुरस्कार जीता था, यह प्रदर्शित करने के लिए कि मलेरिया मच्छरों द्वारा फैलता है

ऊपर: रॉस अपनी पत्नी और सहायकों के साथ 1898 में कलकत्ता में अपनी प्रयोगशाला की सीढ़ियों पर

गाँवों के उनके नियमित दौरे ने उन्हें आश्वस्त किया कि स्थानीय आबादी को साहूकारों के चंगुल से बाहर निकालने की जरूरत है। इसलिए, 1927 में, उन्होंने पानीहाटी सहकारी बैंक की शुरुआत की जो अभी भी सक्रिय है। यह बैंक एक बड़ी सफलता थी। आज के अर्थशास्त्र में यह मॉडल गरीबों के लिए गरीबों के लिए सूक्ष्म वित्त पोषण होगा। दुर्भाग्य से, मेनिन्जाइटिस ने 1929 की शुरुआत में उनके इस महान जीवन को समाप्त कर दिया। बंद्योपाध्याय तब केवल 46 वर्ष के थे।

किसी भी बड़ी वैज्ञानिक खोज के लिए अक्सर कई लोगों के सामूहिक प्रयास की आवश्यकता होती है। इसलिए योगदानकर्ताओं को स्वीकार करना और उन्हें उचित सम्मान देना आवश्यक है। रॉस के मामले में यह स्पष्ट रूप से गायब है। क्या रॉस ने ईर्ष्या और उद्देश्य से ऐसा किया या सिर्फ यह सोचा कि ब्रिटिश मूल के व्यक्ति के रूप में, वह मूल निवासियों की कड़ी मेहनत का लाभार्थी होने का हकदार था - यह एक रहस्य बना हुआ है। जबकि अतीत की गलतियों को शायद ही कभी पूर्ववत किया जा सकता है, जो इसके लायक हैं उन्हें उचित श्रेय देने से अभूतपूर्व नवाचारों और नए विचारों के अंकुरण के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होता है। वास्तव में, ब्रिटिश समाज अब इस बात को महसूस करता है और इसलिए, डीएनए की संरचना की व्याख्या पर चर्चा करते समय, इसका श्रेय ठीक ही रॉसलिंड फ्रैंकलिन को दिया जाता है, जिनके व्यापक कार्य का उपयोग वाटसन और क्रिक ने डीएनए की डबल-हेलिकल संरचना की व्याख्या करने के लिए किया था, हालांकि कभी नहीं उन्हें स्वीकार किया गया या स्वीकार नहीं किया गया, खोज के लिए बनाया गया था। किशोरी मोहन बंदोपाध्याय स्पष्ट रूप से भारत में विज्ञान के इतिहास में एक गुमनाम नायक हैं और इस पत्रिका के प्रबुद्ध पाठकों का कर्तव्य है कि उन्हें उचित अकादमिक श्रेय दें।

*लेखक वर्तमान में इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस में रसायन विज्ञान के प्रोफेसर हैं। उनके अनुसंधान हितों में मेसोस्कोपिक और नैनोस्केल आयामों में कम्प्यूटेशनल सामग्री और विदेशी आणविक और भौतिक गुण शामिल हैं। वह वर्तमान में बुलेटिन ऑफ मैटेरियल्स साइंस, इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज के एसोसिएट एडिटर और जर्नल ऑफ फिजिकल केमिस्ट्री, अमेरिकन केमिकल सोसाइटी के संपादकीय सलाहकार बोर्ड के सदस्य हैं। संयोग से, यह लेखक किशोरी मोहन बंदापाध्याय की कर्मभूमि पानीहाटी के मूल निवासी हैं।

प्रोफाइल

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के विज्ञान योद्धाओं को नमन

जैसा कि अब हम एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में 75 वर्ष पूरे कर रहे हैं, यहां स्वतंत्रता सेनानियों द्वारा राजनीति के दायरे से बाहर किए गए योगदान की स्वीकृति प्रस्तुत कर रहे है।

आशुतोष मुखर्जी

(1864-1924)

गणितज्ञ, बैरिस्टर, शिक्षक, संस्था निर्माता

1906 से 1914 तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में, उन्होंने विश्वविद्यालय पर औपनिवेशिक सरकार की पकड़ को हटा दिया और भारतीयों से वित्तीय सहायता प्राप्त करके भारतीयों के लिए अनुसंधान और उच्च अध्ययन का माहौल बनाया। भविष्य के नोबेल पुरस्कार विजेता सीवी रमन को कलकत्ता विश्वविद्यालय के तहत राजाबाजार साइंस कॉलेज में प्रोफेसर के रूप में नियुक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

बाल गंगाधर तिलक

(1856-1920)

राष्ट्रवादी नेता, स्वतंत्रता सेनानी, शिक्षक

एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी, वे स्वतंत्रता संग्राम के लिए वह एक महान प्रेरक शक्ति थे। अंग्रेजों ने उन्हें 'भारतीय अशांति का जनक' कहा। देश भर में उनके सामूहिक नेतृत्व के लिए उन्हें 'लोकमान्य' की उपाधि दी गई। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई में लोगों को एकजुट करने के लिए सार्वजनिक गणेश उत्सव की शुरुआत की। खगोल विज्ञान और गणित के एक महान विद्वान और वेदों में सूक्ष्म निकायों की स्थिति का अध्ययन किया।

चंद्रशेखर वेंकट रामन

(1888-1970)

भौतिक विज्ञानी, नोबेल पुरस्कार विजेता

उन्हें प्रकाश प्रकीर्णन के क्षेत्र में उनके काम के लिए जाना जाता है और उन्होंने रमन प्रभाव की खोज के लिए भौतिकी में 1930 का नोबेल पुरस्कार जीता, जो विज्ञान में किसी भी एशियाई के लिए पहला पुरस्कार था। यह खोज 28 फरवरी 1928 को की गई थी और इस दिन को हर साल भारत में राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के रूप में मनाया जाता है। उन्होंने 1948 में बैंगलोर में रामन रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की।

होमी जहांगीर भाभा

(1909-1966)

भौतिक विज्ञानी, भारतीय परमाणु कार्यक्रम के जनक

टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च (TIFR) के संस्थापक निदेशक और प्रोफेसर। वह भाभा परमाणु ऊर्जा प्रतिष्ठान, ट्रॉम्बे (AEET) के संस्थापक निदेशक थे, जिसे अब उनके सम्मान में भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र (BARC) का नाम 1951 और 1953-1956 में नोबेल पुरस्कार के लिए नामांकित किया गया, जिसे भारतीय परमाणु कार्यक्रम के जनक के रूप में जाना जाता है। ।

जगदीश चंद्र बोस
(1858-1937)
भौतिक विज्ञानी, वनस्पतिशास्त्री
रेडियो और माइक्रोवेव ऑप्टिक्स की अग्रणी जांच करके, और पौधों की वृद्धि को मापने के लिए एक उपकरण, क्रेस्कोग्राफ का आविष्कार करके पादप विज्ञान में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारत में प्रायोगिक विज्ञान के विस्तार के पीछे मुख्य शक्ति थी। उन्होंने 1917 में कलकत्ता में बोस संस्थान की स्थापना की और उन्हें बंगाली विज्ञान कथा के पिता के रूप में भी जाना जाता है।

जमशेदजी नुसरवांजी टाटा (1839-1904)
व्यवसायी, परोपकारी, संगठन निर्माता
जमशेदजी एक प्रमुख उद्योगपति थे जिन्होंने भारत के सबसे बड़े समूह टाटा समूह की स्थापना की थी। उन्होंने टाटा स्टील की स्थापना की और जमशेदपुर (वर्तमान झारखंड में टाटानगर) शहर की स्थापना की। उनके योगदान के परिणामस्वरूप 1909 में भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर की स्थापना हुई। जे एन टाटा की वैज्ञानिक दृष्टि पर स्वामी विवेकानंद का भी बहुत प्रभाव था।

मदन मोहन मालवीय
(1861-1946)
विद्वान, अकादमिक सुधारक, राजनीतिज्ञ
'महामना' के नाम से लोकप्रिय, उन्होंने 1916 में वाराणसी में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू) की स्थापना की और 1919 से 1938 तक इसके कुलपति रहे। उन्होंने 1906 में हिंदू महासभा की स्थापना में मदद की, जिसने विभिन्न स्थानीय हिंदू राष्ट्रवादी आंदोलनों को एक साथ लाया। 2014 में, उन्हें मरणोपरांत देश के सर्वोच्च नागरिक पुरस्कार भारत रत्न से सम्मानित किया गया था।

महेंद्रलाल सिरकार
(1833-1904)
चिकित्सा चिकित्सक, समाज सुधारक
उन्होंने 1876 में कलकत्ता में इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस की स्थापना की। डॉ सिरकार ने एलोपैथी की प्रथा को त्याग दिया और राजेंद्रलाल दत्त के प्रभाव में होम्योपैथी को अपनाया। 1868 में डॉ सिरकार ने अपने विचारों को व्यक्त करने और होम्योपैथिक उपचार को लोकप्रिय बनाने के लिए कलकत्ता जर्नल ऑफ मेडिसिन नामक एक नई मासिक पत्रिका प्रकाशित करना शुरू किया।

मेघनाद सहाय
(1893-1956)
खगोल
साहा ने आयनीकरण समीकरण विकसित किया, जिसका उपयोग सितारों में रासायनिक और भौतिक स्थितियों का वर्णन करने के लिए किया जाता है। उनके काम ने खगोलविदों को सितारों के वर्णक्रमीय वर्गों को उनके वास्तविक तापमान से सटीक रूप से संबंधित करने की अनुमति दी। कोलकाता में साहा इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स का नाम उनके नाम पर रखा गया है। वह 1952 में कोलकाता से भारत की संसद में एक सांसद के रूप में चुने गए थे।

मोक्षगुंडम विश्वेश्वरय्या
(1860-1962)
इंजीनियर, मैसूर के 19वें दीवान
वह मैसूर में कृष्णा राजा सागर बांध, दक्षिण-पश्चिमी महाराष्ट्र में कोल्हापुर के पास बने लक्ष्मी तलाव बांध के मुख्य अभियंता थे, और हैदराबाद शहर के लिए बाढ़ रक्षा प्रणाली के मुख्य इंजीनियरों में से एक के रूप में कार्य किया। उन्हें 1955 में भारत रत्न भी मिला था। उनके जन्मदिन को भारत में इंजीनियर्स डे के रूप में मनाया जाता है।

प्रफुल्ल चंद्र रे
(1861-1944)
रसायनज्ञ, शिक्षाविद, अग्रणी उद्यमी
भारत में रसायन विज्ञान के जनक, उन्होंने रसायन विज्ञान में पहले आधुनिक भारतीय शोध विद्यालय की स्थापना की। वह भारत की पहली दवा कंपनी, बंगाल केमिकल्स एंड फार्मास्युटिकल्स के संस्थापक थे। वह ए हिस्ट्री ऑफ हिंदू केमिस्ट्री फ्रॉम ध अर्लीएस्ट टाइम्स टू द मिडिल ऑफ द सिक्सटीन्थ सेंचुरी के लेखक भी थे।

प्रह्लाद चुन्नीलाल वैद्य
(1918-2010)
भौतिक विज्ञानी, गणितज्ञ
सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत में उनके महत्वपूर्ण कार्य के लिए प्रसिद्ध थे। उन्हें विशेष रूप से 'वैद्य मैट्रिक' के लिए जाना जाता है, जिसने उन्हें 24 साल की उम्र में दुनिया भर में पहचान दिलाई। 'मेडिकल मेट्रिक' ने आइंस्टीन के समीकरणों के सेट पर लागू होने वाले कई अनुप्रयोगों को पाया है। उन्होंने गुजरात मैथमैटिकल सोसाइटी की भी स्थापना की।

प्रमथनाथ बोझ

(1855-1934)
भूविज्ञानी, जीवाश्म विज्ञानी
वह एक श्रेणीबद्ध अधिकारी के रूप में भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में शामिल होने वाले पहले भारतीयों में से एक थे। उन्हें भारत में पहली साबुन फैक्ट्री स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है और जमशेदजी टाटा को इस क्षेत्र के लौह अयस्क के समृद्ध भंडार के बारे में लिखकर जमशेदपुर की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उनके प्रयासों से बंगाल तकनीकी संस्थान की स्थापना हुई, जिसे अब जादवपुर विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है।

राधानाथ सिकदर
(1813-1870)
गणितज्ञ
वह 1852 में माउंट एवरेस्ट की ऊंचाई की गणना करने वाले पहले व्यक्ति थे। उन्होंने ऊंचाई की गणना ठीक 29,000 फीट की थी। उन्हें 'कंप्यूटर' की उपाधि/पदनाम दिया गया था और उन्हें प्रति माह 40 रुपये का वेतन मिलता था। उनके प्रयासों के बिना, पीक XV हिमालय का एक और पर्वत मात्र ही रह जाता।

रुचि राम साहनी
(1863-1948)
भौतिक विज्ञानी, मौसम विज्ञानी, शिक्षाविद
वह भारत के पहले परमाणु वैज्ञानिक थे और उन्होंने इंग्लैंड में परमाणु भौतिकी के संस्थापक अर्नेस्ट रदरफोर्ड (1871-1937) के साथ काम किया था। वह 1885 में भारत मौसम विज्ञान विभाग (IMD) में शामिल होने वाले पहले भारतीय अधिकारी थे। उन्होंने प्रदर्शित किया कि वैज्ञानिक विचारों के प्रसार के माध्यम के रूप में स्थानीय भाषाओं का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है।

सत्येंद्र नाथ बोझ (1894-1974)
गणितज्ञ, भौतिक विज्ञानी
उन्हें 1920 के दशक की शुरुआत में क्वांटम यांत्रिकी पर उनके काम के लिए जाना जाता है, जिसने बोस सांख्यिकी की नींव और बोझ कंडेनसेट्स के सिद्धांत को विकसित किया। उन्हें अल्बर्ट आइंस्टीन के साथ उनके सहयोग के लिए भी जाना जाता है। बोझ के आँकड़ों का पालन करने वाले कणों का वर्ग, बोसॉन, उनके नाम पर रखा गया है।

शंकर पुरुषोत्तम आगरकर
(1884-1960)
विज्ञान अनुसंधान अग्रणी

विज्ञान की खेती के लिए महाराष्ट्र एसोसिएशन के संस्थापक निदेशक (1946-60) थे। उन्होंने पश्चिमी घाट की जैव विविधता की खोज की जहां उन्होंने मीठे पानी की जेलीफ़िश की खोज की, जो केवल अफ्रीका में पाई जाती है। खोज 1912 में नेचर में प्रकाशित हुई थी। पुणे में आगरकर अनुसंधान संस्थान का नाम उन्हीं के नाम पर रखा गया है।

शांति स्वरूप भटनागर (1894-1955)
रसायनज्ञ, वैज्ञानिक प्रशासक, संगठन निर्माता
वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद (सीएसआईआर) के पहले महानिदेशक, उन्हें भारत में अनुसंधान प्रयोगशालाओं के पिता के रूप में सम्मानित किया जाता है। वह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के पहले अध्यक्ष थे। उनके सम्मान में, सीएसआईआर सालाना विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिए एसएसबी पुरस्कार, देश का सबसे प्रतिष्ठित विज्ञान पुरस्कार प्रदान करता है।

श्रीनिवास रामानुजन्
(1887-1920)
गणितज्ञ
शुद्ध गणित में कोई औपचारिक प्रशिक्षण न होने के बावजूद, उन्होंने जटिल विश्लेषण, संख्या सिद्धांत, अनंत श्रृंखला और निरंतर अंशों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1914 में, रामानुजन ने पाई के लिए अनंत श्रृंखला सूत्र की खोज की, जो आज उपयोग किए जाने वाले कई एल्गोरिदम का आधार है। उनकी जयंती 22 दिसंबर को राष्ट्रीय गणित दिवस के रूप में मनाई जाती है।

विक्रम साराभाई
(1919-1971)
भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम के जनक, भौतिक विज्ञानी
भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम के जनक, उन्होंने इसरो की नींव रखी जिसे अब इसरो के नाम से जाना जाता है। उन्होंने 1947 में अहमदाबाद में भौतिक अनुसंधान प्रयोगशाला की स्थापना की और भारत के परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष थे। 1966 में पद्म भूषण और 1972 में पद्म विभूषण (मरणोपरांत) से सम्मानित।

स्वामी विवेकानंद
(1863-1902)
आध्यात्मिक नेता, दार्शनिक, देशभक्त पैगंबर, मानवतावादी
कलकत्ता में नरेंद्रनाथ दत्त के रूप में जन्मे, उन्होंने रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। शिकागो में विश्व धर्म संसद (1893) में उनके अमर भाषण ने वेदांत से लेकर विज्ञान तक हर चीज में भारत की ताकत की ओर वैश्विक ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने वैज्ञानिकों और उद्योगपतियों को भारतीयों के लिए और उनके द्वारा वैज्ञानिक बुनियादी ढांचे के निर्माण के लिए प्रेरित किया।

*सोनम सिंह सूबेदार द्वारा संकलित यह प्रोफाइल वर्णानुक्रम में व्यवस्थित की गई हैं।

शीर्षक: भारतीयों की आत्मा द्वारा पोषित और सिंचित इमारतों के साथ उपनिवेशवाद को खारिज करना

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, भारतीय पहचान का दावा राजनीति के प्रमुख क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था, बल्कि वास्तुकला सहित जीवन के सभी पहलुओं में भी उज्ज्वल रूप से चमकता था।

प्रो वीरेंद्र कुमार पॉल

1857 में औपनिवेशिक अधीनता से भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की शुरुआत सर्वविदित है। इस आंदोलन ने हिंदू स्थापत्य पहचान के पुनर्जागरण को भी चिह्नित किया, जो न केवल आस्था या धर्म की अभिव्यक्ति थी, बल्कि भारत की आत्मा का प्रतिबिंब था, जो विदेशी संस्कृतियों के निरंतर हमले से बहुत प्रभावित थी। इमारतों और संरचनाओं का रूप सांस्कृतिक पहचान की एक मजबूत अभिव्यक्ति है, 'भारतीय वास्तुकला में स्वतंत्रता संग्राम और पहचान' की कहानी भी सूक्ष्म रूप से प्रभावशाली ढंग से लिखी गई थी।

सभ्यताओं ने हमेशा इमारतों और संबंधित इमारतों और स्मारकों का निर्माण करके विज्ञान, प्रौद्योगिकी, कला रूपों और राजनीतिक शक्ति में अपनी प्रगति का जश्न मनाया है। उन्नीसवीं सदी की स्थापत्य शैली, जैसे कि इंडो-इस्लामिक, इंडो-गॉथिक, इंडो-सरसेनिक और यूरोपीय आर्ट डेको, ने पहले ही तकनीकी श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी और भारतीय मानस में सांस्कृतिक समर्पण को उत्प्रेरित किया था। जैसा कि हम आजादी का अमृत उत्सव मनाते हैं, हमें भारतीय वास्तुकला के (वास्तुशिल्प) पुनरुद्धार के कठोर संघर्ष को भी स्वीकार करने की आवश्यकता है।

भारतीय स्थापत्य पहचान का दमन

1857-1947 के दौरान शहरीकरण ने औपनिवेशिक वास्तुकला पर आक्रमण किया और उसका जश्न मनाया। 19वीं शताब्दी के उल्लेखनीय वास्तुकारों में से एक फ्रेडरिक विलियम स्टीवंस थे जिन्होंने बॉम्बे की कुछ प्रमुख इमारतों जैसे की विक्टोरिया रेलवे स्टेशन और नगर निगम की इमारतों को एक विशिष्ट औपनिवेशिक शैली में डिजाइन किया था। एशिया में वास्तुकला का पहला स्कूल 1913 में सर जे.जे. द कॉलेज ऑफ़ आर्ट, बॉम्बे, जॉर्ज ट्विग मोलेसी द्वारा वास्तुकला की नव-गॉथिक शैली में डिजाइन किया गया था।

PDF Page No. 37, Image No. 1 & 2
शांतिनिकेतन भवन, जैसे सिंह सदन (ऊपर) और उदयन कॉम्प्लेक्स (बाएं), भारतीय शैली में पर्यावरण और वास्तुकला के एक आदर्श मिश्रण में डिजाइन किए गए थे।

ग्रीक-रोमन और यूरोपीय नियोक्लासिसिज़्म में इमारतों के साथ 'उपनिवेशित' वास्तुशिल्प स्थान में कलकत्ता ज़्यादा पीछे नहीं था। इसी अवधि के दौरान, भाई राम सिंह पंजाब के एक प्रमुख वास्तुकार थे। अंग्रेजों के संरक्षण में, उन्होंने पश्चिम पंजाब में इंडो-सरसेनिक शैली में कुछ सबसे प्रसिद्ध इमारतों को डिजाइन किया। और, शहरी क्षेत्र में इसका एक मजबूत औपनिवेशिक प्रभाव देखा गया है। ब्रिटिश कारण के लिए उनकी गहन सेवाओं के लिए, उन्हें एमवीओ (रॉयल विक्टोरियन ऑर्डर के सदस्य) का रॉयल ब्रिटिश सम्मान मिला था। भाई राम सिंह के कार्यों का प्रभाव इतना गहरा है कि खालसा कॉलेज, अमृतसर अभी भी एक पर्यटन स्थल है। साहित्य से पता चलता है कि भाई राम सिंह ने ट्यूडर शैली में शिमला में गवर्नर हाउस और मूरिश शैली में हाउसिंग पेंटिंग में भी योगदान दिया था।

इस प्रकार, हम देख सकते हैं कि 19वीं शताब्दी के अंत में हमारी मूर्तिकला वास्तुकला उसी वर्ग के शासकों की सांस्कृतिक महिमा की अभिव्यक्ति थी जो भारत के स्वतंत्रता संग्राम में एक कड़ी भी बने है। शहरी क्षेत्र में प्रतीकात्मकता के रणनीतिक उपयोग ने एक अमिट छाप छोड़ी जिसके परिणामस्वरूप आज भी औपनिवेशिक स्थापत्य शैली की जुनूनी नकल हुई है। भारत में विदेशी वास्तुकला का प्रसार बंबई और कलकत्ता जैसे शहरी केंद्रों से राजसी के पलायन का एक स्वाभाविक परिणाम था।

यह अनुमान लगाना वाजिब है कि औपनिवेशिक, इस्लामी और बाहरी स्थापत्य प्रभावों के प्रसार ने न केवल अपनी स्थापत्य विरासत में, बल्कि भारतीयता की सांस्कृतिक अधीनता की चेतना और जागरूकता में भी भारत की पहचान की खोज की, या विदेशी वर्ग जिसे भारत 1947 में स्वतंत्रता के साथ तोड़ने की मांग की। सांस्कृतिक आकर्षण की विरासत छोड़ गए।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में 'भारतीय वास्तुकला की पहचान के लिए संघर्ष' हमारी सांस्कृतिक वीरता की गाथा है।

भारतीय स्थापत्य पहचान के लिए एक अभिकथन

विश्व भारती, शांतिनिकेतन, काशी हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू), बेलूर मठ और डीएवी संस्थान आदि ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें शिक्षा और सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरुद्धार के माध्यम से भारतीयता के एजेंडे को आगे बढ़ाते हुए भारत की वास्तुकला के उनके जोरदार बयान के लिए स्वीकार करने की आवश्यकता है। 1857 की घटनाओं ने वैदिक दर्शन में निहित सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों और भारतीय पहचान को मजबूत करने के लिए शैक्षणिक संस्थानों के पुनरुद्धार के माध्यम से हिंदू पहचान के पुनर्जागरण को प्रज्वलित किया।

बाहरी प्रभावों को खत्म करने और इमारतों की आत्मा के रूप में भारतीयता को जगाने के लिए यह एक विशिष्ट वास्तुशिल्प क्रांति थी। विभिन्न औपनिवेशिक, मुगल या अन्य प्रभावों के माध्यम से विविधता का महिमामंडन करने के बजाय, इन संस्थानों ने अपनी इमारतों की विशिष्ट हिंदू पहचान, निर्मित रूप, पैमाने, शास्त्रीय संरचनात्मक रूपांकनों और प्राचीन भारतीय डिजाइन अलंकरण जैसे वास्तुशिल्प अभिव्यक्तियों

का उपयोग किया। इसका उद्देश्य भारतीयता की एक अनुभवात्मक प्रेरणा प्रदान करना और एक दार्शनिक कथा के अनुरूप प्रतीकात्मकता और अभिव्यक्ति के उपयोग के माध्यम से एक सांस्कृतिक और विशिष्ट राष्ट्रीय पहचान स्थापित करना था। हमारे अपने उचित शहरी स्थान पर कब्जा करने वाले अप्रासंगिक और गैर-प्रासंगिक प्रभावों को दूर करने की उत्सुकता भारतीय वास्तुकला का एक और स्वतंत्रता संग्राम था।

शांतिनिकेतन में भारतीय पहचान की शपथ

पश्चिमी सांस्कृतिक प्रभाव के ज्वार के खिलाफ गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की शांति और भाईचारे के विश्वास का अनुवाद करने में वास्तुकार सुरेंद्रनाथ कार एक प्रमुख व्यक्ति थे। शांतिनिकेतन के संदर्भ की जड़ें उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी आंदोलन में हैं, जो वास्तव में 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद और 1772 में राजा राममोहन रॉय द्वारा की गई पहल के रूप में बंगाल पुनर्जागरण के दौरान शुरू हुई थी। जोरासांको ठाकुर बारी, जहां गुरुदेव का जन्म 1861 में हुआ था और 1941 में उनकी मृत्यु हो गई थी, बंगाल कला आंदोलन के दार्शनिक विचार और सांस्कृतिक संलयन का केंद्र था। गुरुदेव के पास एक समृद्ध विरासत थी और उन्होंने उपनिषदिक मानवतावाद से काव्य संवेदनाओं के माध्यम से अपने विश्वासों का प्रस्ताव रखा। गुरुदेव ने शांतिनिकेतन में शिक्षा, कला और वास्तुकला में प्रयोग करने के लिए संस्कारों को आगे बढ़ाया। इसने विश्व-भारती की वास्तुकला के इर्द-गिर्द एक अद्वितीय भारतीय सांस्कृतिक पहचान बनाई, जबकि असहयोग आंदोलन भी इसके साथ-साथ चला।

वास्तुकला का प्रारंभिक विकास स्थानीय बांग्ला खेस संरचनाओं के इर्द-गिर्द ही घूमता था और बाद में ब्राह्मणवादी वास्तुकला, भारतीय गुफाओं, मठों और गुजरात के झरोखो से काफी प्रभावित हुआ। शाही सत्ता के प्रतीकात्मक उन्नयन के विपरीत, परिसर को अतिसूक्ष्मवाद के सिद्धांतों पर डिजाइन किया गया था। यह भारतीय परंपराओं को मिश्रित करने और उन्हें शैक्षिक प्रणाली में उपयोग करने का एक प्रयास था। गुरुदेव पुराणों में निहित रूपकों और विवरणों का उपयोग करते हुए शिक्षा के हिस्से के रूप में भारतीय लोककथाओं में विश्वास करते थे। विशिष्ट भारतीय शैली में, शांतिनिकेतन पर्यावरण और वास्तुकला का एक आदर्श मिश्रण है, जो राष्ट्रवादी शिक्षा के लक्ष्यों पर आधारित है।

स्थापत्य भाषा आसपास के गांवों में देखी जाने वाली स्थानीय शैली से प्रेरित थी, इस प्रकार स्थानीय सामग्रियों का भी स्थायी उपयोग किया जा रहा था। पारंपरिक गुरु शिष्य परम्परा इस शिक्षा के मूल में थी जिसने भारतीय शिक्षा को घर के अंदर और बाहर दोनों जगह एकीकृत किया। शांतिनिकेतन में, जहां 1901 में गुरुदेव द्वारा पहला स्कूल स्थापित किया गया था, निर्मित रूप मानवता में एकता का प्रतिनिधित्व करता है जहां पूरी दुनिया एक घोंसला बनाएगी। भारत की सांस्कृतिक पहचान पर आक्रमण करने वाले औपनिवेशिक प्रभावों को खारिज करते हुए, विश्वभारती ने प्रकृति के साथ एकता में भारतीयता की भावना को वापस लाया। यह वास्तव में एक भारतीय स्थायी दर्शन था जिसने उत्पीड़कों की भाषा के अधीन होने के बजाय रचनात्मकता और बौद्धिक क्रांति को संश्लेषित किया।

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय: भारतीय पहचान की तलाश में

जब पंडित मदन मोहन मालवीय ने एक अद्वितीय हिंदू विश्वविद्यालय बनाने का फैसला किया, तो उन्होंने गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर से भारतीयता के अनुरूप एक वास्तुशिल्प चरित्र पर मार्गदर्शन के लिए संपर्क किया। और, इस प्रकार सुरेंद्रनाथ कर की सेवाओं से एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय बनाने का अनुरोध किया गया था। डिजाइन के सार को समझने के लिए एक नज़र काफी है, जैसा कि विश्वविद्यालय के भजन में वर्णित है '.. एक देवत्व की प्रारंभिक संरचना, ज्ञान की हवेली, सभी सृजन का केंद्र ..'। यह हिंदू पहचान और वास्तुकला के सांस्कृतिक मूल्यों की एक मजबूत छाप है जिसे विश्वविद्यालय अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसात करता है। उद्देश्य हिंदू समुदाय को शिक्षा प्रणाली के तहत लाना था और इस प्रकार, पंडित मालवीयजी ने विश्वविद्यालय को 'भारतीय संस्कृति के लिए जुनून' की खोज में 'विद्या मंदिर' के रूप में संदर्भित किया।

परिसर योजना का अर्धचंद्राकार आकार 'कर्मुका' योजना से विकसित हुआ, जो भगवान शिव के माथे पर अर्धचंद्र का प्रतीक है, जिसके केंद्र में भगवान विश्वनाथ का मंदिर है, गर्भगृह (गभग्रहीह), जिसे कॉस्मोजेनिक बनारस के रूप में जाना जाता है। मंदिर में द्वादेश्वर के साथ बारह शिव-लिंग, छह उप-विभाजन (उपखंड) या रेडियल पथ के उत्तर और दक्षिण की ओर ब्लॉक हैं। पंडित मालवीय जी की इच्छा थी कि विद्यार्थी प्रातःकाल पूर्व दिशा में गंगा को देख सकें और गायत्री मंत्र का जाप कर सकें।

शिल्पशास्त्रों से प्रेरणा लेकर बीएचयू को 'इंडियाज ओन यूनिवर्सिटी' कहा गया। बीएचयू की वास्तुकला का उस सांस्कृतिक पहचान पर गहरा प्रभाव पड़ता है जिसे संस्थान बढ़ावा देना चाहता है। आइकॉनोग्राफी हिंदू नैतिकता का एक ठोस अभिन्न अंग है और अमूर्त संदेश एक साथ अटूट रूप से जुड़े हुए हैं। परिणाम सार्वभौमिक भारतीयता पर ध्यान देने के साथ एक व्याकुलता मुक्त सीखने का माहौल है। भारतीय वास्तुकला-निर्मित रूप का परिवर्तनकारी प्रभाव, सांस्कृतिक मूल्यों का पालन, औपनिवेशिक अधीनता की मानसिकता से मुक्ति, भारतीय वास्तुकला के पीछे प्रेरक शक्ति है।

बेलूर मठ, रामकृष्ण परमहंस को उनके प्रसिद्ध शिष्य द्वारा श्रद्धांजलि

स्वामी - रामकृष्ण परमहंस - और उनके घर के अवशेषों को श्रद्धांजलि के रूप में, स्वामी विवेकानंद ने बेलूर मठ को वास्तुकला का एक विशिष्ट भारतीय प्रतीक माना। स्वामी विवेकानंद एक 'आध्यात्मिक रूप से सशक्त व्यक्ति' में विश्वास करते थे। स्वामीजी के उद्देश्य को रामकृष्ण परमहंस के एक अन्य प्रत्यक्ष शिष्य स्वामी विज्ञानानंद ने आगे बढ़ाया। बेलूर मठ 13 जनवरी 1929 से 14 जनवरी 1938 के बीच बनकर तैयार हुआ था। नटमंदिर, या सामूहिक हॉल, गर्भमंदिर, गर्भगृह, और भंडारा, अवशेष, आदि विशिष्ट प्राचीन भारतीय कार्यात्मक स्थान हैं, जिनकी व्याख्या समकालीन भारतीय संदर्भ में की गई है।

PDF Page No. 39, Image No. 1 & 2

बाएं: लाहौर संग्रहालय को प्रसिद्ध वास्तुकार सर गंगा राम द्वारा समन्वित इंडो-सरसेनिक शैली में डिजाइन किया गया था। इसका निर्माण 1894 में पूरा हुआ था

नीचे: डीएवी कॉलेज, जालंधर जैसे प्रमुख स्वतंत्रता-पूर्व भवनों में देखा गया हिंदू पुनर्जागरण वास्तुकला

हमारा मठ प्राचीन भारतीयता से जुड़ा हुआ है, चाहे वह दक्षिणी मंदिरों के गोपुरमों की सूक्ष्म छाप हो या बंगाल के स्थापत्य तत्वों की बात हो। बेलूर मठ एक ऐसी इमारत है जो सार्वभौमिक भाईचारे के अंतर्निहित सिद्धांत को साकार करने के लिए समृद्ध भारतीय विविधता और मंदिर वास्तुकला की विशेषताओं के स्थापत्य अभिव्यक्तियों को जोड़ती है। गणित भारतीयता का एक आंख खोलने वाला अनुभव है। भारतीयता का उत्सव, यह हिंदू पुनर्जागरण के एक सहज बयान का प्रतिनिधित्व करता है जब औपनिवेशिक रूपकों का हमला अपरिहार्य स्वतंत्रता का विरोध कर रहा था।

स्वतंत्रता संग्राम, शिक्षा और वास्तुकला को एक साथ जारी रखना

जबकि मुख्य रूप से भाई राम सिंह के नेतृत्व में स्थापत्य प्रतीकवाद के माध्यम से औपनिवेशिक सांस्कृतिक आक्रमणों के बीच लाहौर हिंदू पहचान की लड़ाई के केंद्र में था, अंग्रेजों से स्वतंत्रता की खोज ने वैदिक जड़ों से समाज के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया। 1875 में बॉम्बे में आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी, लेकिन लगभग एक दशक बाद यह लाहौर में एक बड़े पैमाने पर आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। लाला लाजपत राय और उनके मित्र महात्मा हंस राज ने 1886 में लाहौर में डीएवी कॉलेज की स्थापना की। वहां से, डीएवी शिक्षण संस्थान एक मजबूत हिंदू पहचान के तहत विकसित हुए, लेकिन स्वतंत्रता संग्राम में आक्रामक को हवा देते हुए आधुनिकतावादी शिक्षा प्रदान की।

हिंदू पुनर्जागरण का प्रभाव इतना गहरा था कि इसने लाहौर की स्थापत्य पहचान को भी प्रभावित किया। लाहौर में पहले डीएवी संस्थान की स्थापत्य अभिव्यक्ति ने इमारत के प्रत्येक कोने पर हिंदू मंदिर शिखर (टावर) और प्रवेश द्वार पर विशिष्ट हिंदू मूर्तियों को शामिल करके अपनी उपस्थिति महसूस की। इसने एक सांस्कृतिक और वैदिक धार्मिक क्रांति को चिह्नित किया, जो मिशनरी धर्मांतरण के प्रभाव से सुरक्षित थी। इस प्रकार, हिंदू स्थापत्य प्रतीकवाद के माध्यम से शिक्षा और विद्रोह का सहारा लेकर भारतीयों ने अत्यधिक उपनिवेशवाद को स्पष्ट रूप से खारिज कर दिया। जालंधर में साई दास स्कूल और डीएवी कॉलेज जैसे संस्थानों में शैलीगत वास्तुकला देखी जा सकती है।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, यह स्पष्ट है कि हिंदू पहचान को पंजीकृत करने और औपनिवेशिक संस्कृति को उसके भारी ज्वार के खिलाफ तोड़ने के लिए वास्तुकला का उपयोग एक प्रभावी उपकरण के रूप

में किया गया था। संस्थागत हिंदू पुनर्जागरण इक्कीसवीं सदी में अपनी प्रभावशाली यात्रा जारी रखता है, केवल अब 'आधुनिकता' के 'नए युग' की चुनौतियों से पार पाने की प्रतीक्षा कर रहा है।

*लेखक बिल्डिंग इंजीनियरिंग एंड मैनेजमेंट विभाग, स्कूल ऑफ प्लानिंग एंड आर्किटेक्चर, नई दिल्ली में प्रोफेसर और हेड हैं।

विज्ञान की कूटनीति

बड़ी महत्वाकांक्षाओं के लिए 'योजना' के भारत के रवैये को पुनः प्राप्त करना

अमृत काल (2022-2047), भारत की आजादी के सौ साल तक के नेतृत्व के रूप में, राष्ट्र को अल्पकालिक से दीर्घकालिक और दूरदर्शी योजनाकार में बदल देगा।

डॉ चैतन्य गिरि

स्वतंत्र भारत ने अपनी प्रगति के लिए उपयुक्त सर्वोत्तम मॉडल खोजने के लिए संघर्ष करना कभी नहीं छोड़ा। 1950 में गणतंत्रवाद प्राप्त करने के बाद, भारत कई वैचारिक उथल-पुथल से जूझ रहा है। कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने स्वदेशी जरूरतों के आधार पर राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने में शानदार सफलता हासिल की है। कुछ नीति-निर्माण की उपनिवेश-विरोधी रेखा से आकर्षित थे, जो हमारी मूलभूत आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं थी। कुछ लोगों ने तब औपनिवेशिक युग की नीतियों को जारी रखने का आह्वान किया क्योंकि उन्होंने इस बात को युक्तिसंगत बनाया कि इन विधायी ढांचे सहित औपनिवेशिक नीति-निर्माण तंत्र लगभग एक सदी से मौजूद थे। उनके लिए, इन तंत्रों के साथ आगे बढ़ना अधिक समझ में आता है। और कुछ ने विभिन्न क्रमपरिवर्तनों और संयोजनों के अनुसार तीनों संवेदनशीलताओं के साथ अपनी इच्छा से व्यवहार किया है।

भारत एक प्राचीन सभ्यता है जिसके बारे में सदियों से सोचा जा सकता है। लेकिन आजादी के बाद, हमने किसी तरह लंबे समय तक सोचने की अपनी सहज क्षमता खो दी। स्वतंत्र भारत ने साम्यवादी राष्ट्रों का उपयोग करना शुरू कर दिया और पाँच वर्षों से अधिक समय की आयु के लिए योजना बनाई। सौभाग्य से, अब हम इन सभी विकर्षणों को पार कर चुके हैं, और अब, हमारे लिए 25 साल आगे की योजना बनाना संभव है, जो कि भौतिक से पांच गुना अधिक है। आजादी का अमृत महोत्सव ने 2047 में आजादी का शताब्दी महोत्सव मनाने से पहले भारत को अगले 25 वर्षों के लिए योजना बनाने और लागू करने के लिए प्रेरित किया है।

योजना और दूरदर्शिता

जब 2014 में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाले प्रशासन ने पदभार संभाला, तो पहला बड़ा नीतिगत बदलाव भारत के योजना आयोग का नाम बदलकर नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया कर दिया गया, जिसे नीति आयोग के नाम से जाना जाता है। नाम परिवर्तन अल्पकालिक पंचवर्षीय योजना द्वारा बनाई गई निम्न-सीमा को तोड़ने और उसे आदिक बड़ा करने की इच्छा को दर्शाता है; हालांकि, नीति ने यह कभी नहीं बताया कि वह किस योजना के लिए किस समय सीमा को देख रही है। किसी भी परियोजना को क्रियान्वित करने के लिए सावधानीपूर्वक योजना, निगरानी और लक्ष्य प्राप्ति की आवश्यकता होती है। अक्सर, इस तरह के अंक नियमित अंतराल पर हासिल किए जाते हैं, और अगर सूक्ष्म कार्यान्वयन

किया जाना है तो 5 साल की योजना समझ में आती है। हालांकि, भारत पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों को प्रभावी ढंग से पूरा नहीं कर पाया है। भारत किसी तरह पांच साल की अवधि में उन सूक्ष्म उपलब्धियों को हासिल करने के लिए आवश्यक दीर्घकालिक योजना के महत्व को समझने में विफल रहा। भारत को एक बड़े और लंबे समय के क्षितिज के लिए योजना बनाने की सख्त जरूरत है - कम से कम समय और बाधाओं या आधी सदी के साथ - और यह भी सुनिश्चित करने की जरूरत है कि हमारे सूक्ष्म कार्यान्वयन अंततः हमें एक बड़ी योजना की ओर ले जाते हैं।

PDF Page No. 41, Image No. 1

अंतर्राष्ट्रीय सौर गठबंधन जैसे अत्याधुनिक विज्ञान मिशनों की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि भारत अमृत काल के दौरान अपने लक्ष्यों को कैसे पूरा करता है।

अमृत काल (2022-2047) की बदौलत 25 साल की योजना और कार्यान्वयन समयसीमा भारत के लिए एक शुभ घटना है। सबसे पहले, यह लंबी अवधि वाली परियोजनाओं के लिए अच्छा है। आज हमारा उन्नत विज्ञान उनमें से गहरे समुद्र के मिशन से लेकर भारतीय मानव अंतरिक्ष उड़ान कार्यक्रम तक; अंतर्राष्ट्रीय थर्मोन्यूक्लियर एनर्जी रिएक्टर से लेकर एलआईजीओ-इंडिया (भारत में स्थित एक उन्नत गुरुत्वाकर्षण-लहर वेधशाला) एक है; अंतर्राष्ट्रीय सौर गठबंधन से पृथ्वी बायोजेनोम परियोजना; शुद्ध शून्य उत्सर्जन, सर्कुलर इकोनॉमी, 10-ट्रिलियन-डॉलर की इकोनॉमी मार्क हासिल करना इस बात पर निर्भर करेगा कि अमृत कल के दौरान भारत कैसे सपने देखता है, योजना बनाता है, लागू करता है और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है। 25 साल बाद हमारे अधिकारियों, वैज्ञानिकों और योजनाकारों के मन में लंबी अवधि की योजनाएं बनाने और उन्हें लागू करने की आदत इतनी गहरी हो जाएगी कि भारत को फिर कभी अदूरदर्शी समाजवादी युग में धकेला नहीं जाएगा। वास्तव में, भारतीय कभी भी छोटी अवधि की उपलब्धियों को कम नहीं देखेंगे बल्कि अधिक महत्वाकांक्षाओं को प्राप्त करने के लिए अल्पकालिक उपलब्धियों को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति विकसित करेंगे।

मैं यहां अपने व्यवसायिक जीवन से एक उदाहरण देता हूं। जर्मनी में मैक्स प्लैंक इंस्टीट्यूट फॉर सोलर सिस्टम रिसर्च में पीएच.डी. के लिए सिलेक्ट किया गया, तब मैं केवल 22 वर्ष का था जब मुझे चुना गया था। मेरी पीएच.डी. परियोजना, जिसे अंततः मेरी थीसिस का शीर्षक भी दिया गया था, का शीर्षक था "द ऑर्गेनिक कंपोजिशन ऑफ ए मैटर न्यूक्लियस, द कोसैक एक्सपेरिमेंट ऑन फिला।" ("कॉमेट्री न्यूक्लियस की कार्बनिक संरचना, फिलै पर कोसैक प्रयोग।") यह परियोजना काफी उल्लेखनीय थी। मुझे एक भू-संदर्भ मॉडल पर काम करना था, जो कि COSAC पेलोड का एक प्रयोगशाला-आधारित प्रोटोटाइप था, जो यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी (ESA) के रोसेटा अंतरिक्ष यान पर धूमकेतु 67P/Churyumov-Gerasimenko के लिए उड़ान भर रहा था। जब मैं 2011 में शामिल हुआ, तो अंतरिक्ष यान धूमकेतु तक पहुँचने के अपने लक्ष्य तक पहुँचने से तीन साल दूर था। अंतरिक्ष यान ने सात

साल पहले 2004 में अपनी यात्रा शुरू की थी। रोसेटा पर उड़ान भरने वाले उपकरणों को लगभग 1995 से डिजाइन किया गया था, जबकि ईएसए ने 1986 के आसपास मिशन की कल्पना करना शुरू किया था। यह मिशन 2016 में समाप्त हुआ था। तो, मैंने क्या किया? , और मेरे जैसे बहुत से लोग जिन्होंने मिशन से सीखा, अनुभव प्राप्त किया? हमने वास्तविक दुनिया में दीर्घकालिक योजना और निष्पादन का अनुभव किया। मिशन तक चला - गर्भाधान से अंतिम शिविर तक और अंत में पूरा होने तक - ठीक 30 साल। रोसेटा की खूबी यह थी कि तीन पीढ़ियों ने लगन, अथक और अत्यधिक दक्षता के साथ काम किया। 1990 के दशक की तकनीक के साथ 4 किमी चौड़े धूमकेतु पर उतरना कोई आसान उपलब्धि नहीं थी। इसकी तैयारी में 20 साल लगे और आखिरकार हमें यह मिल गया।

लंबी अवधि के लाभ के लिए आवश्यक परिश्रम

असाधारण रूप से विलंबित परियोजनाओं और असाधारण परिश्रम और प्रतिबद्धता की मांग करने वाली परियोजनाओं के बीच अंतर भी है। किसी भी परियोजना में देरी से बचने और लंबी अवधि की परियोजनाओं पर अथक रूप से काम करने के लिए सावधानीपूर्वक अल्पकालिक योजना की आवश्यकता होती है। और इसलिए, यह लेख अल्पकालिक योजना में बहुत अधिक नहीं दिखता है। लेकिन कल्पना कीजिए, अगर रोसेटा की कल्पना करने वालों ने खुद को केवल 5 साल दिए होते? मिशन निश्चित रूप से आगे नहीं बढ़ा होगा।

भारत में आकर, अगर होमी भाभा ने तीन चरणों वाले परमाणु कार्यक्रम की कल्पना नहीं की होती, तो आज हमारे पास थोरियम आधारित रिएक्टर नहीं होते। अगर 1960 के दशक में तरल ईंधन वाले रॉकेट इंजन के लिए नंबी नारायणन के जुनून और विक्रम साराभाई और सतीश धवन द्वारा पारित उनके प्यार और जुनून के लिए नहीं होता, तो भारत में विकसित इंजन नहीं होते और भारत 2008 में चंद्रमा पर नहीं पहुच पाता।

विज्ञान के बारे में सोचना, विज्ञान की योजना बनाना, विज्ञान को साकार करना और परिणामी विज्ञान के व्यापक लाभों को प्राप्त करना समय लेने वाले कार्य हैं। कोई भी देश या अंतर्राष्ट्रीय समूह जो इस तरह की लंबी अवधि की परियोजनाओं को सफलतापूर्वक पूरा करने की आदत में है, इसे मुझसे ले लो, उच्च भू-राजनीतिक लचीलापन होने के लिए बाध्य है, सबसे मजबूत और सबसे लचीला तरीके से आर्थिक उथल-पुथल का सामना कर सकता है, और दूरदर्शी है। और गहराई से सोचें और अपनी मूल संस्कृतियों के अनुरूप अपना काम करें। कुल मिलाकर ये एक महाशक्ति के लक्षण हैं।

अमृत काल की कल्पना

अमृत काल भारत के लिए तपस्या (एक मन का) का युग है। बाहरी अशांति, आंतरिक अशांति, आपदाओं या युद्धों के बावजूद भारत को अपने वैज्ञानिक उपक्रमों पर कड़ी मेहनत करनी है। अमृत काल के दौरान, भारतीय नीति निर्माताओं को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिए वित्तीय, नियामक और संसाधन समर्थन, चाहे इसके पूर्ववृत्त - सरकार, वाणिज्यिक या सैन्य प्रयोगशालाएँ

- किसी भी पहलू में कमजोर या कम न हों। भारतीय नीति निर्माताओं को यह भी सुनिश्चित करना होगा कि जहां तक संभव हो देरी को कम से कम किया जाए, और उन परियोजनाओं के लिए कार्यान्वयनकर्ताओं को उचित सहायता प्रदान की जाए जिनमें स्वाभाविक रूप से समय की आवश्यकता होती है।

PDF Page No. 42, Image No. 1
अमृत काल (2022-2047) में, पहले भारतीय स्वदेशी गगनयान मिशन के माध्यम से अंतरिक्ष में प्रवेश करेंगे।

यह समझने में वास्तविक रुचि है कि अगले 25 वर्षों में किस प्रकार की वैज्ञानिक परियोजनाएं जारी रहेंगी और इन वर्षों में भारत क्या नई शुरुआत करेगा।

आइए खगोल विज्ञान से शुरू करते हैं; अमृत काल के दौरान, भारत ने अपने नेतृत्व और साझेदारी, हवाई में थर्टी मीटर टेलीस्कोप, महाराष्ट्र में एलआईजीओ-इंडिया, फ्रांस में आईटीईआर और अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में स्क्वायर किलोमीटर एरे का पूर्ण स्थापना और परिचालन अनुभव प्राप्त किया होगा। इनमें से कई परियोजनाएं ऑप्टिक्स, ऑप्टोइलेक्ट्रॉनिक्स, मेटामटेरियल्स, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और बिग डेटा में उन्नत क्षमताओं का विकास करेंगी।

तब तक, जैविक विज्ञान के साथ, भारत 2019 में शुरू किए गए विशाल नागरिक-विज्ञान मेगाप्रोजेक्ट 'MANAV- ह्यूमन बायोलॉजी एटलस' को पूरा कर चुका होगा। अगले 25 वर्षों में, दुनिया की सबसे बड़ी और सबसे विविध राष्ट्रीय आबादी और एक स्वस्थ मानवता को बढ़ावा देने के वैश्विक प्रयासों के लिए बहुत महत्व के कारण, एटलस भारी मात्रा में डेटा उत्पन्न करेगा। आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी और पारंपरिक चिकित्सा के अन्य रूपों पर वर्तमान जोर को देखते हुए, भारत इन 25 वर्षों में वैश्विक निवारक और समग्र-स्वास्थ्य राजधानी के रूप में उभरेगा।

रासायनिक मोर्चे पर, भारत अगले 25 वर्षों में शुद्ध शून्य उत्सर्जन के अपने लक्ष्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हासिल कर लेगा, जिसे उसने 2070 तक हासिल करने के लिए निर्धारित किया है। भारत अपनी सर्कुलर अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देकर और रासायनिक और भौतिक प्रक्रियाओं का पुन: उपयोग, नवीनीकरण और पुनर्वितरण करके इस लक्ष्य को प्राप्त करेगा। भारत मुख्य रूप से हाइड्रोजन और हाइड्रोजन-मिश्रित संपीड़ित प्राकृतिक गैस द्वारा ईंधन वाले स्वच्छ ईंधन वाहनों के सबसे बड़े ऑपरेटर के रूप में विकसित होता। इसने अपनी घरेलू रेल और हवाई यात्रा को महत्वपूर्ण रूप से कम कर दिया होगा। भारत में शुरू हुआ सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर्यावरण के अनुकूल निर्माण सामग्री, पैकेजिंग सामग्री, रंजक और अन्य रसायनों के उपयोग पर जोर देगा। भारत अपशिष्ट पुनर्चक्रण उद्योग का भी मुद्रीकरण

करेगा, जिससे एक राष्ट्रव्यापी प्लास्टिक आविष्कार हो सकता है जो अपशिष्ट प्लास्टिक को एकत्र करता है और इसे एक मूल्यवान और स्वच्छ सामग्री में परिवर्तित करता है।

ऊर्जा के मोर्चे पर, अमृत कल के दौरान, भारत ने ग्रीन ग्रिड पहल की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय सौर गठबंधन में अपने भागीदारों के साथ जबरदस्त प्रगति की होगी। 'वन सन, वन वर्ल्ड, वन ग्रिड' के लक्ष्य की दिशा में काम करते हुए, पहल का लक्ष्य 2050 तक 2600 गीगावॉट सौर और पवन ऊर्जा उत्पन्न करना है। ग्रीन ग्रिड पहल सौर और पवन ऊर्जा उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए जबरदस्त नवाचार को भी बढ़ावा देगी जो आज के मानकों से अधिक कुशल है।

PDF Page No. 43, Image No. 1
2014 में, योजना आयोग का नाम बदलकर नीति आयोग कर दिया गया, जो अल्पकालिक पंचवर्षीय योजना द्वारा बनाई गई निचली सीमाओं को तोड़कर इसे व्यापक बनाने की इच्छा को दर्शाता है।

PDF Page No. 43, Image No. 2
डीप ओशन मिशन उन महत्वाकांक्षी परियोजनाओं में से एक है जिसे भारत हमारी स्वतंत्रता की पहली शताब्दी तक के वर्षों में सफलतापूर्वक निष्पादित करने की उम्मीद करता है।

बाहरी अंतरिक्ष में, 2047 तक, भारत पृथ्वी की कक्षा में वाणिज्यिक और नागरिक अंतरिक्ष स्टेशनों का संचालन करेगा, हमारे सौर मंडल के लगभग सभी ग्रहों को जांच भेजेगा, और पहले भारतीयों ने अमर के दौरान चंद्रमा पर पैर रखा होगा। भारत, तब तक, कई अंतरिक्ष-आधारित खगोल विज्ञान वेधशालाओं को लॉन्च कर चुका होगा जो जेम्स वेब स्पेस टेलीस्कोप और भारत के अपने एस्ट्रोसैट के उत्तराधिकारी होंगे।

अमृत काल भी भारत के लिए अपार अवसर और चुनौतियां लेकर आएगा। ऊपर उल्लिखित इन प्राथमिकता वाली परियोजनाओं में आशाजनक संभावनाएं निर्धारित की गई हैं। चुनौती उन्हें स्थानीय और वैश्विक दोनों क्षेत्रों में प्रभावी ढंग से संचालित करने में सक्षम बनाना है। हालाँकि, संभावनाओं से आत्मसंतुष्टि की भावना पैदा नहीं होनी चाहिए, और चुनौतियों को हमें अपने लक्ष्यों से नहीं रोकना चाहिए। भारत के 50वें स्वतंत्रता समारोह को याद करने वालों को पता होगा कि उस समय भारत वर्ष 2020 तक बहुत कुछ हासिल करने की कोशिश कर रहा था। वर्ष 2020 हमारी अनेक पहलों के लिए एक मानक चिन्ह बन गया है। हालाँकि, घरेलू राजनीतिक अराजकता ने अक्सर हमें भटका दिया, और हमने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में रुचि खो दी। इसका मतलब यह नहीं है कि भारत ने प्रगति नहीं की है, लेकिन हम अपेक्षा से धीमी गति से आगे बढ़ रहे थे। हमें अपनी नजर 2047 पर रखनी चाहिए क्योंकि अर्जुन ने

हमेशा अपना ध्यान मछली की आंख पर लगाया। ऐसा करने से, हमारा देश रणनीतिक रूप से सोचने और कार्य करने का एक बड़ा सम्मेलन विकसित करेगा और आगे बढ़ने में मदद करेगा। एक बार जब हम 2047 तक पहुँच जाते हैं, तो हमें 2072 और 2097 के लिए लक्ष्य निर्धारित करने और प्राप्त करने की आदत हो जाएगी।

*लेखक विकासशील देशों के लिए अनुसंधान और सूचना प्रणाली (आरआईएस), नई दिल्ली में अंतरिक्ष नीति और कूटनीति सलाहकार हैं, जो विदेश मंत्रालय का एक स्वायत्त थिंक टैंक है। उन्होंने एस्ट्रोकेमिस्ट्री में पीएच.डी. भी किया है और पुरस्कार विजेता होने के साथ-साथ जर्मनी, फ्रांस, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका में पोस्ट-डॉक्टोरल और पोस्ट-डॉक्टरेट वर्ष बिताए हैं और विशाल अनुभव प्राप्त किया है। वह यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी के रोसेटा मिशन के चालक दल के सदस्य भी थे।

PDF Page No. 44, Image No. 1

भारतीय विज्ञान संस्थान (IISc), बेंगलुरु, (बाएं) और कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रारंभिक तस्वीरें

कैसे भारतीयों ने विज्ञान की शिक्षा को नकारने के ब्रिटिश प्रयासों का सफलतापूर्वक विरोध किया

यह जितनी आधुनिक विज्ञान शिक्षा की नींव रखने वाले भारतीयों के प्रेरक तप और दृढ़ संकल्प के बारे में है, उतनी ही यह औपनिवेशिक उत्पीड़न, भेदभाव और शोषण की कहानी है

डॉ. जयंती दत्ता

उदारवादी बंदोबस्त और सभ्यता की हर व्यवस्था में विज्ञान के अध्ययन को अपना उचित स्थान मिलना चाहिए। यह मनुष्य को प्रकृति में उसके अपने स्थान और उस पर अपनी महारत का ज्ञान देता है।
- निखिल रंजन सेन (1894-1963), फैकल्टी, यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस, कलकत्ता

भारत विज्ञान के मामलों में अपने लंबे और प्राचीन ज्ञान के लिए जाना जाता है। खगोल विज्ञान, आयुर्वेद, रसायन विज्ञान, धातु विज्ञान और गणित जैसे विषयों का ज्ञान पीढ़ियों से अटूट परंपराओं के माध्यम से स्वदेशी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से किया जाता था। हालाँकि, 'विज्ञान शिक्षा, वैज्ञानिक ज्ञान के पश्चिमी अनुभवजन्य तरीकों में प्रशिक्षण के संदर्भ में, अंग्रेजों द्वारा भारत में पेश की गई थी। विज्ञान का परिचय और समझ, किसी भी चीज़ से अधिक, अपने साथ बौद्धिक मुक्ति, भौतिक लाभ और समाज के लिए सामाजिक विकास लाता है। हालाँकि, औपनिवेशिक स्वामी के लिए, भारत में विज्ञान की शिक्षा परोपकारी उद्देश्यों के लिए शुरू नहीं की गई थी। यह अपने साम्राज्य के हितों को आगे बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग करने के लिए प्रशिक्षित नौकर बनाने के लक्ष्य के लिए था।

प्रारंभ में, ब्रिटिश शिक्षा के लिए विज्ञान की शिक्षा एक प्राथमिकता थी। यूनाइटेड किंगडम की संसद द्वारा अधिनियमित 1813 के चार्टर अधिनियम ने 'ब्रिटिश भारत के निवासियों के बीच विज्ञान के ज्ञान के परिचय और प्रचार' का आह्वान किया, लेकिन यह आह्वान केवल कागजों पर ही रहा। यह राजा राम मोहन राय थे, जिन्होंने 1823 में एमहर्स्ट को एक याचिका में, 'गणित, रसायन विज्ञान, खगोल विज्ञान और अन्य उपयोगी विज्ञानों में प्रथम श्रेणी की विज्ञान शिक्षा के लिए पूछने की दूरदर्शिता थी, भले ही हमें बुनियादी विज्ञान पढ़ाने में पचास साल लग गए। अंग्रेज मुख्य रूप से भारत के संसाधनों का पूर्ण उपयोग करने में अधिक रुचि रखते थे और भूगोल, भूविज्ञान और वनस्पति विज्ञान के विषयों पर ध्यान केंद्रित करते थे। हालाँकि, अन्य क्षेत्रों में, जैसे कि भौतिकी, रसायन विज्ञान और कृषि, जिसमें वैज्ञानिक विकास अपरिहार्य नहीं था, उस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया गया।

વિજ્ઞાનનું વિલાયતી શિક્ષણ

यद्यपि कलकत्ता, बॉम्बे और मद्रास के विश्वविद्यालयों की स्थापना 1857 में हुई थी, लेकिन इन विश्वविद्यालयों द्वारा केवल 1870 के दशक से ही विज्ञान की डिग्री प्रदान की गई थी। 1870 तक, कलकत्ता में तीन संस्थानों, बंगाल के मेडिकल कॉलेज, प्रेसीडेंसी कॉलेज और सेंट जेवियर्स कॉलेज ने 'आधुनिक

विज्ञान के मूल सिद्धांतों' को पढ़ाया। 1875 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अपने बीए को दो शाखाओं में विभाजित किया - 'ए' कोर्स, यानी साहित्य, 'बी' कोर्स, यानी विज्ञान। मद्रास विश्वविद्यालय ने भूगोल और प्रारंभिक भौतिकी में अपने मैट्रिक के उम्मीदवारों की जांच करने का निर्णय लिया, और बॉम्बे विश्वविद्यालय ने विज्ञान में डिग्री प्रदान करना शुरू कर दिया। जाहिर है, यह विज्ञान शिक्षा के पारलौकिक लक्ष्यों का प्राथमिक उद्देश्य नहीं था जैसे कि आलोचनात्मक सोच, एक अभिनव भावना, या एक प्रश्नात्मक रवैया विकसित करना। 1900 तक विज्ञान शिक्षा पूरी तरह से पाठ्यपुस्तक आधारित थी और 1901 में पहली रसायन विज्ञान प्रयोगशाला स्थापित की गई थी। किसी भी विश्वविद्यालय में शोध अनिवार्य नहीं था। ब्रिटिश शैक्षिक मॉडल का अनुसरण करते हुए, ब्रिटेन में पश्चिमी-थीम वाले वैज्ञानिक दर्शन पर मुद्रित पुस्तकों के साथ अंग्रेजी में पढ़ाया जाता है, इस विज्ञान शिक्षा ने छात्रों को स्वदेशी संस्कृति से अलग कर दिया है और उन पर अपने ही राष्ट्र और इसकी सदियों पुरानी उत्पत्ति के प्रति हीनता की गहरी भावना का बोझ डाल दिया है। वास्तव में, कलकत्ता विश्वविद्यालय को स्थानीय रूप से 'गोल्डगीर-गोलमखाना' कहा जाता था जिसका अर्थ है 'झील के पास गुलाम का घर', जो इसके छात्रों की दास मानसिकता को दर्शाता है। जबकि औपनिवेशिक शासक केवल युवाओं को देश पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए एक सहायक के रूप में बदलने में रुचि रखते थे, भारतीय नेताओं ने पश्चिमी विज्ञान शिक्षा को आधुनिक और प्राचीन ज्ञान के बीच की खाई को पाटने और उन्हें एक ऐसे क्षेत्र में हराने के अवसर के रूप में देखा, जिसमें अंग्रेजों ने हमेशा श्रेष्ठता का दावा किया था।

PDF Page No. 45, Image No. 1
1945 में आईआईएससी में पहले महिला छात्रावास के बाहर छात्र। (बाएं से दाएं) राजेश्वरी चटर्जी, रोशन ईरानी, एम प्रेमाबाई, मरियम जॉर्ज और वायलेट डिसूजा

आधुनिक विज्ञान शिक्षा में प्रारंभिक भारतीय कदम

महेन्द्र लाल सिरकार उन अग्रदूतों में से एक थे, जो अंग्रेजों द्वारा विज्ञान के चतुराई भरे उपयोग को अपने शोषणकारी लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन के रूप में देख सकते थे और इसका मुकाबला करने के लिए उन्होंने 1876 में एक पूर्ण भारतीय के रूप में इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस (आईएसीएस) की स्थापना की। जिसे वित्त पोषण और प्रबंधन और एक निजी पहल में स्थापित किया गया था। प्रारंभ में विज्ञान और वैज्ञानिक विषयों को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से, उन्होंने धीरे-धीरे भौतिकी और रसायन विज्ञान में मौलिक शोध को शुरू किया। अब विज्ञान शिक्षा के लिए योग्य भारतीय शिक्षकों की भर्ती का समय आ गया था। हालाँकि, अंग्रेजों ने इस तरह की भर्ती को हतोत्साहित करने के लिए भारतीय शिक्षकों के खिलाफ भेदभावपूर्ण सेवा नियमों का इस्तेमाल किया। योग्य या अनुभवी भारतीय शिक्षक कितने भी कुशल क्यों न हों, उन्हें प्रांतीय सेवाओं में शामिल होना पड़ा, जहाँ उन्हें बहुत कम वेतन दिया जाता था और अपर्याप्त लाभ प्राप्त होते थे, जबकि उनके यूरोपीय समकक्षों को उच्च वेतन और शाही सेवा में बेहतर सुविधाएं प्राप्त होती थीं। 1885 और 1889 में, जे सी बोस और पी सी रे

क्रमशः प्रेसीडेंसी कॉलेज में फैकल्टी के रूप में शामिल हुए। यद्यपि वे एक महान शिक्षक थे और अपनी योग्यता और जुनून के आधार पर योग्य छात्रों की एक सेना बनाने में सक्षम थे, एक विज्ञान व्याख्याता के रूप में उनका करियर संतोषजनक नहीं था। अलग-अलग वित्तीय लाभ, भारी शिक्षण भार, और सरकार द्वारा विज्ञान अनुसंधान के लिए किसी भी वित्तीय या अन्य सहायता की कुल कमी ने भारतीय शिक्षकों के करियर को एक दैनिक संघर्ष बना दिया।

इस बीच, उपनगरों में विश्वविद्यालयों से संबद्ध निजी तौर पर संचालित शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए गए, जो छात्र राजनीतिक गतिविधियों और बढ़ते राष्ट्रवाद के केंद्र बन गए। लॉर्ड कर्जन द्वारा पारित 1904 के विश्वविद्यालय अधिनियम ने अंग्रेजों को संबद्ध विश्वविद्यालयों के अधिकारियों के माध्यम से इन कॉलेजों पर सख्त नियंत्रण बनाए रखने की अनुमति दी, जो 'दुनिया के एकमात्र सार्वजनिक विश्वविद्यालय' थे। विश्वविद्यालय के शिक्षकों को भुगतान करने और/या शिक्षण और अनुसंधान के लिए विश्वविद्यालय प्रयोगशालाओं के निर्माण के लिए कोई अतिरिक्त वित्तीय सहायता प्रदान नहीं की जाती है। यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश नियंत्रण में संस्थानों में न तो विज्ञान शिक्षा और न ही अनुसंधान फल-फूल सकता है। चूंकि विश्वविद्यालयों को स्थायी शिक्षकों के लिए संसाधन उत्पन्न करने के लिए अपने स्वयं के उपकरणों पर छोड़ दिया गया था, विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न विभागीय ढांचे बनाए गए थे।

पूर्ण भारतीय वित्त पोषण वाले संस्थानों की स्थापना और शाही नियंत्रण से मुक्त शिक्षा और अनुसंधान की स्वायत्तता के लिए भारतीय शिक्षकों की भर्ती का पता इस अवधि से लगाया जा सकता है और इस तरह भारतीय विज्ञान अनुसंधान और शिक्षा के लिए एक समर्थन प्रणाली बनाई जा सकती है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति आशुतोष मुखर्जी ने यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस की स्थापना के लिए भारतीय स्रोतों से धन जुटाया। यह विज्ञान में स्नातकोत्तर डिग्री प्रदान करने वाला भारत का पहला कॉलेज था। उन्होंने भौतिकी और रसायन विज्ञान में दो प्रोफेसरीय चेर की स्थापना की, जिन्हें पालित प्रोफेसरशिप कहा जाता है, जो भारतीय वैज्ञानिकों के लिए आरक्षित हैं, और उन्होंने सी वी रामन और पी सी रे नियुक्त इस पद पर किया।

PDF Page No. 46, Image No. 1
प्रमुख सुधारक राजा राम मोहन राय (1772-1833)

आशुतोष मुखर्जी की पहल की डोमिनो इफेक्ट

आशुतोष मुखर्जी की पहल की सफलता ने लाहौर, इलाहाबाद, मैसूर, बीएचयू, एएमयू, ढाका, वोल्टेयर, बड़ौदा आदि विश्वविद्यालयों में अनुसंधान और गुणवत्तापूर्ण स्नातकोत्तर विज्ञान शिक्षा को बढ़ावा दिया। 1904 में भारतीयों की वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा की उन्नति के लिए एक संघ का गठन किया गया था। इसका उद्देश्य योग्य छात्रों को विज्ञान आधारित उद्योगों का अध्ययन करने के लिए यूरोप, अमेरिका और जापान भेजना था। 1909 में, एक अन्य अखिल भारतीय संस्थान, भारतीय विज्ञान संस्थान (IISc),

सर जेएन टाटा और मैसूर के महाराजा से वित्तीय अनुदान के साथ स्थापित किया गया था। संस्थान ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण मौलिक और व्यावहारिक अनुसंधान किए हैं। एनी बेसेंट और पंडित मदन मोहन मालवीय ने 1916 में वाराणसी में भारत के पहले शोध विश्वविद्यालय की आधारशिला रखी थी।

यद्यपि सरकारी विश्वविद्यालयों के साथ-साथ निजी संस्थानों दोनों में शोध किया गया था, ये भारतीय संस्थान वैज्ञानिक अनुसंधान और सहयोग के मामले में बहुत उत्पादक बन गए। 1930 के दशक के मध्य में शोध प्रकाशन गतिविधियाँ फली-फूली। अधिकांश शोध गतिविधि रसायन विज्ञान और कृषि और जैविक विज्ञान के क्षेत्र में थी। इसे राष्ट्रीय गौरव का विषय मानते हुए, भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने शोध को भारतीय पत्रिकाओं में प्रकाशित करने का विकल्प चुना। 1934 से इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज द्वारा प्रकाशित प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज, प्रकाशन की सबसे पसंदीदा पत्रिका थी। भारतीय विज्ञान संस्थान (IISc), बैंगलोर ने अपनी स्थापना के 30 वर्षों के भीतर 600 से अधिक शोध पत्र प्रकाशित किए हैं। यह भी देखा गया है कि स्वतंत्रता पूर्व शोधकर्ताओं का लेखन सहयोग मुख्य रूप से ब्रिटिश वैज्ञानिकों के साथ छोटे सहयोग वाले भारतीय लेखकों तक सीमित था, इस प्रकार स्वदेशी संसाधनों के साथ अंतरराष्ट्रीय गुणवत्ता के स्वतंत्र अनुसंधान करने की उनकी क्षमता को दर्शाता है। उच्च शिक्षा संस्थानों में भारतीय विज्ञान शिक्षकों द्वारा सामना की जाने वाली दुर्गम कठिनाइयों के बावजूद, उन्होंने विज्ञान के विकास में बहुत योगदान दिया और अंत में, अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक समुदाय को खड़े होकर नोटिस लेना पड़ा। इस संदर्भ में जेसी बोस, पी सी रे और सी वी रामन का नाम अक्सर वैज्ञानिक शिक्षकों के रूप में सामने आता है।

इन भारतीय विज्ञान शिक्षकों ने भी आधुनिक विज्ञान पर एक 'भारतीय' दृष्टिकोण स्थापित करने की जिम्मेदारी महसूस की, जो देश में विज्ञान शिक्षा की भविष्य की दिशा निर्धारित करना था। जे सी बोस और पी सी रे आधुनिक विज्ञान के अभ्यास की नींव के रूप में भारत के प्राचीन ज्ञान को मजबूती से रखने के अपने मूल विचारों को आगे बढ़ाने में अग्रणी साबित हुए। वैज्ञानिक कठोरता, नैतिकता और लोगों के कल्याण के संदर्भ में विज्ञान की स्थिति ने छात्रों को भारतीय विज्ञान की एक मजबूत समझ दी और इस प्रकार ब्रिटिश विज्ञान मिशन के लिए केवल सहायक और सहायक तैयार करने के शाही एजेंडे का विरोध किया।

भारतीय विज्ञान शिक्षकों की पहली पीढ़ी के उत्कृष्ट गुणों में सत्येंद्र नाथ बोस, मेघनाद साहा, एस के मित्रा, एस के बेनर्जी, जे सी घोष, जे एन मुखर्जी और कई अन्य प्रतिभाशाली छात्रों ने बाद की पीढ़ियों को आगे बढ़ने में बहुत मदद की। देश भर में फैले नव निर्मित संस्थानों में अनुसंधान और शिक्षण संकाय के रूप में कुछ विश्वविद्यालय के टॉपर्स को शामिल करने से भारतीय विज्ञान शिक्षा में काफी वृद्धि हुई है। उनमें से कुछ ने नए संस्थानों की स्थापना की जो स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में इस दिशा में मजबूत स्तंभ साबित हुए।

स्वतंत्रता पूर्व भारत में विज्ञान शिक्षा की कहानी जितनी औपनिवेशिक उत्पीड़न, भेदभाव और शोषण की कहानी है, उतनी ही भारतीय शिक्षाविदों, शिक्षकों और वैज्ञानिकों के साहस और दृढ़ संकल्प की एक

प्रेरक कहानी है, जिन्होंने एक विश्व स्तरीय भारतीय की नींव रखी। विज्ञान की शिक्षा जो एक बार आधुनिक और भारतीय बन गई।

-लेखक सेंटर फॉर ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़ में एक फैकल्टी हैं। 2013 में, उन्हें वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, ओपन सोर्स ड्रग डिलीवरी और विज्ञान प्रसार द्वारा 'क्षय रोग के लिए नई दवाओं' पर सर्वश्रेष्ठ लघु फिल्म बनाने के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था।

राइनोप्लास्टी: नाक ऊँचा रखने का भारत का प्रमुख अधिकार

भारत में सदियों पहले और पश्चिमी विज्ञान के आने से पहले जटिल नाक के पुनर्निर्माण सर्जरी की गई थी।

डॉ वी रामनाथन

PDF Page No. 47, Image No. 1
एक वैध्य को अपने मरीज की नब्ज की जाँच करते हुए चित्रण

हमारे लिए हमारी गरिमा सर्वोपरि है और यह मानव अस्तित्व का एक अनिवार्य हिस्सा है। गरिमा अर्जित करना और हासिल करना एक अथक प्रयास है क्योंकि यह उतना ही आवश्यक है जितना कि अन्य बुनियादी अस्तित्व की जरूरत है। अगर कोई अपनी गरिमा को अपनी आस्तीन पर नहीं पहन सकता है, तो वे इसे अपनी नाक पर धारण करते हैं! यह उत्पन्न होने वाला लगाव मानवीय गरिमा का जागीरदार और मनो-सामाजिक पीड़ा का केंद्र रहा है। दुनिया भर की संस्कृतियों ने इस चमत्कारिक अंग के साथ इसी तरह की विशेषताओं को जोड़ा है जो न केवल जीवन को बनाए रखने के लिए शरीर में हवा खींचती है बल्कि अहंकार को भी बढ़ाती है। इसलिए, विकृति एक आरोप का एक तरीका है जिसे प्राचीन और मध्यकालीन समाजों के अनुमोदन का आनंद मिला जहां कलंक, विरोधाभासी रूप से, मृत्युदंड से अधिक था क्योंकि इस तरह से शारीरिक और मानसिक रूप से फटकार लगाई जाती थी और जीवन भर इस अपमान का अनुभव किया जाता था। रहते थे। एक द्वंद्व में हारने पर नाक खोना भी आम बात थी। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध डेनिश खगोलशास्त्री टाइको ब्राहे ने एक ऐसे द्वंद्वयुद्ध में अपनी नाक का हिस्सा खो दिया, जिसके बाद उन्होंने अपने पूरे जीवन के लिए एक सोने की नाक का टुकड़ा एक साथ चिपका दिया।

हमारे पास पूरे भूगोल में नाक से जुड़ी प्रसिद्ध कहानियां हैं - रामायण में सूर्पनखा से, जिसने अपनी भयावह कामुक भाव के चलते बदले में अपनी नाक विकृत कर दी थी, इतालवी काल्पनिक नायक, पिनोचियो, जिसकी नाक हर बार झूठ बोलने पर लंबी हो जाती थी। अर्थशास्त्र में वर्णित दंड के रूप में नाक के विच्छेदन के कई संकेत हैं। उदाहरण के लिए, हम निम्नलिखित पर आते हैं:

"*Stenapaardaarikayoh saachivyakarmani striyaah sangraheetaayaashcha karnanaasaacchedanam panchashato vaa dandah; pumso dvigunah*" (4.10.10)

("स्तेनापर्दारिक्योह शकबियाकर्मणी स्त्रिः समगारितायश्च कर्णसच्चेदानम पंचशतो वा दंडः पुम्सो द्विगुणः") (4.10.10)

अर्थ: एक पुरुष व्यभिचारी के साथ-साथ एक महिला जो स्वेच्छा से व्यभिचार के लिए आत्मसमर्पण करती है, उसके कान और नाक काट दिए जाएंगे या प्रत्येक को 500 पण का जुर्माना देना होगा, जबकि व्यभिचारी को उपरोक्त जुर्माना का दोगुना भुगतान करना होगा।

हाल ही में 2010 तक, प्रशंसित टाइम पत्रिका में एक युवा अफगान लड़की, बिबू आयशा को दिखाया गया था, जिसके नाक और कान काट दिए गए थे क्योंकि उसने अपने पति से बचने की कोशिश की थी। यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि कई भाषाओं ने नाक के साथ इस तरह के जुड़ाव को आंतरिक कर दिया है और इस प्रकार हमारे पास अंग्रेजी मुहावरे हैं जैसे 'अपनी नाक साफ रखें', 'नाक में पोक' आदि और इसी तरह हमारे पास 'नाक कट जाना' जैसे वाक्यांश 'उपयोग में है। जो हमारी भारतीय भाषाओं में दैनिक बातचीत में प्रयोग किया जाता है। जेसुइट फादर ग्यूसेप डी रोवाटो ने नेपाल के बारे में जो लिखा है, अगर हम सब उस पर विश्वास करते हैं, तो इसका मतलब है; उस देश के राष्ट्रवादियों के रोष के लिए, कीर्तिपुर को कथित तौर पर नस्कटपुर (जिसका अर्थ है 'काटी हुई नाक वाला शहर') नाम दिया गया था, अंततः क्रूर नेवार राजाओं को बाहर करने में सफल होने के बाद, कब्जा की गई आबादी को अपमानित करने के लिए सामूहिक नाक विकृति का एक महत्वपूर्ण साक्षय।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि गैंडोटॉमी या नाक का विच्छेदन आम था। नाक के विच्छेदन की मानवीय बर्बरता को राइनोप्लास्टी की मानवीय सरलता के साथ मिलना पड़ा और यह भारत था जो प्लास्टिक सर्जरी के अपने रचनात्मक कौशल के माध्यम से खोई हुई महिमा को बहाल करने के लिए आशा और वादे की एक नई किरण थी।

PDF Page No. 48, Image No. 1
प्राचीन सर्जन सुश्रुत द्वारा उपयोग किए जाने वाले शल्य चिकित्सा उपकरणों की एक श्रृंखला, जैसा कि विभिन्न ग्रंथों में उनकी मुख्य सुश्रुत संहिता की व्याख्या करते हुए दर्शाया गया है।

दुनिया भर में व्यापक रूप से यह माना जाता है कि भारत में राइनोप्लास्टी का पहला पूर्ण विवरण ऋषि सुश्रुत द्वारा सुश्रुत संहिता और वाग्भट्ट द्वारा अष्टांग हृदय जैसे चिकित्सा ग्रंथों में मिलता है। (नोट: यूरोप और अमेरिका (एस.सी. अलमस्त) के कई विद्वान हैं जिन्होंने अपने लेखों में लिखा है कि रामायण के पाठ में नाक के पुनर्निर्माण का पहला विवरण भी मिलता है, खासकर जब रावण अपनी बहन सूर्पनखा को दिलासा देता है और उसकी नाक को ठीक करने हेतु चिकित्सक को बुलाने का आदेश देता है। कुछ भारतीय लेखकों ने इस तथ्य को और अधिक दृढ़ता से उद्धृत करके प्रचारित किया है। लेकिन मुझे रामायण के पूरे पाठ में ऐसा कोई श्लोक नहीं मिला है जो नाक के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का सुझाव देता हो।) 'सूत्रस्थान' अध्याय में सुश्रुत संहिता में, ऋषि सुश्रुत इस प्रकार लिखते हैं:

विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बि तस्य ॥२७॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रतिसन्दधीत तत् साधुबन्धैर्भिषगप्रमत्तः ॥२८॥
सुसंहितं सम्यगतो यथावन्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बद्ध्वा।
प्रोन्नम्य चैनामवचूर्णयेत्तु पतङ्गयष्टीमधुकाञ्जनैश्च ॥२९॥
सञ्छाद्य सम्यक् पिचुना सितेन तैलेन सिञ्चेदसकृत्तिलानाम्।

घृतं च पाय्यः स नरः सुजीर्णे स्निग्धो विरेच्यः स यथोपदेशम् ||३०||
रूढं च सन्धानमुपागतं स्यात्तदर्धशेषं तु पुनर्निकृन्तेत् |
हीनां पुनर्वर्धयितुं यतेत समां च कुर्यादतिवृद्धमांसाम् ||३१||
संदर्भ: सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान श्लोक 27-31

राइनोप्लास्टी की प्रक्रिया उपरोक्त श्लोकों में वर्णित है जिससे निम्नलिखित प्रक्रिया का अनुमान लगाया जाता है:

> नाक के जिस हिस्से को ढकना है, उसे पहले पैन से नापा जाना चाहिए। लीज़ माप द्वारा मापी गई त्वचा के आवश्यक आकार को गाल से विच्छेदित किया जाना चाहिए और नाक को ढंकने के लिए पीछे की ओर मुड़ा होना चाहिए और गाल की त्वचा को पूरी तरह से अलग नहीं करना चाहिए। विच्छेदित फ्लैप रखने से पहले क्षतिग्रस्त नाक से रक्तस्राव को रोकने के लिए देखभाल की जानी चाहिए। दो ट्यूब डाली जानी चाहिए और पुरे हिस्सों की ठीक से पट्टी करनी चाहिए। इसे तिल के तेल के साथ पाउडर या लाल चंदन, मुलेठी आदि के साथ छिड़कना चाहिए। घी का उपयोग आंतरिक रोकथाम के साथ-साथ रोगी की चिकित्सीय शुद्धि के लिए भी किया जाता है।'

हमारे देश के कई ग्रंथों की तरह, सुश्रुत संहिता की तिथि भी विवादों में घिरी हुई है क्योंकि इसके पाठ के लिए 1000 से 600 ईसा पूर्व तक की एक विस्तृत श्रृंखला मौजूद है। दिलचस्प बात यह है कि यह प्रक्रिया एक सहस्राब्दी से अधिक समय से प्रचलित थी क्योंकि हमें वाग्भट्ट द्वारा अष्टांग हृदय में एक अधिक परिष्कृत और चरण-दर-चरण प्रक्रिया मिलती है, जिसे माना जाता है कि यह चौथी शताब्दी की है। 1000 से अधिक वर्षों के लिए शाब्दिक निरंतरता राइनोप्लास्टी की बढ़ती मांग के साथ-साथ देश में इसके सक्रिय अभ्यास को इंगित करती है।

PDF Page No. 49, Image No. 1 &2
बाएं: नाक के पुनर्निर्माण की 'इतालवी पद्धति' को दर्शाने वाली एक उत्कीर्णन
नीचे: इटली में राइनोप्लास्टी के जनक के रूप में जाने जाने वाले 16वीं सदी के सर्जन गैस्पर टैगलियाकोज़ी की एक मूर्ति, इटली के बोलोग्ना में एक अकादमिक भवन में नाक पकड़े हुए।

भारत से विशेषज्ञता का निर्यात

8 वीं शताब्दी के आसपास, कई भारतीय ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया गया था (सुश्रुत संहिता का अनुवाद किताब-ए-सूर के रूप में किया गया था) और लगभग उसी समय अरबों ने सिसिली, इटली पर आक्रमण किया। हालांकि इसका कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है, लेकिन इतिहासकारों द्वारा व्यापक रूप

से यह माना जाता है कि यह अरब ही थे जिन्होंने भारतीय ग्रंथों और विशेष रूप से सुश्रुत संहिता को इटालियंस से परिचित कराया। क्योंकि, 15वीं शताब्दी में, हम ब्रांका नाम के एक पिता-पुत्र की जोड़ी के बारे में देख सके हैं, जिसे विकृत नाक के पुनर्निर्माण में मास्टर सर्जन के रूप में जाना जाता है। उनकी कार्यप्रणाली ठीक उसी तरह मेल खाती है जैसे सुश्रुत संहिता और अष्टांग हृदय में विस्तृत है। हालांकि, जूनियर ब्रांका ने गाल से नहीं, बल्कि उस व्यक्ति के हाथ से त्वचा लेकर सर्जरी के तरीके को संशोधित किया, जिसके लिए नाक का काम किया जा रहा था। उन्हें इस क्षेत्र में अग्रणी माना जाता था, हालांकि उन्होंने कोई साहित्यिक साक्ष्य नहीं छोड़ा जिससे कोई उनके प्रशिक्षण या उनकी तकनीक के विवरण का अनुमान लगा सके। उन्होंने अत्यंत गोपनीयता के साथ अपनी प्रक्रिया की रक्षा की।

नाक को बहाल करने की प्रक्रिया तेजी से व्यापक हो गई, और 1502 में, एलेसेंड्रो बेनेडेटी ने चिकित्सा साहित्य में इस प्रक्रिया को दर्ज किया। उन्होंने राइनोप्लास्टी की 'ब्रांका पद्धति' से उपचारित रोगियों की सावधानीपूर्वक जांच की और नोट किया कि पुनर्निर्मित नाक गंभीर सर्दियों के दर्द को सहन नहीं कर सकी और कुछ मामलों में नाक पर बाहरी बाल भी उगने लगे। इस पद्धति का आगे अभ्यास किया गया और बोलोग्ना के एक अन्य इतालवी द्वारा गैस्पर टैगलियाकोज़ी नाम के एक अन्य इतालवी द्वारा सिद्ध किया गया, जिसे इटली में राइनोप्लास्टी के जनक के रूप में जाना जाता है। उन्होंने 1597 में प्रक्रिया का पूरा विवरण प्रकाशित किया और बाद में इसे राइनोप्लास्टी की इतालवी पद्धति के रूप में जाना जाने लगा। दिलचस्प बात यह है कि मरणोपरांत टैगलियाकोज़ी की भारी आलोचना की गई और चर्च ने भी उनके ग्रंथ के प्रसार को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

PDF Page No. 50, Image No. 1
लियोनार्डो फियोरावंती (दूर बाएं) जिनकी 1570 पुस्तक, इल टेसोरो डेला वीटा हुमाना (बाएं), नाक की मरम्मत के लिए वियान की प्रक्रिया का वर्णन करती है

भारत में वापस जाकर और 1700 के दशक में तेजी से आगे बढ़ते हुए, हम देखते हैं कि उपमहाद्वीप में टीपू सुल्तान और अंग्रेजों के बीच गंभीर राजनीतिक तनाव था। टीपू सुल्तान अंग्रेजों से बिल्कुल भी खुश नहीं था। उन्हें खत्म करने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। उनकी रणनीतियों में से एक अंग्रेजों को अनाज और प्रावधानों की आपूर्ति करने वाले काफिले पर छापा मारना था। सुल्तान ने छापे के बाद वापस लाए गए प्रत्येक नाक, कान या बैल के बदले इनाम की पेशकश की। उसे कम ही पता था कि इस तरह के कृत्य से परोक्ष रूप से राइनोप्लास्टी में रुचि जगेगी। लंदन में, 1794 में, जेंटलमैन्स मैगज़ीन में केवल "बी.एल." के साथ एक "लेटर टू ए एडिटर" छपा। इस पर हस्ताक्षर किए गए थे। यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कुली एक अंग्रेजी सर्जन लियोन लुकास का था, जिसने मद्रास में काम करते हुए कुल नाक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया सीखी थी। हालांकि इस पत्र की सामग्री सात महीने पहले बॉम्बे जर्नल में प्रकाशित हुई थी, लेकिन यह 1794 में प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण था जो नाक पुनर्निर्माण सर्जरी के पुनर्जागरण के लिए जिम्मेदार था। पत्र का प्रारंभिक भाग इस प्रकार है:

> "एक मित्र ने मुझे ईस्ट इंडीज से प्रेषित किया है, निम्नलिखित बहुत उत्सुक हैं, और, मुझे विश्वास है, यूरोप में प्रसिद्ध सर्जिकल ऑपरेशन, जिसका उपयोग लंबे समय से भारत में सफलता के साथ किया गया है; यानी आदमी के चेहरे पर नई नाक लगाना। प्रतिनिधि अभी बम्बई में है।
> कावासजी, देहाती जाति का एक महर्त्ता, 1792 के युद्ध में ब्रिटिश सेना के साथ एक बैल-चालक था, और टीपू ने उसे बंदी बना लिया था, जिसने उसकी नाक और एक हाथ काट दिया था। माननीय ईस्ट इंडिया कंपनी के पेंशनभोगी अब सेरिंगपट्टम के पास बॉम्बे आर्मी स्टेट में हैं। वह लगभग 12 महीने तक बिना नाक वाला रहा जब पूना के पास ईंट बनाने वाली जाति के एक व्यक्ति ने उसे एक नई नाक दी। यह ऑपरेशन अब भारत में आम है, और यहां लंबे समय से इसका अभ्यास किया जाता है। दो चिकित्सा सज्जनों, श्री थॉमस कारुसो और बॉम्बे प्रेसीडेंसी के श्री जेम्स ट्रिंडेली ने उन्हें निम्नलिखित कार्य करते देखा है:

और इसके बाद की राइनोप्लास्टी प्रक्रिया का वर्णन सुश्रुत संहिता में एक मामूली संशोधन के साथ किया गया है कि इस बार त्वचा को गाल से नहीं, बल्कि माथे से काटा गया था। निश्चित रूप से, भारतीय कई सहस्राब्दियों से प्रयोग कर रहे थे और इस प्रकार यह ठीक से तय करना संभव नहीं है कि इतिहास में माथे से गाल तक त्वचा के पक्ष में परिवर्तन कब हुआ।

भारतीय राइनोप्लास्टी में रुचि का पुनरुद्धार

एक छोटी सी ऐतिहासिक कहानी में एक दिलचस्प शुरुआत को इस मुद्दे पर फिर से बताने की जरूरत है। विनीशियन साहसी निकोलो मनुज़ी ने 17वीं शताब्दी में अपने जीवन के अंत में मुगल साम्राज्य के बारे में एक विस्तृत पांडुलिपि तैयार की। राइनोप्लास्टी का सटीक विवरण, क्योंकि यह उस समय के दौरान बहुत लोकप्रिय था, उनकी पांडुलिपि में मौजूद थे। यद्यपि यह पांडुलिपि 18वीं शताब्दी की शुरुआत में भारत से यूरोप लौट आई थी, लेकिन इसे प्रकाशित नहीं किया गया था। यह तब तक नहीं था जब तक कि अंग्रेज विलियम इरविन ने पांडुलिपियों का अनुवाद नहीं किया और 1907 में पहले चार खंडों को प्रकाशित किया, जिसमें नाक के पुनर्निर्माण की भारतीय पद्धति वाले खंड फिर से यूरोप में सामने आए। इस समय तक 1794 में जेंटलमैन्स मैगज़ीन में एक पत्र के कारन यह तकनीक व्यापक रूप से ज्ञात हो गई थी और उसके कई प्रयोग और उपयोग किये जा रहे थे।

PDF Page No. 51, Image No. 1
जोसेफ कार्पेव (1764-1840) संभवत: पहले यूरोपीय थे जिन्होंने कुल राइनोप्लास्टी की भारतीय पद्धति का अध्ययन किया।

जोसेफ कार्पेव (1764-1840), चेल्सी के यॉर्क अस्पताल में एक अंग्रेजी सर्जन, शायद इस लेख से प्रभावित थे और संभवतः, मध्य-माथे फ्लैप का उपयोग करके राइनोप्लास्टी की संशोधित 'भारतीय पद्धति' का अभ्यास करने वाले पहले यूरोपीय थे। उन्होंने इस तकनीक को यूरोपीय सर्जिकल मानदेय से परिचित कराया। 1816 में प्रकाशित उनके 'अकाउंट ऑफ टू सक्सेसफुल ऑपरेशंस फॉर रिस्टोरिंग द लॉस्ट नोज़' से निम्नलिखित उद्धरण और अंश ऐतिहासिक रुचि के हैं:
"बाद में वर्णित किए जाने वाले दो मामलों में से पहला करने पर, मुझे ऐसी व्यक्तिगत पूछताछ करने के लिए प्रेरित किया गया जो इस देश में भारतीय प्रणाली के संबंध में मेरी पहुंच के भीतर थी। भारत में कई वर्षों तक रहने वाले सीनियर चार्ल्स मैलेट को लिखने का सम्मान मैंने स्वयं किया है, जिन्होंने मुझे इस रिपोर्ट की पुष्टि की है कि यह भारत में एक सामान्य ऑपरेशन है जो बहुत लंबे समय से प्रचलित है; यह कहते हुए कि यह हमेशा कुम्हारों या ईंट बनाने वालों की एक जाति द्वारा किया जाता था, और हालांकि एक समान नहीं था, यह आम तौर पर सफल रहा था।"

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इसी समय के आसपास, 19वीं शताब्दी की शुरुआत में, रॉयल सोसाइटी ऑफ सर्जन्स का गठन किया गया था और पहली बार, अंग्रेजी सर्जनों ने भारतीय प्रक्रिया, राइनोप्लास्टी को बहुत गंभीरता से लिया था। 1818 में, जर्मन कार्ल वॉन ग्राफ ने बर्लिन में अपनी पुस्तक राइनोप्लास्टी प्रकाशित की। विभिन्न अध्यायों में, पुस्तक में कारप्यू का काम शामिल है। यह आम आदमी और चिकित्सा पेशेवरों दोनों के हितों को प्रभावित करता है। पूरे यूरोप और अमेरिका के सर्जनों ने भारतीय पद्धतियों का उपयोग करते हुए नाक के पूर्ण पुनर्निर्माण की ओर रुख किया। 19वीं शताब्दी की शुरुआत में सर्जिकल परीक्षणों की सबसे उल्लेखनीय समीक्षाओं में डेलपेक (1824), लेबुट (1834), ब्लेंडेन (1836), डाइफेनबैक (1829-1834), लिसन (1837), ज़ीउस (1838), वेलपेउ (1839)।), सर्व (1842), वॉन आइमैन और बॉमगार्टन (1842), और जौबर्ट (1849)। प्लास्टिक सर्जरी के इन अग्रदूतों ने राइनोप्लास्टी के लिए इस 'भारतीय पद्धति' को उन्नत किया। राइनोप्लास्टी का सक्रिय रूप से अभ्यास करने वाले अंतिम भारतीय, जैसा कि आयुर्वेदिक शास्त्रों में वर्णित है, जूनागढ़ के मुख्य चिकित्सा अधिकारी त्रिभुवनदास मोतीचंद शाह थे। उन्होंने 1889 में राइनोप्लास्टी नामक एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें कहा जाता है कि उन्होंने चार वर्षों में 100 मामलों का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया।
इस प्रकार, हम देखते हैं कि भारत में शुरू हुई नाक की बहाली की विनम्र शुरुआत दुनिया भर में दूर-दूर तक फैल गई है। इसने लेखकों को इस हद तक प्रेरित किया कि हैरी टर्टलडोव जैसे उपन्यासकार, जिन्होंने अपने काल्पनिक उपन्यास जस्टिनियन में उल्लेख किया है कि बीजान्टिन सम्राट जस्टिनियन ।। ने अपनी नाक के पुनर्निर्माण के लिए पूरे भारत की यात्रा की। जब लोकप्रिय साहित्य में वैज्ञानिक या तकनीकी कारनामों का उल्लेख किया जाता है, तो वे अमर हो जाते हैं। वास्तव में, राइनोप्लास्टी की भारतीय उत्पत्ति इतनी अमर है कि जब प्रसिद्ध विज्ञान पत्रिका ने फरवरी 2002 में बायोनिक मैन पर एक विशेष अंक प्रकाशित किया, जिसमें बायोनिक्स और संबंधित चिकित्सा के ऐतिहासिक हाइलाइट्स पर एक अध्याय था, तो उसे प्रोफेसर से निम्नलिखित टिप्पणी मिली। रिक नेल्सन इलिनोइस विश्वविद्यालय, शिकागो में सर्जरी विभाग से जुड़े थे, जिसे साइंस (अप्रैल 2002 वॉल्यूम 296 पी 656) पत्रिका में भी प्रकाशित किया गया था:

*लेखक रसायन विज्ञान विभाग, आईआईटी (बीएचयू) वाराणसी में एक सहायक प्रोफेसर हैं।

कैसे औपनिवेशिक नीतियों ने भारतीय चिकित्सा पद्धति को कमजोर किया

भारतीय चिकित्सा की सदियों पुरानी प्रणाली को ब्रिटिश राज द्वारा पूरी तरह से मिटा दिया गया था, और इसे 'घटीया' के टैग के साथ भी ब्रांडेड किया गया था जिससे स्थायी क्षति हुई थी।

डॉ. (चिकित्सक) प्रीति भोसले

सदियों से, भारतीय स्वदेशी चिकित्सा को इसकी उत्कृष्टता के लिए मान्यता दी गई है। इस तथ्य के बारे में कोई अन्य विचार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है कि औपनिवेशिक युग के दौरान भारतीय चिकित्सा पद्धति को एक झटका लगा।

ईस्ट इंडिया कंपनी, एक ब्रिटिश निजी संस्था, बंगाल और पड़ोसी क्षेत्रों पर अधिकार करने के बाद अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने की कगार पर थी। कंपनी से जुड़े ब्रिटिश अधिकारी भारतीय संस्कृति और परंपराओं को हीन मानने के आदी थे। इसी विचारधारा पर जेम्स मिल की द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया (1817) जैसी किताबों में स्पष्ट रूप से जोर दिया गया था।.

अंग्रेजों द्वारा "भारतीयों को शिक्षित करने के प्रयास" के पीछे का सच

ऐसी प्रतिकूल स्थिति में, ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहले कलकत्ता (1822) में नेटिव मेडिकल इंस्टीट्यूशन (एनएमआई) के रूप में पश्चिमी चिकित्सा प्रणाली की स्थापना की और फिर 13 साल बाद मेडिकल कॉलेज (बंगाल) के लिए रास्ता बनाने के लिए इसे समाप्त कर दिया। 1835)। एनएमआई की नींव के पीछे का कारण कंपनी की सेना के लिए योग्य चिकित्सा कर्मियों की उनकी आवश्यकता थी। हालांकि उनकी प्राथमिकता पश्चिमी चिकित्सा कर्मियों के प्रति थी, यह आर्थिक रूप से अव्यावहारिक था और इसलिए एनएमआई बनाया गया था। एनएमआई में ब्रिटिश शिक्षाविदों ने पश्चिमी चिकित्सा में उन्हें शिक्षित करने और भारतीय चिकित्सा प्रणाली (ISM) के प्रति एक हीन भावना पैदा करने के लिए छात्रों में गर्व की लहर पैदा की।

गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिक ने एक समिति की स्थापना की जिसने एनएमआई की कड़ी आलोचना की और एक नए संस्थान के साथ इसके प्रतिस्थापन की सिफारिश की जो यूरोपीय मेडिकल कॉलेजों की तरह अंग्रेजी में चिकित्सा का अध्ययन पढ़ाएगा। वर्ष 1835 एनएमआई के उन्मूलन और कलकत्ता मेडिकल कॉलेज (सीएमसी) के गठन का प्रतीक है। भारतीयों द्वारा पहला विच्छेदन अक्टूबर 1836 में एनएमआई के पूर्व आयुर्वेद शिक्षक मधुसूदन गुप्ता के नेतृत्व में हुआ था।

ब्रिटिश सरकार ने तब केवल 'पश्चिमी चिकित्सा' को मान्यता देना शुरू किया, जिससे कलकत्ता में एक सम्मेलन के दौरान अखिल भारतीय चिकित्सा संघ (1928) का गठन हुआ, जिसमें बड़े पैमाने पर सीएमसी

स्नातकों ने भाग लिया। बंगाल चिकित्सा सेवा को बंगाल में ब्रिटिश सर्जनों को नियुक्त करने के लिए औपचारिक रूप दिया गया था और मद्रास और बॉम्बे में 'बेहतर' चिकित्सा सेवाएं अस्तित्व में आईं। कंपनी के सैनिक ब्रिटिश सर्जनों से चिकित्सा उपचार प्राप्त करने वाले पहले भारतीय थे। भारतीयों को 17वीं शताब्दी से चिकित्सा सहायकों और अर्दली के रूप में भर्ती किया गया था। इसके बाद, अधीनस्थ चिकित्सा सेवा (एसएमएस) अस्तित्व में आई (1760) जो 1947 तक 'सर्वोच्च' चिकित्सा सेवा के साथ सह-अस्तित्व में थी। भारतीय सहायकों को 'देशी चिकित्सक' कहा जाता था।

PDF Page No. 53, Image No. 1
हाकिम और राजनेता खान बहादुर सर मोहम्मद उस्मान ने अपनी उस्मान समिति की रिपोर्ट में भारतीय चिकित्सा पद्धति के महत्व का समर्थन किया।

कलकत्ता (1792) में पहले अस्पताल के बाद, ब्रिटिश सर्जनों ने भारतीयों का इलाज शुरू किया। वैद्य और हाकिम पूरे भारत में पाए जाते थे लेकिन स्थानीय मूलनिवासी समुदायों में लोकप्रिय थे जिन्हें स्थानीय शासकों का संरक्षण प्राप्त था। चिकित्सकों द्वारा प्रशिक्षित छात्रों द्वारा आईएसएम का अभ्यास और शिक्षण जारी रखा गया था। ब्रिटिश सर्जनों ने कुछ प्रभावी भारतीय उपचारों की नकल की। दवा आयात को कम करने के लिए कंपनी ने भारतीय औषधीय पौधों पर वैज्ञानिक अनुसंधान शुरू किया। उन्होंने उपयोग/निर्यात के लिए देशी पौधों की खेती/अध्ययन करने के लिए एक वनस्पति उद्यान (1750) की स्थापना की। कुछ चिकित्सकीय प्रशिक्षित प्राच्यविदों ने आयुर्वेदिक और यूनानी ग्रंथों का अनुवाद किया। पश्चिमी चिकित्सा विज्ञान में प्रगति के परिणामस्वरूप आईएसएम में तेजी से गिरावट आई है। उर्दू को शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते हुए पश्चिमी और भारतीय चिकित्सा अवधारणाओं को पढ़ाने के लिए मूल चिकित्सा संस्थान (एनएमआई) (1822) और संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता (1824) की स्थापना की गई थी।

" हमारे अपने घर" में हमें ही "हीन" महसूस कराने की साजिश।

भारतीय विचारों और भारतीय औषधीय प्रथाओं की कठोर आलोचना ने लॉर्ड विलियम बेंटिक (भारत के गवर्नर जनरल, 1828-1835) को आईएसएम में व्यावहारिकता/तर्कसंगतता की कमी की आलोचना का समर्थन करने के लिए एक समिति बनाने के लिए प्रेरित किया, जिसके बाद कंपनी ने अपने कर्मचारियों को प्रशिक्षण देना शुरू किया। पश्चिमी चिकित्सा पद्धतियां भी। आईएसएम के लिए सभी समर्थन शुरू और बंद कर दिए। कलकत्ता संस्थान (1835) के बंद होने के साथ, पश्चिमी और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के बीच सह-अस्तित्व का युग समाप्त हो गया। संस्कृत कॉलेज में चिकित्सा शिक्षा बंद कर दी गई। कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना (1835) अंग्रेजी में चिकित्सा के पश्चिमी तरीकों को पढ़ाने के लिए की गई थी, साथ ही बॉम्बे और मद्रास के कॉलेजों को रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन द्वारा मान्यता

प्राप्त थी, जिसका जनरल मेडिकल काउंसिल (जीएमसी) के साथ पंजीकरण अनिवार्य था (1858)। 1855 के बाद, भारतीय चिकित्सा सेवा (आईएमएस) में डॉक्टरों की भर्ती के लिए लंदन में एक प्रतियोगी प्रवेश परीक्षा आयोजित की गई। 1886 के बाद आईएमएस में प्रवेश के लिए आवश्यक जीएमसी के साथ पंजीकरण मुश्किल हो गया।

भारत में अपने शासन को सही ठहराने के लिए अंग्रेज दवा सहित हर क्षेत्र में अपना वर्चस्व साबित करते रहे। भारतीय चिकित्सकों ने विज्ञापन देना शुरू कर दिया कि वे उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त करने के लिए पश्चिमी चिकित्सा का अभ्यास कर रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप आईएसएम की प्रतिष्ठा में गिरावट आई। कुछ चिकित्सकों ने आईएसएम को पूरी तरह से त्याग दिया और चिकित्सा की 'तर्कसंगत' पश्चिमी प्रणाली को अपनाया। कुछ ऐसे भी थे जो आधुनिक चिकित्सा के पूर्णतः विरोधी थे। उन्होंने स्वदेशी प्रणालियों का समर्थन किया और शुद्धतम रूपों में उनके अभ्यास की वकालत की। ऐसे साहसी लोगों में 'शुद्ध आयुर्वेद' के समर्थक और लखनऊ का अज़ीज़ी परिवार कुछ प्रमुख थे। 1830 के दशक से, लंदन मिशनरी सोसाइटी ने दक्षिण भारत में अपनी गतिविधियों के हिस्से के रूप में चिकित्सा कार्य करना शुरू किया। एलोपैथिक चिकित्सक अक्सर स्वदेशी चिकित्सकों को हीन मानते थे। भारतीय मूल ज्ञान को अवैज्ञानिक/तर्कहीन के रूप में संबोधित और प्रदर्शित किया गया था। आईएसएम के प्रति स्पष्ट भेदभाव और शत्रुता के कारण पश्चिमी चिकित्सा की सराहना की गई और आधिकारिक चिकित्सा का दर्जा दिया गया।

आईएसएम के रक्षकों का उदय

पश्चिमी चिकित्सा का प्रक्षेप ISM चिकित्सकों द्वारा नापसंद किया गया था और उन्होंने खुले तौर पर अपनी प्राचीन परंपराओं का बचाव किया था। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय ने एक पाठ्यक्रम (1920) विकसित किया जो आयुर्वेद और पश्चिमी चिकित्सा दोनों को पढ़ाता था। जर्नल ऑफ आयुर्वेद या द हिंदू सिस्टम ऑफ मेडिसिन (1928) ने तर्क दिया, 'भारत में चिकित्सा शिक्षा इतनी दृढ़ता से तैयार की जानी चाहिए कि इसमें न केवल वर्तमान चिकित्सा शिक्षा बल्कि अतीत के चिकित्सा ज्ञान को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए ... जबकि स्वयं आयुर्वेद प्राचीन और अभिन्न है। मूल के साथ आगे नहीं बढ़ सकता है और भारत में एलोपैथी को पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। जबकि हमें एलोपैथी से 'बीमारी की जड़' की विकृति को आत्मसात करना चाहिए, हमें आधुनिक चिकित्सा को 'मिट्टी की विकृति' देनी चाहिए। वर्तमान में दोनों विभाग और दिशाएं अलग-अलग हैं लेकिन दोनों को एक-दूसरे के साथ तालमेल बिठाना चाहिए।'' इससे भी बुरी बात यह है कि भारत में आईएसएम प्रैक्टिशनर्स को अभी भी 'निम्न' माना जाता है।

दिल्ली के शरीफी परिवार ने यूनानी-तिब्ब में आयुर्वेद और पश्चिमी चिकित्सा दोनों के पहलुओं को पेश किया। मदरसा-ए-तिब्बिया की स्थापना दिल्ली में शरीफी परिवार के हकीम अब्दुल मजीद ने की थी। इसके लिए उन्हें सरकार से कोई मदद नहीं मिली, लेकिन अमीर वर्गों के साथ-साथ अमीरों ने उन्हें

संरक्षण दिया। वैद्य गंगाधर राय (1789-1885) और गंगाप्रसाद सेन (1824-1896) ने 1835 के बाद आयुर्वेद के विकास पर छात्रों को प्रणाली में प्रशिक्षण देकर काम किया। वैद्य ने भारतीय दवाओं के निर्माण और बिक्री/निर्यात के लिए दवा कंपनियों की स्थापना की। भारत का फार्माकोपिया 1868 में प्रकाशित हुआ था। पश्चिमी चिकित्सक तेजी से एकल 'सक्रिय संघटक' के साथ योगों का उपयोग करते हैं, और संपूर्ण रूप से जड़ी-बूटी/खनिज के लिए ISM दर्शन की उपेक्षा करते हैं। पश्चिमी चिकित्सा में हकीमों और चिकित्सकों का औपचारिक प्रशिक्षण लाहौर के ओरिएंटल कॉलेज (1872) में शुरू हुआ। पश्चिमी चिकित्सकों की कड़ी आलोचना के बाद, कुछ वर्षों के भीतर इस तरह का प्रशिक्षण भी बंद हो गया।

सर जोसेफ भोरे की अध्यक्षता वाली समिति ने अपनी रिपोर्ट (1946) में 'आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा' शब्द गढ़ा, जिसका एकमात्र उद्देश्य आईएसएम को अवैज्ञानिक/पुराना कहना था। आईएसएम पर भोर समिति की राय का एक हिस्सा शब्दशः कहता है, 'इस सवाल पर विचार करते हुए कि देश में चिकित्सा राहत और सार्वजनिक स्वास्थ्य के किसी भी नियोजित संगठन में चिकित्सा उपचार की स्वदेशी प्रणालियों को किस स्थान पर कब्जा करना चाहिए, हमें कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। दुर्भाग्य से हम इन चिकित्सा उपचार प्रणालियों के वास्तविक मूल्य का आकलन करने की स्थिति में नहीं हैं जैसा कि आज प्रचलित है क्योंकि हम अपने निपटान में समय और अवसरों के साथ समस्या की ऐसी जांच करने में असमर्थ हैं, जैसा कि हम स्पष्ट और निश्चित कर सकते हैं। सिफारिशें। इसलिए, हम इस देश में संगठित राज्य चिकित्सा राहत में इन प्रणालियों के स्थान के संबंध में किसी भी चर्चा में प्रवेश करने का प्रस्ताव नहीं करते हैं। हालांकि, हमें पूरा यकीन है कि स्वास्थ्य सुरक्षा के कुछ पहलू हैं, जो हमारी राय में, पूरी तरह से या किसी भी दर पर केवल वैज्ञानिक पद्धति (आधुनिक चिकित्सा) द्वारा ही काफी हद तक सुरक्षित किए जा सकते हैं। इस प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्य या निवारक दवा, जो चिकित्सा प्रतिष्ठान के भविष्य में एक अनिवार्य भूमिका निभाती है, चिकित्सा उपचार की स्वदेशी प्रणाली के दायरे में नहीं है क्योंकि वे वर्तमान में इसे प्राप्त करते हैं। यह किसी भी तरह से इन प्रणालियों पर प्रतिबिंबित नहीं होता है।' हमें लगता है कि हमें अपने प्रस्ताव को चिकित्सा प्रणाली (आधुनिक चिकित्सा) के राष्ट्रव्यापी विस्तार तक सीमित करने के लिए किसी औचित्य की आवश्यकता नहीं है, जिसे हमारे विचार में पूरी दुनिया से संबंधित वैज्ञानिक ज्ञान और अभ्यास के रूप में नहीं माना जाना चाहिए, न तो पूर्वी और न ही पश्चिमी। भोर समिति ने आईएसएम की मान्यता रद्द करने की भी वकालत की।

आयुर्वेद की पहली औपचारिक मान्यता बॉम्बे मेडिकल प्रैक्टिशनर्स एक्ट 1938 द्वारा प्रांतीय सरकार द्वारा आईएसएम के चिकित्सकों के पहले अलग रजिस्टर की स्थापना के माध्यम से दी गई थी। मद्रास स्वदेशी (उस्मान) समिति (1923) आईएसएम को बढ़ावा देने और विनियमित करने के लिए स्थापित पहली समिति थी। खान बहादुर सर मोहम्मद उस्मान (1884-1960) एक भारतीय राजनीतिज्ञ और हकीम थे जिन्होंने मद्रास के पहले भारतीय कार्यवाहक राज्यपाल (मई 1934 - अगस्त 1934), सर जोसेफ भोर के रूप में भी कार्य किया। उस्मान समिति ने अपनी रिपोर्ट में आयुर्वेद के महत्व को बरकरार रखा। सर जोसेफ भोरे (स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास समिति, 1946 के अध्यक्ष) ने उस्मान समिति की रिपोर्ट

पर कभी ध्यान नहीं दिया। ऐसा लगता है कि भोर उस्मान रिपोर्ट से अनजान थे। आईएसएम की अनदेखी के एकमात्र उद्देश्य के लिए उस्मान रिपोर्ट को नजरअंदाज कर दिया गया था। शर्म की बात है कि आजादी के बाद बनी समितियों के सदस्य रहे भारतीय नागरिकों ने भी इसका अनुसरण किया। फर्क सिर्फ इतना था कि उनमें आईएसएम को नजरअंदाज करने की हिम्मत नहीं थी। स्वास्थ्य मंत्रियों की पहली परिषद (1946) ने आईएसएम में प्रशिक्षण और अनुसंधान के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। इसके बाद, मुदलियार (1959), बजाज (1983), आदि जैसी समितियाँ अस्तित्व में आईं, जिन्होंने सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में आयुर्वेद को शामिल करने की वकालत की और इसके समावेश और पुनर्प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

* * *लेखक न्यूरोलॉजी विभाग और एनएमआर, एम्स, नई दिल्ली में सीनियर रिसर्च फेलो हैं।

एमएसीएस: धैर्य, समर्पण और व्यक्तिगत बलिदान की कहानी

भारतीयों में शोध के जुनून से प्रेरित कई प्रतिभाशाली वैज्ञानिक प्रो. एस.पी. अगरकर के नेतृत्व में इस स्थायी निकाय का निर्माण करने के लिए एक साथ आए।

डॉ किशोर एम पाकनिकर

पुणे (तब पूना के रूप में जाना जाता है) अपने महान प्रतीक समाना बाल गंगाधर तिलक के तहत राष्ट्रवाद के मुख्य केंद्रों में से एक के रूप में उभरा। अपने सामाजिक सुधारों और राजनीतिक आंदोलनों के अलावा, बाल गंगाधर तिलक और शिक्षाविद्-विचारक गोपाल गणेश आगरकर ने पुणे में कई शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना की, जैसे कि 1885 में डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी और फर्ग्यूसन कॉलेज, 1857 में भारत में पहला विश्वविद्यालय शुरू होने के तुरंत बाद। इस विश्वविद्यालय में शिक्षा तीन प्रकार की थी: (i) नींव को व्यापक बनाना और लोगों के बीच उदार शिक्षा का प्रसार करना (ii) वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार करना और (iii) देश के युवा स्नातकों को विज्ञान और बुनियादी प्रौद्योगिकी में तकनीकी कार्य के लिए तैयार करना। देश का विकास और प्रगति। हालाँकि, हालाँकि ये प्रारंभिक विश्वविद्यालय जनता को शिक्षित करने और ज्ञान के प्रसार में सफल रहे, लेकिन उन्होंने पहले 75 वर्षों के दौरान, विशेष रूप से विज्ञान में, नए ज्ञान के सृजन में बहुत कम योगदान दिया।

अपने कई शैक्षणिक संस्थानों और कॉलेजों के साथ, पुणे ने मानविकी में विशेष रूप से भाषा विज्ञान, गणित, संस्कृत, पुरातत्व और इतिहास में महत्वपूर्ण प्रगति की है। हालांकि, उत्कृष्ट संस्थानों और बंबई जैसे महान विनिर्माण केंद्रों के बावजूद, वैज्ञानिक अनुसंधान की भावना को बढ़ावा देने के लिए बहुत कम या कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया था। कुछ प्रयास केवल व्यक्तिगत स्तर पर किए गए थे और असंयमित भी थे। इसलिए, स्वतंत्रता पूर्व अवधि के दौरान वैज्ञानिक और तकनीकी अनुसंधान को अधिक संगठित तरीके से करने की आवश्यकता महसूस की गई।

प्रो एस पी अघरकर के लिए समस्या बहुत स्पष्ट हो गई, जो 1944 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के घोष प्रोफेसर के रूप में सेवानिवृत्त हुए और बाद में पुणे को अपना नया घर बना लिया। वे पुणे में डॉ एम् आर जयकर, डॉ डी आर गाडगिल और अन्य शिक्षाविदों से मिले जो अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिए विज्ञान शिक्षा को आधुनिक बनाने की कोशिश कर रहे थे।

PDF Page No. 56, Image No. 1
अगरकर अनुसंधान संस्थान, पुणे के पुराने दस्तावेजों से ली गई तस्वीरें

इस समय तक, पूना में एक नया विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए कदम उठाए गए थे। लेकिन पूना विश्वविद्यालय के गठन तक इंतजार न करना और विज्ञान संस्थान शुरू करने की संभावनाओं का पता लगाना एक बेहतर विकल्प माना गया। इस मामले में इंडियन लॉ सोसायटी ने मोर्चा संभाला। 17 अक्टूबर 1944 को डॉ एम आर जयकर की अध्यक्षता लॉ कॉलेज पूना के प्राचार्य जे आर खरपुरे की पहल पर एक बैठक आयोजित की गई, जिसमें पुणे के प्रख्यात शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, कृषकों और उद्योगपतियों ने भाग लिया और उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान को बढ़ावा देने में रुचि रखते थे। इसने शुद्ध और अनुप्रयुक्त विज्ञान के लिए ऐसे शोध संस्थानों के आयोजन के लिए एक केंद्र विकसित करने के कदमों पर विचार किया। बैठक के अध्यक्ष के रूप में डॉ. जयकर और आचार्य जे आर खारपुरे, एन सी केलकर, डॉ. आर.एच. भंडारकर और महामहोपाध्याय डी.वी. पोतदार सहित एक समिति को इसके सदस्यों के रूप में नियुक्त किया गया था। प्रो. एसपी अघरकर, प्रो. एस एल अजरेकर, प्रो. पी आर अवती, डॉ. पी जे देवरस, प्रो. डी एल दीक्षित, डॉ. के सी खारपुरे, डॉ. के वी जोशी, डॉ. एन वी कानितकर, डॉ. डाटाबेस लिमये, प्रो. जी आर परांजपे, प्रो. एच पी परजनपाये, प्रो. जी बी पटवर्धन, डॉ. डी एल सहस्रबुद्धे और प्रो. एन वी समिति के मानद सचिव के रूप में मनोनीत जोशी को समिति में शामिल करने के लिए विस्तार किया गया था।

1945-46 के दौरान समिति की कई बार बैठक हुई। उनके विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप, इंडियन लॉ सोसाइटी के तत्वावधान में एक विज्ञान संस्थान शुरू करने का निर्णय लिया गया, जिसने इस विषय पर विशेष जोर देने के साथ लॉ कॉलेज भवन के तहखाने में दो बड़े किराए मुक्त हॉल प्रदान किए। ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकता। यह भी सहमति हुई कि परियोजना में रुचि रखने वाले व्यक्तियों का एक संघ संस्थान का प्रबंधन करेगा। इस प्रकार महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस (एमएसीएस) 5 अक्टूबर 1946 को निम्नलिखित उद्देश्यों और उद्देश्यों के साथ अस्तित्व में आया: -

(ए) राष्ट्रीय कल्याण की समस्याओं के व्यावहारिक अनुप्रयोग सहित विज्ञान को बढ़ावा देना; (बी) वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए किसी संस्थान या संस्थानों का रखरखाव; (सी) विज्ञान पुस्तकालय की स्थापना; (डी) व्याख्यान, प्रकाशन, प्रस्तुतियों, प्रदर्शनियों आदि के माध्यम से शुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान के ज्ञान का प्रसार करना,

इस संगठन का संविधान 1 अक्टूबर 1946 को चैरिटेबल सोसाइटीज एक्ट के तहत विधिवत रूप से तैयार और पंजीकृत किया गया था। प्रारंभ में, निजी दान और सदस्यता से एक छोटा सा फंड प्रदान किया गया था। हालाँकि, वे स्वतंत्रता-पूर्व के दिन थे, और सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करना आसान नहीं था। इसलिए, वैज्ञानिकों के एक समूह ने वित्तीय नियोजन करने का निर्णय लिया, बिना किसी पारिश्रमिक के विशुद्ध रूप से मानद क्षमता में काम करने की पेशकश की।

रो इस पी अघरकर को 1946 में सर्वसम्मति से एमएसीएस के संस्थापक निदेशक के रूप में चुना गया था। पूरी पहल के पीछे वे सबसे प्रेरक गतिशील व्यक्तित्व वाले प्रेरित व्यक्ति थे। पूना में एक शोध संस्थान

शुरू करने का विचार उनके मन में काफी समय से था। उन्होंने कलकत्ता और अन्य जगहों पर कई वैज्ञानिक समाजों और संस्थानों के निर्माता और मुख्य आयोजक के रूप में भूमिका निभाई थी। उन्होंने देश भर में वैज्ञानिक संस्थान चलाने का काफी अनुभव प्राप्त किया। वे कई वर्षों तक भारतीय विज्ञान कांग्रेस संघ के सचिव रहे और 10 वर्षों से अधिक समय तक राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान, जो अब भारतीय विज्ञान अकादमी है, के सचिव भी रहे।

प्रोफेसर अघरकर ने पूना में वरिष्ठ वैज्ञानिकों के एक छोटे समूह को इकट्ठा किया जो बिना किसी पारिश्रमिक के इस नए उद्यम में काम करने के इच्छुक थे। इस समूह में प्रोफेसर एन. वी जोशी, जिन्होंने सूक्ष्म जीव विज्ञान और जैव रसायन में अनुसंधान के लिए एक केंद्र बनाया, प्रोफेसर एस. एल अजरेकर, जिन्होंने माइकोलॉजी और प्लांट पैथोलॉजी विभाग का आयोजन किया और प्रोफेसर पी जे देवर जैसे महान विद्वान जिन्होंने प्राणीशास्त्र में जांच शुरू की, उनमें भी शामिल थे। प्रोफेसर अघरकर स्वयं वनस्पति विज्ञान और मृदा-विज्ञान विभागों के प्रभारी थे। इन सभी मानद कार्यकर्ताओं ने अपने-अपने विषयों में विभागों को स्थापित करने और व्यवस्थित करने और उन्हें सबसे किफायती तरीके से चलाने के लिए कड़ी मेहनत और जोर से प्रयास किया। प्रो एस पी अघरकर, प्रो. जे जे असाना, डॉ. वी एन लिखेटे और अन्य ने पुस्तकों, पत्रिकाओं और पत्रिकाओं के अपने मूल्यवान व्यक्तिगत संग्रह, वर्तमान और आगामी दस्तावेजों की राशि को दान किए। इसमें 1.5 लाख से अधिक मूल्य के महत्वपूर्ण संदर्भ कार्य शामिल हैं। इन योगदानों ने संस्थान के पुस्तकालय के लिए केंद्र के रूप में कार्य किया। प्रो एम एन कामत, डॉ. एन नारायण और डॉ. जी बी देवीकर जैसे वरिष्ठ वैज्ञानिकों ने बदले में अन्य वैज्ञानिकों और अपने से कम उम्र के होनहार शोधकर्मियों को शोध संस्थानों में काम करने के लिए राजी किया। उन्होंने कई युवा शोधकर्मियों और छात्रों को अपनी शोध समस्याओं को मामूली सुविधाओं के साथ उठाने के लिए आकर्षित किया।

यह एमएसीएस के लिए एक कठिन समय था। चूंकि संस्थान के वित्त में सुधार नहीं हो रहा था, सभी प्रोफेसरों और शोध गाइडों को पूरी तरह से मानद क्षमता में काम करना पड़ा। वहीं, इसके संस्थापक निदेशक प्रो. आगरकर की तबीयत बिगड़ गई और 2 सितंबर 1960 को उनका निधन हो गया। एमएसीएस का अस्तित्व अब अनिश्चित था। हालांकि, इसकी कार्यकारी समिति के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. सर रघुनाथ परांजपे के मार्गदर्शन से संघ मजबूत हुआ और संगठन ने अपना कार्य जारी रखा। 17 अगस्त 1960 को डॉ. जी बी देवदीकर को प्रोफेसर अघरकर के बाद निदेशक के रूप में चुना गया था। संस्थान के वरिष्ठ प्राध्यापकों प्रो. एन नारायण और प्रो. एम एन कामत ने सहयोग किया। उन्होंने अपने निस्वार्थ प्रयासों से एमएसीएस द्वारा काम की निरंतरता सुनिश्चित की।

इस बीच, इंडियन लॉ सोसाइटी की अपनी समस्याएं थीं और लॉ कॉलेज की इमारत में एक बेसमेंट हॉल के उपयोग को छोड़ने का जोखिम नहीं उठा सकता था, जहां अनुसंधान संस्थान के कार्यालय, पुस्तकालय और प्रयोगशालाएं स्थित थीं। लॉ कॉलेज के बेसमेंट से एमएसीएस कार्यालय और पुस्तकालय को स्थानांतरित करना अनिवार्य हो गया। सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी और गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ

पॉलिटिक्स एंड इकोनॉमिक्स अनुसंधान संस्थान के बचाव में आए। गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एंड इकोनॉमिक्स के संस्थापक और निदेशक प्रो. डॉ गाडगिल ने नवनिर्मित पुस्तकालय भवन की तीसरी मंजिल पर अपने संस्थान के विशाल हॉल में अनुसंधान संस्थान को किराया मुक्त आवास प्रदान किया।

PDF Page No. 57, Image No. 1 & 2
ऊपर: एमएसीएस के संस्थापक निदेशक शंकर पुरुषोत्तम अघरकर

बाएं: 1873 में पुणे के डेक्कन कॉलेज में अपने बीए सहयोगियों के साथ इस तस्वीर में लोकमान्य तिलक (बाएं से चौथी, अंतिम पंक्ति)।

अन्य शोध संस्थानों द्वारा उदारतापूर्वक प्रदान किए गए अस्थायी आवास में, एमएसीएस के लिए अनिश्चित काल तक काम करना जारी रखना असंभव होता जा रहा था। इसके अलावा, एमएसीएस की अनुसंधान गतिविधियों में काफी वृद्धि हुई थी, और एक उपयुक्त भवन की आवश्यकता महसूस की गई थी। इस उद्देश्य के लिए, एमएसीएस की कार्यकारी समिति ने मदद के लिए महाराष्ट्र सरकार से संपर्क किया, क्योंकि यह अब काम नहीं कर सकती क्योंकि एमएसीएस शुरू हो गया था। इस महत्वपूर्ण समय में, महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री वाई.बी. चव्हाण और तत्कालीन शिक्षा मंत्री शांतिलाल शाह, जिन्होंने एमएसीएस के काम और इसके सामने आने वाली समस्याओं की बहुत सराहना की, उनकी मदद के लिए आगे आए। नतीजतन, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, लॉ कॉलेज, कॉमर्स कॉलेज और गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ़ पॉलिटिक्स एन्ड इकोनॉमिक्स जैसे शैक्षणिक और शैक्षणिक संस्थानों के बीच, महाराष्ट्र सरकार ने लॉ कॉलेज रोड पर लगभग पांच एकड़ भूमि का एमएसीएस को मुफ्त में अधिग्रहण किया, जिसे अब जी जी अगरकर रोड के रूप में जाना जाता है।

महाराष्ट्र सरकार के इस उदार अनुदान ने एमएसीएस को सही समय पर खड़े होने की जगह दी। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से भी फंड की अपील की गई थी। तत्कालीन केंद्रीय शिक्षा मंत्री प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने इसका जवाब दिया और दो वरिष्ठ सचिवों को नियुक्त किया, एम यू राजाराम और एच. के एल चड्ढा को नियुक्त किया गया। एमएसीएस रिसर्च इंस्टीट्यूट में पूरी तरह से मानद क्षमता में काम कर रहे वैज्ञानिकों द्वारा किए गए कार्यों से वह काफी प्रभावित हुए। उन्होंने एमएसीएस अनुसंधान संस्थान की तत्काल जरूरतों को पूरा करने के लिए उपयुक्त सिफारिशें कीं। इसके अनुसरण में, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार ने इसे रु. छह लाख का तदर्थ अनुदान प्रदान किया गया। तदनुसार, महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रदान की गई भूमि के एक टुकड़े पर एक भवन निर्माण के लिए एक परियोजना शुरू की गई और काम जल्द ही पूरा हो गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (डीएसटी) की स्थापना के बाद, भारत सरकार ने एमएसीएस को स्वायत्त अनुसंधान संस्थानों की स्थायी सूची में रखा।

PDF Page No. 58, Image No. 1 & 2
बाएं और ऊपर: पुणे में अघरकर अनुसंधान संस्थान परिसर

एमएसीएस प्रो. अघरकर की पत्नी के समर्पण के लिए भी बहुत ऋणी है, जिन्होंने उनकी वैज्ञानिक और सामाजिक गतिविधियों में उनका पूरा साथ दिया। उनकी इच्छा से प्रो. अघरकर ने उसके भरण-पोषण का प्रबंध किया। श्रीमती अघरकर ने इस प्रावधान का बहुत ही मितव्ययिता से उपयोग किया और अपनी बचत को भी अलग रखा। इन बचतों को उसके आभूषणों को बेचकर अर्जित की गई नकदी से बढ़ाया गया था। उन्होंने इस प्रकार एकत्र की गई पूरी राशि एमएसीएस को दान कर दी, जो इस महान महिला की भक्ति, साहस और बलिदान के लिए बहुत कुछ कहती है, जिन्होंने खुद को पूरी तरह से प्रो अघरकर के सपने के साथ जोड़ दिया और समर्पण और बलिदान के साथ पूरा सहयोग किया। 11 अप्रैल 1981 को उन्होंने अंतिम सांस ली।

1992 में एमएसीएस अनुसंधान संस्थान का नाम इसके संस्थापक निदेशक प्रो. एस पी अघरकर की याद में इसका नाम बदलकर अघरकर अनुसंधान संस्थान कर दिया गया। अपनी स्थापना के 75 साल बाद, आज यह भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के प्रमुख स्वायत्त अनुसंधान संस्थानों में से एक है। यह एमएसीएस की समग्र छत्रछाया के तहत कार्य करता है। संस्थान की वर्तमान अनुसंधान गतिविधियाँ छह विषयगत क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित करती हैं, अर्थात् जैव ऊर्जा, जैव विविधता, जैव पूर्वेक्षण, विकासात्मक जीव विज्ञान, आनुवंशिकी और पादप प्रजनन (जिनेटिक्सा और प्लांट ब्रीडिंग) और नैनोबायोसाइंस।

एमएसीएस की शासी निकाय अत्यधिक समर्पण, उद्देश्य की भावना और बिना पारिश्रमिक के समाज की सेवा करके प्रोफेसर अघरकर और इसके संस्थापक सदस्यों की सिनचेल विरासत को जारी रखे हुए है। फिर भी, आज यह देश में समान संस्थानों के बीच खड़ा है और संचालित होता है।

*लेखक अघरकर चेयर एमएसीएस, अघरकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे में पूर्व निदेशक और प्रोफेसर हैं और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान बॉम्बे में विजिटिंग प्रोफेसर हैं।

मैट्रोलोजी
भारत की मेट्रोलॉजिकल ताकत पर स्पॉटलाइट लाना

सिंधु घाटी सभ्यता की एकसमान ईंटों से लेकर बाद के युगों की विशाल स्थापत्य संरचनाओं तक, भारत के माप के वैज्ञानिक मानकों के पालन के पर्याप्त प्रमाण हैं, जिन पर देश को वर्तमान शताब्दी में भी प्रगति करनी चाहिए।

PDF Page No. 59, Image No. 1
श्री मीनाक्षी सुंदरेश्वर मंदिर, मदुरै, तमिलनाडु, 12वीं शताब्दी का एक वास्तुशिल्प विस्मय है।

एक व्यक्ति बाजार में सामान खरीदने जाता है, उसे 1 किलो चीनी या 2 किलो आम, 4 मीटर कपड़े आदि चाहिए। लेकिन 1 किलो या 1 मीटर क्या है? आप इस राशि को 1 wm या 1 kg के रूप में कैसे परिभाषित करेंगे? आप यह कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं कि आपको केवल वही मात्रा मिले जो आप माँगते हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर मेट्रोलॉजी का उपयोग करके दिया जाता है।

सरल शब्दों में मेट्रोलॉजी का अर्थ है मापन का विज्ञान। माप का विज्ञान किसी भी आर्थिक और तकनीकी रूप से विकसित राष्ट्र की रीढ़ है क्योंकि यह किसी भी मात्रा के माप की सटीकता और सटीकता को परिभाषित करता है। यह उत्पादों के मानक स्थापित करने के लिए कानून और प्रवर्तन तंत्र स्थापित करने में मदद करता है और इस प्रकार उद्योगों में दैनिक जीवन में उपयोग किए जाने वाले उत्पादों की गुणवत्ता सुनिश्चित करता है। इसलिए मेट्रोलॉजी आधुनिक विज्ञान, व्यापार और प्रौद्योगिकी का आधार है और फलस्वरूप यह आधुनिक दुनिया की बुनियादी जरूरत भी है। लेकिन इस माप का विज्ञान क्या है? पूर्व में इसकी स्थिति क्या थी? भारत में इसका विकास कैसे हुआ? आज की दुनिया में हम कहाँ खड़े हैं? हम इस लेख में इन सवालों के जवाब खोजने की कोशिश करेंगे।

भारत में मेट्रोलॉजी का एक संक्षिप्त इतिहास
आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओईसीडी) द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक, द वर्ल्ड इकोनॉमी: ए मिलेनियल पर्सपेक्टिव में, प्रोफेसर एंगस मैडिसन का वर्णन है कि 1500 ईस्वी से पहले, भारत की जीडीपी विश्व अर्थव्यवस्था का लगभग दो-तिहाई थी, जो देश की समृद्धि का संकेत देती थी। . उस समय। यह एक स्पष्ट संकेतक है कि भारत का मापन विज्ञान और प्रौद्योगिकी उस अवधि से बहुत आगे और उससे आगे था।

PDF Page No. 60, Image no. 1

लोथल, गुजरात में एक जल निकासी प्रणाली के पुरातात्विक अवशेष

प्राचीन भारत में मेट्रोलॉजी अच्छी तरह से विकसित थी जो देश और विदेश में बिखरे हुए ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण अवशेषों से स्पष्ट है। यदि हम सिंधु घाटी सभ्यता (4000 ईसा पूर्व - 1500 ईसा पूर्व) को देखें, जो 1500 किमी x 1500 किमी के क्षेत्र में फैली हुई है और उत्तर-पश्चिम भारत और वर्तमान पाकिस्तान को कवर करती है, तो वजन और माप की एक अविश्वसनीय खगोलीय प्रणाली थी। पूरे क्षेत्र में, निर्माण की हुई ईमारत की ईंटें 4:2:1 की लंबाई, चौड़ाई और गहराई के अनुपात में समान आकार की थीं; इसके बाद पौराणिक मापक यंत्र भी मिले हैं। यह अनुपात निर्माण तकनीक में इंग्लिश बॉन्ड सिस्टम कहलाता है। यह दर्शाता है कि उनके पास एक उचित और मानकीकृत माप प्रणाली थी। शायद, भारत दुनिया का पहला देश था जिसने आधिकारिक तौर पर बाट और माप की प्रणाली को लागू किया था। सिंधु घाटी सभ्यता के नगर नियोजन, जल निकासी व्यवस्था, जल आपूर्ति, भवन डिजाइन आदि इसके साक्षी हैं।

अब मौर्य साम्राज्य (322 ईसा पूर्व - 298 ईसा पूर्व) की ओर बढ़ते हुए, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दी गई लंबाई की सबसे छोटी इकाई को एक परमानु माना जाता था। आठ (8) परमाणु मिलकर 1 कण बनाते हैं जो मूल रूप से एक धूल कण है। इसका मानकीकरण करने के लिए रथ के पहियों से एक कण (धूल का कण) को नापने के उद्देश्य से लिया गया था। यह कण सबसे छोटा दिखाई देने वाला भौतिक पैमाना था क्योंकि इसे आंखों द्वारा प्रकाश के प्रकीर्णन के कारण हवा में बिखरे धूल के कण के रूप में देखा जा सकता था। लंबाई की इकाइयों को परमाणु से मुट्ठी तक 8 के गुणकों द्वारा बढ़ाया गया था। इस प्रकार, 1 कण को चाप के 1/85वें भाग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो वर्तमान मीट्रिक प्रणाली के अनुसार आकार में लगभग 3 माइक्रोमीटर है। इस प्रकार, दिलचस्प बात यह है कि एक अणु (= 1/8 कण) का आकार मोटे तौर पर दृश्य प्रकाश की तरंग दैर्ध्य के क्रम का होता है। आधुनिक दुनिया में, लंबाई 'मीटर' की इकाई को 1 सेकंड में निर्वात में प्रकाश द्वारा तय की गई दूरी का उपयोग करके मानकीकृत किया जाता है। लेकिन, मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ, स्थापित इकाई प्रणाली धीरे-धीरे गायब हो गई और नई माप प्रणालियों द्वारा प्रतिस्थापित की गई क्योंकि नए साम्राज्य अस्तित्व में आए और समय के साथ बदल गए।

युग जो भी हो, माप की इकाइयाँ हमेशा अच्छी तरह से मानकीकृत और लागू की जाती थीं, जो अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न युगों के दौरान पूरे भारत में निर्मित विभिन्न पुरातात्विक संरचनाओं से स्पष्ट होती है। इतनी सटीक और टिकाऊपन के साथ ऐसी भव्य संरचनाओं का निर्माण बिना किसी उचित और मानकीकृत माप प्रणाली के संभव नहीं है।

उदाहरण के लिए, यह ज्ञात है कि विषुव के दौरान, सूर्य लगभग पांच मिनट के अंतराल पर केरल के तिरुवनंतपुरम में श्री पद्मनाभस्वामी मंदिर की पांच (5) खिड़कियों में से एक (1) से ऊपर की खिड़की से

शुरू होकर नीचे की खिड़की मंदिर की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। यह अविश्वसनीय इंजीनियरिंग चमत्कार मंदिर की खिड़कियों के सटीक निर्माण को दर्शाता है। यह समय, खिड़की के आयाम, जमीन से ऊंचाई और दर्शकों की स्थिति के साथ-साथ सूर्य के संरेखण और सटीक स्थिति को ध्यान में रखता है। ऐसी संरचना को संभव बनाने के लिए कोण और समय के इन मापदंडों को उच्च सटीकता और सटीकता के साथ मापना आवश्यक था। इसी तरह, प्राचीन भारत में धातु विज्ञान, चिकित्सा और खगोल विज्ञान जैसे विभिन्न अन्य क्षेत्रों में वजन और माप प्रणालियों के मजबूत सबूत ऐतिहासिक अवशेषों के माध्यम से दिखाए जाते हैं।

भारत में माप का मानकीकरण

यद्यपि भारत ने ऐतिहासिक काल से एक माप प्रणाली स्थापित की है, यह एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र और साम्राज्य से साम्राज्य में भिन्न होती है। ब्रिटिश भारत की अवधि के दौरान, स्थानीय माप प्रणालियों जैसे रति, मासा, टोला, द्रष्टा आदि पर विचार करके समान इकाइयों और माप प्रणालियों को स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रयास किए गए थे। 1875 में, 18 यूरोपीय देशों और अन्य राज्यों ने इसे एक सामान्य इकाई के रूप में स्वीकार करने के लिए पेरिस में कन्वेंशन डू मीटर पर हस्ताक्षर किए। कॉमन यूनिट सिस्टम (फ्रेंच मैट्रिक सिस्टम) को अपनाने के लिए 20 मई को अब विश्व मेट्रोलॉजी दिवस के रूप में मनाया जाता है। 1939 में, केंद्रीय विधायिका ने पूरे ब्रिटिश भारत पर लागू वज़न के मानक अधिनियम को पारित किया और मिंट मास्टर बॉम्बे की हिरासत में रखे प्लैटिनम-इरिडियम 1b सिलेंडर के संदर्भ में मानक अनाज की स्थापना की। यह अधिनियम 1 जुलाई 1942 से लागू हुआ और 1946 में भारतीय मानक संस्थान (आईएसआई) की स्थापना हुई।

स्वतंत्रता के बाद, 1955 में, भारत ने आधिकारिक तौर पर अंतर्राष्ट्रीय इकाइयों (एसआई) को अपनाया, और राष्ट्रीय प्रोटोटाइप नं। 1957 में संसद के एक अधिनियम द्वारा भारत में सीएसआईआर राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, राष्ट्रीय मेट्रोलॉजी संस्थान (एनएमआई) में प्लैटिनम-इरिडियम से बने 1 किलोग्राम के रूप में लिए गए द्रव्यमान मानक के 57 को संरक्षित किया गया है। मूल प्रोटोटाइप प्रतिलिपि अंतर्राष्ट्रीय ब्यूरो, पेरिस में रखी गई है, और परिभाषा के अनुसार इसे द्रव्यमान की इकाई के रूप में लिया जाता है। अब, सात (7) इकाइयां, अर्थात् लंबाई के लिए मीटर (एम), समय के लिए सेकंड (एस), द्रव्यमान के लिए किलोग्राम (किलोग्राम), तापमान के लिए केल्विन (के), विद्युत प्रवाह के लिए एम्पीयर (ए), मोल (मोल) के लिए पदार्थ की मात्रा, और चमकदार तीव्रता के लिए कैंडेला (सीडी) को बुनियादी मानक इकाइयों के रूप में परिभाषित किया गया है और अन्य सभी इकाइयां इन मूल इकाइयों से ली गई हैं। इकाइयों को परिभाषित करने की जिम्मेदारी वजन और माप की अंतर्राष्ट्रीय समिति (सीआईपीएम) के पास है और इसे वजन और माप (सीजीपीएम) पर सामान्य सम्मेलन के दौरान अपनाया जाता है। इसके बाद, संबंधित देशों के राष्ट्रीय मेट्रोलॉजी संस्थानों (एनएमआई) द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर इकाइयों का एहसास होता है। देश में इन प्राथमिक मूल्य इकाइयों को बनाए रखने के लिए, राष्ट्रीय मानक प्रतियों और प्राथमिक उपकरणों को समय के निश्चित अंतराल पर विभिन्न एनएमआई के साथ मिलान करने की आवश्यकता होती है। प्रोटोटाइप-आधारित इकाई परिभाषा के साथ समस्या यह है कि यह समय के साथ बदलती रहती है और

इसके मूल्यों में त्रुटि/अनिश्चितता का परिचय देती है। इसलिए, मानक इकाइयों के लिए अधिक सटीक और स्थिर मूल्यों को फिर से परिभाषित करने की आवश्यकता महसूस की गई। इसलिए, 2018 में 26वीं सीजीपीएम बैठक के दौरान, चार बुनियादी इकाइयों (द्रव्यमान, एम्पीयर, केल्विन और मोल) की एक नई परिभाषा को सार्वभौमिक भौतिक स्थिरांक के आधार पर स्वीकार किया गया, अर्थात् प्लैंक का स्थिरांक (एच), विद्युत आवेश (ई), बोल्ट्जमैन स्थिरांक (केबी) और अवोगाद्रो स्थिरांक (एनए), और 20 मई 2019 से लागू किया जाएगा।

PDF Page No. 61, Image No. 1
राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली में ट्रेसिबिलिटी पिरामिड

राष्ट्रीय मेट्रोलॉजी संस्थानों (एनएमआइएस) की भूमिका।

प्रत्येक राष्ट्र का अपना राष्ट्रीय मेट्रोलॉजी संस्थान या बस एनएमआई होता है। एनएमआई की जिम्मेदारियां राष्ट्रीय माप मानकों को विकसित करना, अपग्रेड करना और बनाए रखना है और एसआई इकाइयों और अन्य अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सहमत संदर्भों का प्रसार करना यदि मौजूद नहीं है। यह राष्ट्रीय माप मानकों और संबंधित माप दक्षताओं (सीएमसी) की अंतरराष्ट्रीय मान्यता में सहायता करना है। एनएमआई को की तुलना नामक एक मान्यता प्राप्त अंतरराष्ट्रीय प्रयोगशाला तुलना कार्यक्रम के माध्यम से मेट्रोलॉजिकल रूप से मान्य माप डेटा को साझा करके और फिर इसे उपभोक्ता को संप्रेषित करके अपने सीएमसी में सुधार करने के लिए खुद को लगातार तेज / मजबूत करना होगा। एनएमआई सीजीपीएम बैठकों में भाग लेता है और दुनिया के बाकी हिस्सों के समान मानक बनाए रखने के लिए माप की अंतरराष्ट्रीय तुलना करता है। मानकों के संरक्षक होने और उन्हें बनाए रखने के अलावा, एनएमआई मेट्रोलॉजी से संबंधित विभिन्न सेवाएं भी प्रदान करते हैं, जैसे अंशांकन, मानकीकृत संदर्भ सामग्री का उत्पादन और ग्राहकों के भीतर संदर्भ सामग्री को मूल्य प्रदान करना, अन्य। राष्ट्रीय मानकों के संरक्षक होने के अलावा, सीएसआईआर-एनपीएल ने लगभग 239 सीएमसी का अधिग्रहण किया है और विभिन्न मानकों के लिए विभिन्न श्रेणियों में भारतीय संदर्भ सामग्री (बीएनडी) के रूप में जानी जाने वाली 100 से अधिक स्वदेशी मानकीकृत संदर्भ सामग्री का प्रसार किया है। अंतरराष्ट्रीय नेटवर्किंग के माध्यम से प्राप्त गुणवत्ता आश्वासन के मानदंड के रूप में माप की विश्वसनीयता और तुलनीयता सुनिश्चित करने के लिए ये प्राथमिक मानक हैं। सीएसआईआर-एनपीएल द्वारा उत्पादित बीएनडी देश भर में आईएसओ 17034 और 17035 के अनुसार संदर्भ सामग्री निर्माताओं (आरएमपी) के सहयोग से (i) इन-हाउस और (ii) है। इन मानकों को भौतिक यांत्रिक, भौतिक-रासायनिक, भोजन, फ़ीड, जैव चिकित्सा, पर्यावरण, स्वास्थ्य देखभाल, कृषि आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों में अंतरराष्ट्रीय कुंजी तुलना, दक्षता/राउंड-रॉबिन परीक्षण और पायलट अध्ययन के माध्यम से विकसित किया जा रहा है।

एसआई इकाइयों का प्रसार

अब जब इकाइयाँ सभी परिभाषित और स्थापित हो गई हैं, तो सवाल उठता है कि इन इकाइयों का प्रसार कैसे सुनिश्चित किया जाए और इस तरह हितधारकों को सटीक और सटीक माप प्रदान किया जाए। '1 m ' मापने के लिए, एक मीटर रॉड लेता है, '1 L' तरल के लिए, एक मापने वाला सिलेंडर लेता है। लेकिन कैसे सुनिश्चित करें कि '1 m ' या '1 L' बिल्कुल योग्य है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर 'अंशांकन' है।

मापन उपकरण या माप प्रणाली पर किए गए ऑपरेशन के रूप में मापन की अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली में कैलिब्रेशन को परिभाषित किया गया है, जो कुछ शर्तों के तहत: 1) माप मानकों द्वारा प्रदान की गई माप अनिश्चितताओं के साथ मूल्यों और सापेक्ष माप अनिश्चितताओं के साथ संबंधित संकेतों के बीच संबंध स्थापित करता है। और 2) इस जानकारी का उपयोग सिग्नल से माप परिणाम तक संबंध स्थापित करने के लिए करता है। अंशांकन का उद्देश्य माप की इकाइयों में पता लगाने की क्षमता स्थापित करना है। सभी उद्योग और व्यावसायिक घराने, चाहे उनका आकार कुछ भी हो, या तो अपने उपकरण और मशीनों को एनएमआई/राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त प्रयोगशालाओं से कैलिब्रेट करवाते हैं या प्रमाणित कंपनियों से कैलिब्रेटेड उपकरण/उपकरण खरीदते हैं। ट्रैसेबिलिटी की यह श्रृंखला एसआई इकाइयों से एनएमआई और मान्यता प्राप्त प्रयोगशालाओं और वहां से निर्माताओं और अंत में उपभोक्ताओं तक शुरू होती है। यदि इस श्रृंखला का कोई चरण छूट जाता है, तो यह माप के दौरान अनिश्चितता के कारण अंतिम उत्पाद की विश्वसनीयता को नष्ट कर देता है।

प्रत्येक उपकरण या वस्तु को अंशांकन उद्देश्यों के लिए प्रयोगशालाओं में नहीं लाया जा सकता है। तो उसके लिए, ऐसे उपकरण या उपकरणों को कैलिब्रेट करने के लिए मानकीकृत संदर्भ सामग्री का उपयोग किया जाता है। एक प्रमाणित संदर्भ सामग्री को एक या अधिक निर्दिष्ट गुणों के लिए मेट्रोलॉजिकल रूप से मान्य प्रक्रियाओं द्वारा विशेषता एक संदर्भ सामग्री के रूप में परिभाषित किया जाता है, एक प्रमाण पत्र के साथ जो निर्दिष्ट संपत्ति का मूल्य, इसकी संबद्ध त्रुटि और मेट्रोलॉजिकल ट्रैसेबिलिटी का विवरण प्रदान करता है। यदि प्रमाण पत्र में निर्दिष्ट त्रुटि के भीतर उपकरण समान मान देता है, तो उपकरण को अंशांकित माना जाता है, और इस प्रकार मान को सटीक और सटीक दिया जाता है। इस तरह, बड़ी मशीनों से दैनिक जीवन में एसआई इकाइयों के लिए माप ट्रेसबिलिटी बनाए रखी जाती है, जिससे जीवन की गुणवत्ता सुनिश्चित होती है।

वर्तमान युग की आवश्यकता

- पहले भारत विश्व का एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र था, और निस्संदेह, उत्कृष्ट गुणवत्ता के सामान और वास्तुकला, धातु विज्ञान, चिकित्सा, खगोल विज्ञान आदि जैसी तकनीकी सेवाओं की स्थापना करके मेट्रोलॉजी ने इसमें एक प्रमुख भूमिका निभाई। वर्तमान डिजिटल युग में एक लक्ष्य के साथ। 2025-26 तक अर्थव्यवस्था को 5 ट्रिलियन अमरीकी डालर तक ले जाने के लिए, उत्पादों और सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार करने में मेट्रोलॉजी की और भी महत्वपूर्ण भूमिका है। परीक्षण सुविधाओं को स्थापित करने और जमीनी स्तर पर माप मानकों को सख्ती से लागू करने के लिए एक सचेत और विस्तृत प्रयास की आवश्यकता है। नियामक निकायों के बीच तालमेल विकसित करने के लिए

क्यूसीआई, बीआईएस, लीगल मेट्रोलॉजी और अन्य हितधारकों द्वारा पहल करने की आवश्यकता है, जिसका गुणवत्ता प्रणालियों, रोजगार सृजन, आपूर्ति श्रृंखला, अर्थव्यवस्था और देश के समग्र प्रगतिशील विकास पर जबरदस्त प्रभाव पड़ेगा। साथ ही, अंतिम उत्पादों के लिए विभिन्न प्रमाणपत्रों और मानकों के बारे में राष्ट्रव्यापी जागरूकता पैदा करने की आवश्यकता है। इसके अलावा, विनिर्माण प्रौद्योगिकी में अधिक सटीक और सटीक माप पर ध्यान देना होगा जो अंतरराष्ट्रीय मानकों से मेल खाता हो और एसआई इकाइयों के लिए पता लगाने योग्य हो।

लेखक सीएसआईआर-राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली में एमेरिटस साइंटिस्ट हैं

सर आशुतोष मुखर्जी
(29 जून 1864 - 25 मई 1924)

PDF Page No. 63, Image No. 1
"... मुझे आशा है कि विज्ञान महाविद्यालय, हालांकि कलकत्ता विश्वविद्यालय का एक अभिन्न अंग है, इसे एक प्रांतीय नहीं बल्कि एक अखिल भारतीय विज्ञान महाविद्यालय के रूप में माना जाएगा, जिसमें सभी कोनों से छात्र आएंगे। भारतीय साम्राज्य प्रदान की गई शिक्षा की उत्कृष्टता और अनुसंधान के लिए प्रदान की जाने वाली सुविधाओं से आकर्षित था।
- सर आशुतोष मुखर्जी 1914 में कलकत्ता में नए यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस की आधारशिला रखते हुए।